अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणांदित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार जो यज्ञ, दान और तपश्चर्या द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं, वे धूम (धूम के अधिष्ठाता देवता) को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि देवता को, रात्रि से कृष्ण पक्ष (कृष्णपक्ष के अधिष्ठाता देवता)को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन सूर्य वाले छः महीनों को, छः मासों से पितृलोक को एवं पितृलोक से चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं। वहाँ (चन्द्रलोक में) उस अन्न को देवतागण उसी प्रकार ग्रहण (भक्षण) करते हैं, जिस प्रकार ऋत्विक्गण सोम का पान करते हैं, जब उनके (जीवों के) पुण्यफल (कर्मफल) क्षीण हो जाते हैं, तब वे आकाश को प्राप्त करते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथ्वी को अन्नरूप में प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् पुरुष रूपी अग्नि में (उन अन्नों की) आहुति दी जाती है, जिसके द्वारा वे लोकों के उत्थानकर्त्ता होकर स्त्री रूपी अग्नि में प्रकट होते हैं। इस प्रकार (विभिन्न लोकों को बार-बार प्राप्त करते हुए) ये जीव घूमते ही रहते हैं; किन्तु जो इन दोनों (उत्तर-दक्षिण) मार्गों को नहीं जानते, वे कीट, पतङ्ग और दन्दशूक (मच्छर) आदि होते हैं॥ १६॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ संनीय जुहोति-यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳ स्वाहा॥ १॥

जो महत्ता प्राप्त करना चाहता हो, वह आदित्य के उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ में बारह दिन के अन्दर किसी शुभ तिथि में उपसद्व्रती (पयोव्रती) होकर गूलर काष्ठ से निर्मित कटोरे या चमस में सर्वौषधि और फल आदि को एकत्र करके, यज्ञ वेदी का परिसमूहन (सफाई) और उपलेपन (लिपाई) सम्पन्न करे। तदुपरान्त अग्नि स्थापन करे और वेदी के चारों ओर कुश-आसन बिछाकर गृह्यसूत्र में वर्णित पद्धति से घृत को संस्कारित करके, जिसका नाम पुरुष वाची हो, उस नक्षत्र (हस्त, पुष्य आदि नक्षत्र) में मन्थ (औषधियों का मिश्रित रूप) को (स्रुवा) के बीच में रखकर आहुति प्रदान करे। आहुति के साथ इस मन्त्र के माध्यम से प्रार्थना करे- हे जातवेदा (अग्ने)! मनुष्यों की कामनाओं में बाधा डालने वाले

तुममें प्रतिष्ठित जितने तिर्यग् (कुटिल) देवगण हैं, उन सभी देवों को मैं आहुति प्रदान करता हूँ। वे सभी तृप्त होकर मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। इन देवताओं के अतिरिक्त जो तिरश्ची (कुटिल) देवियाँ हैं, उनको भी मैं घृताहुति प्रदान करता हूँ। वे भी मेरी कामनाओं को पूर्ण करें॥ १॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति॥ २॥

(साधक या याजक) 'ज्येष्ठाय स्वाहा', 'श्रेष्ठाय स्वाहा' इन मन्त्रों से यज्ञ में आहुति प्रदान करता हुआ स्रुवा के अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है, 'प्राणाय स्वाहा', 'वसिष्ठायै स्वाहा' इन मन्त्रों से आहुति प्रदान करता हुआ संस्रव (स्रुवा में बचे घृत) को मन्थ में डाल देता है, 'वाचे स्वाहा', 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इन मन्त्रों से अग्नि में हवन करते हुए संस्रव को मन्थ में डाल देता है, 'चक्षुषे स्वाहा', 'सम्पदे स्वाहा' मन्त्र बोलते हुए आहुति करके अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है, 'श्रोत्राय स्वाहा', 'आयतनाय स्वाहा' उच्चारण करते हुए आहुति प्रदान करके बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है, 'मनसे स्वाहा', 'प्रजात्यै स्वाहा' मन्त्रों से आहुति करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है, 'रेतसे स्वाहा' मन्त्र के साथ आहुति देकर अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है॥ २॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति॥ ३॥

'अग्नये स्वाहा' मन्त्र से अग्नि में आहुति प्रदान करता हुआ अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है। सोमाय स्वाहा, भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, भूताय स्वाहा, भविष्यते स्वाहा, विश्वाय स्वाहा, सर्वाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए संस्रव (अवशिष्ट घृत) को मन्थ में डाल देता है॥ ३॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति॥ ४॥

इसके पश्चात् जो मन्थ (मिश्रित द्रव्य) और संस्रव (टपकाया हुआ घृत) पात्र में रखा है, उसे स्पर्श करते हुए 'भ्रमदसि' 'ज्वलदसि' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ कहता है कि आप (प्राणस्वरूप होने के कारण सर्वत्र) भ्रमणशील हैं, (अग्निरूप होने से) जाज्वल्यमान हैं, (ब्रह्मरूप होने से) पूर्ण हैं, (आकाश रूप होने से) स्तब्ध हैं,(सबके मित्र होने के कारण) जगद्रूप एक सभा तुल्य हैं। आप ही हिङ्कृत और हिङ्क्रियमाण हैं। आप ही उद्गीथ और उद्गीयमान हैं। आप ही श्रावित और प्रत्याश्रावित हैं अर्थात् आपको ही अध्वर्यु और आग्नीध्र अभिषुत करते हैं, आप ही मेघ में सम्यक् प्रकार से (विद्युत् रूप में) प्रदीप्त हैं। आप ही विभु (विभिन्न रूपों वाले) और प्रभु (समर्थ) हैं। आप ही अन्न, ज्योति और मृत्यु हैं। आप ही सबके संहारक होने से स्वयं प्रलय स्वरूप हैं॥ ४॥

अथैनमुद्यच्छत्यामꣳ स्यामꣳ हि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स माꣳ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति॥ ५॥

इसके पश्चात् मन्थ को पात्र सहित हाथ से उठाता हुआ- 'आमंसि आमंहि' आदि मन्त्रों का उच्चारण करे। कहे- आप सर्वज्ञ हैं, हम आपकी महिमा को भली-भाँति जानते हैं, आप (प्राण) ही राजा, ईशान और अधिपति हैं, हमें भी आप राजा, ईशान और अधिपति बनाएँ॥ ५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यं मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीर्भूः स्वाहा भर्गो देवस्य धीमहि मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः मधु द्यौरस्तु नः पिता भुवः स्वाहा धियो यो नः प्रयोदयान्मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ ३ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः स्वः स्वाहेति सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति॥ ६॥

इसके बाद उस मन्थ को चार ग्रासों में मन्त्रों के साथ भक्षण करे। पहले 'तत्सवितुर्वरेण्यं' आदि प्रथम मन्त्र का उच्चारण करे, जिसका अर्थ है-सविता के उस वरेण्य (वरण करने योग्य) पद का मैं ध्यान करता हूँ। 'मधुवाता ऋतायते'- वायु मधुर होकर बह रही है। 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' - नदियाँ मधु रस प्रवाहित कर रही हैं। 'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः'- ओषधियाँ हमारे लिए मधुर हों। इसके पश्चात् 'भूःस्वाहा' कहकर मन्थ का प्रथम ग्रास ग्रहण करे। इसके उपरान्त- 'भर्गो देवस्य धीमहि'- हम सविता के पापनाशक दिव्य तेज को धारण करते हैं। 'मधुनक्तमुतोषसो'-रात्रि और दिवस मधुर हों। 'मधुमत्पार्थिवꣳरजः'-पृथिवी के रजकण मधुर हों। 'मधु द्यौरस्तु नः पिता,'-पिता द्युलोक हमारे लिए मधुर हों। इतना बोलकर 'भुवः स्वाहा' मन्त्र के साथ मन्थ का द्वितीय ग्रास ग्रहण करे। तब- 'धियो यो नः प्रचोदयात्'- वे सविता देवता हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें। 'मधु मान्नो वनस्पतिः' वनस्पति हमारे निमित्त (सोम मय) हो। 'मधुमाँ३ अस्तु सूर्यः'- सूर्य हमारे लिए मधुर हो। 'माध्वीर्गावो भवन्तु नः'- गौएँ मधुर दुग्ध प्रदात्री हों। 'स्वः स्वाहा'- उच्चारण करके मन्थ का तृतीय ग्रास भक्षण करे। इसके पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री मन्त्र का

उच्चारण करके फिर - 'अहमेवेदꣳ सर्वं भूयासम्'- 'मैं ही सब कुछ हो जाऊँ' कह कर 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' मन्त्र के साथ (समस्त मन्थ का अवशिष्ट) चौथा ग्रास ग्रहण करे। इसके पश्चात् हस्तप्रक्षालन करके वेदी के पृष्ठ (पश्चिम) भाग में पूर्वाभिमुख होकर शयन करे। फिर प्रातःकाल सूर्योपस्थान करते हुए कहे- आप समस्त दिशाओं रूपी पंखुड़ियों के आश्रय रूप कमल हैं, मैं भी मनुष्यों में कमल तुल्य होऊँ। इसके पश्चात् उसी मार्ग से वापिस लौटकर अग्नि (वेदी) के पश्चिम ओर बैठकर (अगले मन्त्र) वंश को जपे॥ ६॥

तꣳ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ७॥

इस मन्थ प्रक्रिया (विशिष्ट हवन पद्धति) का उपदेश अरुण पुत्र उद्दालक ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य को करते समय कहा था कि इस मन्थ को यदि कोई सिंचन के लिए (पूरी तरह) सूखे वृक्ष पर डाल देगा, तो उसमें से कोपलें फूटकर शाखाएँ निकल आएँगी॥ ७॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ८॥

इस मन्थ का उपदेश वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को करते हुए कहा था- यदि कोई सिंचन के निमित्त सूखे वृक्ष पर भी इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें नये पत्ते व शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगी॥ ८॥

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ९॥

मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य भागवित्ति चूल के प्रति इस मन्थ का उपदेश करते हुए कहा था कि यदि कोई सींचने के लिए ठूँठ वृक्ष पर भी इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें से पत्ते फूट पड़ेंगे और शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगी॥ ९॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ १०॥

भागवित्ति चूल ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण के प्रति उपदेश करते हुए, इस मन्थ के विषय में कहा था- यदि कोई सिंचन के लिए बिल्कुल शुष्क वृक्ष पर इसे (मन्थ को)डालेगा, तो उसमें से पत्ते व शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगे॥ १०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ११॥

जानकि आयस्थूण ने सत्यकाम जाबाल के प्रति इस मन्थ का उपदेश करते समय कहा था- यदि कोई सींचने हेतु सूखे वृक्ष पर इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें कोपलें और शाखाएँ निकल आएँगी॥ ११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतन्नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्॥ १२॥

इस मन्थ का उपदेश सत्यकाम जाबाल ने अपने अन्तेवासी (आश्रमवासी) शिष्यों के प्रति किया था

और कहा था कि यदि कोई सींचने के लिए शुष्क वृक्ष पर भी इसको डाल देगा, तो वह कोपल और शाखाओं से युक्त हो जायेगा। यह मन्थविधि अपुत्र और अशिष्य को नहीं बतलानी चाहिए॥ १२॥

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति॥ १३॥

यह मन्थकर्म चार औदुम्बर काष्ठ के बने पात्रों द्वारा सम्पन्न होता है। ये चार पात्र-स्रुवा, चमस, समिधा उपमन्थनी और इध्म अर्थात् समिधा हैं। इसमें दस प्रकार के ग्रामीण धान्य प्रयुक्त होते हैं। ये धान्य-व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (साँवा), प्रियङ्गु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (एक प्रकार का धान) और खलकुल (कुलथी) हैं। इन सभी को पीसकर मधु और घृत डालकर आहुति दी जाती है॥ १३॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

इस ब्राह्मण में प्राणि-जगत् की आधारभूता प्रजनन प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। यह सृष्टि यज्ञमय है, इसलिए सृष्टिचक्र को गतिशील रखने वाली प्रजनन-प्रक्रिया भी ऋषि की दृष्टि से यज्ञीय कर्मानुशासन का अंग है। इसे इसी भाव से समझा और अपनाया जाना चाहिए-

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः॥ १॥

इन पंचभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस आपः (जल) है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुष्प हैं, पुष्पों का रस (सार) फल हैं, फलों का रस पुरुष है और पुरुष का सार तत्त्व रेतस् (वीर्य) है॥ १॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳ ससृजे ताꣳसृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत्॥ २॥

प्रजापति ने इच्छा की कि इस (पुरुष अथवा) रेतस् के लिए आश्रय तैयार करूँ। उसने स्त्री (नारीत्व) का सृजन किया तथा आधार रूप में उसकी उपासना की। इसीलिए आज भी स्त्री आधार रूप में उपासित है। उस (प्रजापति) ने अपनी ग्रावा (शिलाखण्ड) जैसी सुदृढ़ सामर्थ्य से उस (स्त्री जाति) को परिपूर्ण किया। उस स्थापना से स्त्री के स्त्रीत्व की संसार में प्रतिष्ठा हुई ॥ २॥

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳसुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते॥ ३॥

ऋषि देवमानव उत्पन्न करने वाले प्रजनन यज्ञ के उपादानों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

नारी की जननेन्द्रिय ही यज्ञवेदी है, वहाँ स्थित लोम ही बर्हि (कुश का आसन) है, मध्यभाग का चर्म अधिषवण फलक है, मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है और मुष्क (पार्श्व में स्थित दो मांस पिण्ड) समिधा है। इस प्रकार इस (प्रजनन) यज्ञ का फल वाजपेय यज्ञ के समान होता है। इस प्रकार का ज्ञान रखकर प्रजनन यज्ञ सम्पन्न करने वाला यजमान (पुरुष) स्त्री के पुण्यों को प्राप्त कर लेता है; किन्तु इस प्रकार का ज्ञान न रखकर (भोग बुद्धि से)प्रजनन करने वाले के पुण्यों को स्त्रियाँ प्राप्त कर लेती हैं॥ ३॥

[जो व्यक्ति प्रजनन यज्ञ का महत्त्व समझकर प्रजनन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए निर्धारित मर्यादाओं के अनुसार रतिकर्म में प्रवृत्त होता है, उसे उस यज्ञीय प्रक्रिया की पूर्ति का पुण्य प्राप्त होना स्वाभाविक है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने असंयत कामावेग के कारण रतिक्रिया में प्रवृत्त होता है, तो उसके द्वारा मर्यादा भंग होने के कारण उसका पुण्य क्षीण होता है।]

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लो-कात्प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति॥ ४॥

इस (यज्ञ) विषय के ज्ञाता आरुणि उद्दालक तथा मौद्गल्य और कुमार हारित कहते हैं कि बहुत से ऐसे मरणधर्मा और बुद्धिहीन ब्राह्मण हैं, जो इस प्रजनन यज्ञ को इस (पवित्र) रूप में नहीं जानते। वे निरिन्द्रिय और सुकृतहीन होकर, इस रतिकर्म में आसक्त होकर परलोक (श्रेष्ठलोक) से पतित हो जाते हैं। पत्नी का ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व ही यदि कोई प्राणतत्त्वोपासक दिन अथवा रात्रि में न्यूनाधिक रूप में स्वतः स्खलित हो जाते हैं, तो उन्हें (अगले मंत्र में उल्लिखित) प्रायश्चित्त करना चाहिए॥ ४॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदप इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजःपुनर्भगः पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥ ५॥

उस गिरे हुए (अपने रेतस्) को अभिमन्त्रित करते हुए उसे हाथ से स्पर्श करे और कहे कि आज यह मेरा वीर्य जो पृथिवी पर गिरा है और पूर्व में भी कभी ओषधि तथा जल में गिरा है (अर्थात् पृथिवी, ओषधि और जल को दूषित किया है), उस वीर्य को मैं फिर से धारण करना चाहता हूँ। इस प्रकार कहने के बाद अनामिका और अङ्गुष्ठ से उसे उठाकर वक्षस्थल अथवा दोनों भौहों के बीच में लेप करे और कहे- जो यह मेरी (वीर्यरूप) इन्द्रिय शक्ति बाहर चली गई थी, वह पुनः मेरे पास आ जाए। मुझे पुनः अपना तेजस् और सौभाग्य प्राप्त हो। अग्नि देव एवं अन्य देवगण पुनः मेरे शरीर में उचित स्थान पर इसे प्रतिष्ठित कर दें॥ ५॥

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषां स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत॥

इसके बाद वह प्रायश्चित्त कर्त्ता जल में अपने प्रतिबिम्ब को देखता हुआ उस (जल) को अभिमन्त्रित

करता हुआ कहे कि देवगण मुझे तेजस्, इन्द्रिय, यश, सम्पदा और सत्कर्म प्रदान करें। इसके पश्चात् स्त्री की प्रशंसा करते हुए कहे कि मेरी यह धर्मपत्नी स्त्रियों में लक्ष्मी स्वरूपा है। तब उस मलरहित वसन अथवा धुले वस्त्र के समान पाप रहिता यशस्विनी स्त्री के पास पुरुष स्वयं भी विकार रहित आच्छादन युक्त होकर जाये, अन्यत्र (काम-वासना से किसी अन्य के पास) न जाए॥ ६॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७॥

वह स्त्री (पत्नी) यदि स्वेच्छापूर्वक स्वयं को समर्पित न करे, तो उसकी आकांक्षाएँ पूरी करके (वस्त्र, आभूषण आदि प्रदान करके) प्रेम प्रदर्शित करे। यदि इसके बाद भी वह सहमत न हो, तो दण्ड का भय दिखाकर सहमत करे। (अपना भाव व्यक्त करते हुए) पुरुष यह समझाये कि सहमत न होने से मैं अपने यश और इन्द्रियों से तुम्हारे यश का हरण कर (स्त्री की ओर से अपने ध्यान एवं इन्द्रियों का लगाव हटा) सकता हूँ। इससे स्त्री अयश हुए की तरह (समर्पित) हो जाती है॥ ७॥

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८॥

पत्नी द्वारा पति के प्रति आत्म समर्पण कर दिये जाने पर पति को चाहिए कि उसे आशीर्वाद प्रदान करे और कहे कि मैं अपनी यश स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे अन्दर यश को स्थापित करता हूँ। इस प्रकार वे दोनों यशस्वी ही होते हैं॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे । स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धा-मिव मादयेमाममूं मयीति ॥ ९॥

जब पत्नी सहमत हो जाये, तो उसे अंक में लेकर संयोग के समय यह (अंगात् अंगात् संभवसि आदि) मंत्र जपे अथवा संकल्प करे- हे कामदेव या कामभाव! आप अंग-अंग में संयोग और हृदय (के भावों के साम्य) से प्रकट होते हैं। अतः आप मेरे अङ्गों के साररूप हैं। आप विष बुझे तीर से घायल हरिणी की तरह स्त्री को मदोन्मत्त करके मेरे अधीन बना दें॥ ९॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापा-न्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥ १०॥

यदि पुरुष की यह इच्छा हो कि समागम के समय पत्नी गर्भ धारण न करे, तो वह (पुरुष) पूर्व वर्णित क्रिया करते हुए अभिप्राणन के द्वारा रति क्रिया के समय पहले प्राणन, फिर अपानन क्रिया करे और संकल्प करे, हे स्त्री! मैं अपने रेतस् (ओज या वीर्य) और इन्द्रिय के द्वारा तेरे रेतस् (रज) को ग्रहण करता हूँ। ऐसा करने से स्त्री रज हीन हो जाती है और गर्भ नहीं ठहरता॥ १०॥

[यहाँ प्राणन और अपानन प्रक्रिया क्या है और कैसे की जाती है, यह प्रकरण शोध का विषय है। कुछ आचार्य इसे रतिक्रिया के साथ ऊर्ध्व रेतस् होने के लिए किया गया प्राणायाम कहते हैं।]

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११॥

यदि पुरुष यह आकांक्षा करे कि उसकी पत्नी गर्भ धारण करे, तो पूर्ववत् क्रिया करके पहले अपानन, फिर अभिप्राणन प्रक्रिया सम्पन्न करे। संकल्प करे- 'मैं' अपनी इन्द्रिय के रेतस् (वीर्य या ओज) को तेरे रेतस् में स्थापित करता हूँ। ऐसा करने से गर्भ स्थिर हो ही जाता है॥ ११॥

[गर्भ न ठहरने के क्रम में पहले प्राणन और फिर अपानन तथा गर्भ ठहराने के लिए पहले अपानन, फिर प्राणन क्रिया के निर्देश हैं। इसका अभ्यास संभवतः गुरु करा देते रहे होंगे।]

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद् द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति । स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥ १२॥

यदि किसी को अपनी नारी के प्रति किसी अन्य पुरुष के अवैध सम्बन्ध होने की शंका हो और वह उस पुरुष को दण्ड देना चाहे, तो कच्चे मिट्टी के पात्र में अग्नि रखे और उसमें उल्टी तरफ तिर्यक् (तिरछे) सरकंडों का बर्हिष् बिछाये, इसके पश्चात् बाणों के आकार की सींकें घृत में भिगोकर चार आहुतियाँ प्रदान करे। प्रत्येक आहुति देते समय उसका नाम लेकर कहे-हे दुष्ट पुरुष! तुमने मेरी जलती हुई अग्नि में आहुति दी है, अतः मैं तेरे प्राण और अपान को खींचता हूँ। मैं तेरे पुत्र, पशु, पुण्य, आशा और पराकाशा (प्रत्याशा) को भी ग्रहण करता हूँ। इस अभिचार कृत्य को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण जिस (परस्त्रीगामी) को शाप देता है, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह पुण्य हीन होकर परलोकवासी हो जाता है। अतः किसी ब्रह्मनिष्ठ (की पत्नी) के प्रति इस प्रकार का निकृष्ट (परस्त्री गमन का) भाव कभी मन में भी नहीं लाना चाहिए॥१२॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कꣳसेन पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥ १३॥

जब स्त्री रजस्वला हो अर्थात् जब ऋतुकाल प्राप्त हो, तब उसे तीन दिन तक काँसे के पात्र में नहीं खाना चाहिए। चतुर्थ दिन स्नान के पश्चात् साफ-सुथरा और ऐसा वस्त्र धारण करना चाहिए, जो फटा न हो। उस स्त्री को कोई धर्महीन पुरुष (अथवा स्त्री) स्पर्श न करे। तीन रात्रियाँ बीत जाने पर उस स्त्री को धान कूटने (जैसे श्रम वाले काम) में लगाया जाना उचित है॥ १३॥

[रजस्वला काल में स्त्री को अधिक शीत-उष्ण तथा श्रम से बचना चाहिए, ताकि मासिक परिशोधन क्रम में काय-ऊर्जा भली प्रकार लग सके। आहार - विहार का संयम भी बरता जाता है। तीन दिन बाद पुनः सामान्य जीवन क्रम प्रारंभ किया जाना उचित है।]

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४॥

जो दम्पती यह चाहते हों कि उन्हें गौरवर्ण, एक वेद के ज्ञाता और शतायु पुत्र की प्राप्ति हो, वे दूध और चावल की खीर पकाकर उसमें घृत मिला कर सेवन करें। इससे वे वैसे पुत्र को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं॥ १४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५॥

जिनकी यह आकांक्षा हो कि वे पिङ्गल वर्ण, दो वेदों के ज्ञाता और शतायु पुत्र की प्राप्ति करें, वे (दम्पती) दही में चावल का मिश्रण करके पकाएँ और उसमें घी मिश्रित करके खायें, इससे वे उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न पुत्र प्राप्ति में समर्थ होते हैं॥ १५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६॥

जिन्हें श्याम वर्ण, अरुण नेत्र और तीन वेदों के ज्ञाता पुत्र की अपेक्षा हो, वे दम्पती जल में चावल मिलाकर भात (ओदन) पकाएँ और उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इससे वे उपर्युक्त गुणों वाले पुत्र प्राप्त करने में सक्षम होते हैं॥ १६॥

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १७॥

जिन्हें विदुषी और पूर्णायुष्य वाली पुत्री की कामना हो, वे दम्पती तिल और चावल की खिचड़ी बनाकर उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इससे वे उपर्युक्त गुणसम्पन्न पुत्री की प्राप्ति में समर्थ हो जाते हैं॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माꣳ सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥ १८॥

जिनकी यह इच्छा हो कि मेरा पुत्र प्रख्यात विद्वान्, विद्वानों की सभा में सम्मान पाने वाला कुशल वक्ता , प्रियभाषी और सभी वेदों का ज्ञाता और शतायु हो, वे दम्पती उक्षा या ऋषभ नामक ओषधि के गूदे और चावल का भात (खिचड़ी) पकाकर उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इस क्रिया से वे उपर्युक्त गुण सम्पन्न पुत्र प्राप्ति में सक्षम होते हैं॥ १८॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहानुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति॥ १९॥

इसके पश्चात् चौथे दिन प्रातः (पत्नी द्वारा कूटे हुए चावल से) स्थाली पाक पद्धति से घृत को संस्कारित करके, इन मन्त्रों के साथ आहुतियाँ प्रदान करे- अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा। तत्पश्चात् 'स्विष्टकृत् होमः' के अनन्तर अवशिष्ट चरु को पहले स्वयं ग्रहण करे और बाद में (बचा हुआ) पत्नी को खिला दे। फिर जल से पूरित पात्र को लेकर उस जल से तीन बार पत्नी का अभिषेक करे। अभिषेक करते हुए कहे- हे विश्वपोषक! सुयोग्य पुत्र की कामना करने वाली यह स्त्री, हर्ष युक्त होकर पति के साथ संयोजित हो॥ १९॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति॥ २०॥

इसके बाद इच्छित सन्तान के अनुरूप (विधान-वाली) खीर पत्नी को खिलाने के बाद शयनकाल आ जाने पर पत्नी का आलिङ्गन करता हुआ कहे- हे देवी! मैं प्राण हूँ और तुम वाक् हो, मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो; मैं द्यौ हूँ और तुम पृथिवी हो; अतः आओ हम दोनों पुत्र रूपी धन प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करें॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ॥ २१॥

तत्पश्चात् स्त्री के ऊरुद्वय को पृथक् करके गर्भाधान कृत्य में दोनों (पति-पत्नी) के नियोजित हो जाने पर पुरुष कहे-हे प्रिये! सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तुम्हारे गर्भाशय को समर्थ बनाएँ, जिससे तुम श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दे सको। भगवान् त्वष्टा (भावी सन्तति के) अङ्गों को पुष्ट और सुन्दर बनाएँ। भगवान् प्रजापति मुझमें स्थित होकर तुम्हारे अन्दर वीर्याधान करें। भगवान् धाता तुम्हारे अन्दर गर्भ धारण करें और उसे पोषित करें। हे देवि! तुम स्वयं सिनीवाली हो, अतः गर्भधारण करो, गर्भ धारण करो। अश्विद्वय स्वयं मेरे अन्दर स्थित होकर अपने रश्मि रूपी कमलों की माला को धारण कर तुम्हारे अन्दर गर्भाधान करें॥ २१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति॥ २२॥

दो ज्योतिर्मयी अरणियों से अश्विनीकुमारों ने मन्थन किया था। उस मन्थन से अमृतस्वरूप गर्भ (अग्नि) का प्राकट्य हुआ था। उसी प्रकार हे देवि! उस अमृत स्वरूप गर्भ को हम तेरे अन्दर स्थापित करते हैं, जिससे तुम दशम मास में इसे उत्पन्न कर सको। जिस प्रकार पृथ्वी अग्नि को गर्भरूप में धारण किए हैं, द्यौ इन्द्र को धारण किये हैं, दिशाएँ वायु को धारण किये हैं, उसी प्रकार हे देवि! तुझमें पुत्र रूप गर्भ प्रतिष्ठित करता हूँ॥ २२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वायुः पुष्करिणीꣳसमिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳसहेति॥ २३॥

प्रसवकाल में गर्भिणी स्त्री का अभिमन्त्रित जल से सिंचन करे और कहे-जिस प्रकार वायु पोखरी (सरोवर) के जल को चञ्चल कर देता है, उसी प्रकार हे देवि! तेरा भी यह गर्भ चञ्चल हो जाए और जरायु सहित बहिर्गमन करे। जीव का यह पथ जरायुयुक्त और अवरोध रहित है। हे जीवात्मन्! तुम गर्भ आवरण सहित बाहर निकलो॥ २३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसंद्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा ।यत्कर्मणात्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति॥ २४॥

यहाँ जात कर्म संस्कार का वर्णन प्रस्तुत हुआ है-

उत्पन्न होने के पश्चात् शिशु को गोद में लेकर अग्नि स्थापन करके दही मिला घी काँसे के कटोरे में रखे और उस पदार्थ के कई भाग करके '**अस्मिन्-सहस्रम् .....स्वाहा**' आदि मंत्रों से आहुतियाँ प्रदान करे। मन्त्र का भाव यह है- मैं इस घर में पुत्र रूप समृद्धि को प्राप्त हुआ हूँ। मैं सहस्रों मनुष्यों का पोषक होऊँ। इसी प्रकार इस पुत्र के घर में भी कभी सन्तति, सम्पत्ति और पशुओं की कमी न हो। मैं अपने प्राणों को तुझमें मानसिक रूप से होम करता हूँ। इस (यज्ञादि-कर्म) में मैंने जो कुछ अधिक अथवा कम किया है, विद्वान् अग्निदेव स्विष्टकृत् होकर हमारे उस कर्म को न्यून और अधिक के दोष से मुक्त करके स्विष्ट और सुहुत करें॥ २४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधिमधुघृतꣳ संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति॥ २५॥

स्विष्टकृत् होम के पश्चात् पिता शिशु के दाहिने कान को अपनी ओर करके उसमें तीन बार 'वाक्, वाक्, वाक्'कहे। इसके बाद घी, दही और मधु मिला कर उसे स्वर्ण निर्मित चम्मच में लेकर शिशु को चटाए। चटाते समय कहे कि मैं तुझे भूः, भुवः और स्वः में प्रतिष्ठित करता हूँ॥ २५॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६॥

इसके बाद उस शिशु का नामकरण करे। तुम 'वेद' हो- यह कहे, वेद ही उस बालक का गुह्य नाम होता है॥ २६॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥ २७॥

तत्पश्चात् शिशु को माता की गोद में दे और उसे स्तन पिलाने के लिए कहे। स्तन पिलाते समय ये मन्त्र (यस्ते स्तनः) पढ़े-(भाव यह है) हे देवि सरस्वती! आपका स्तन इस शिशु के लिए अक्षय दुग्ध का भण्डार है, जो पोषण प्रदान करने वाला है। यह रत्नों की खान, सम्पत्ति प्रदाता और कल्याणकारी है। जिससे आप समस्त वरण करने योग्य पदार्थों को पोषण प्रदान करती हैं। ऐसे स्तन को आप इस बालक को पिलाएँ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भव यास्मान् वीरवतोऽकरदिति। तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति॥ २८॥

इसके पश्चात् शिशु की माता को 'इलासि' आदि मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित करे। कहे- हे देवि! तुम स्तुत्य मैत्रावरुणी हो। तुमने वीर पुत्र को उत्पन्न किया है और हमें वीर बालक का पिता बनाया है, इसलिए तुम वीरवती होओ। इस शिशु को देखकर जन सामान्य कहे कि यह अपने पिता और पितामह से भी श्रेष्ठ हुआ है, यह लक्ष्मी, यश और ब्रह्मवर्चस को प्राप्त कर प्रगति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। जिस ब्राह्मण के यहाँ इस प्रकार का विद्वान् पुत्र जन्म लेता है (वह भी इसी प्रकार स्तुति करने योग्य होता है।) ॥ २८ ॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ वꣳशः पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥ १ ॥ आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥२ ॥ याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेःकुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान्बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुल्कानि यजुꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥ ३ ॥

अब (ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की) वंशावली का वर्णन किया जाता है। पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी सुत से, कात्यायनी सुत ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी के पुत्र से, पाराशरी सुत ने औपस्वस्ती सुत से, औपस्वस्ती सुत ने पाराशरी पुत्र से , पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी के पुत्र से, कौशिकी के पुत्र ने आलम्बी तनय और वैयाघ्रपदी तनय से , वैयाघ्रपदी तनय ने काण्वी पुत्र तथा कापी पुत्र से शिक्षा प्राप्त की। कापी पुत्र ने आत्रेयी सुत से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी सुत से, गौतमी सुत ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सी

के पुत्र से, वात्सी सुत ने पाराशरी सुत से, पाराशरी सुत ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, आर्तभागी तनय ने शौङ्गी सुत से, शौङ्गी सुत ने सांकृती पुत्र से, सांकृती पुत्र ने आलम्बायनी के पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी के पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती के पुत्र से, जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूकायनी तनय ने माण्डूकी तनय से, माण्डूकी तनय ने शाण्डिली पुत्र से, शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी के पुत्र से, राथीतरी पुत्र ने भालुकी सुत से, भालुकी सुत ने दो क्रौञ्चिकी सुतों से, दोनों क्रौञ्चिकी सुतों ने वैदभृती पुत्र से, वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से, कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीन योगी पुत्र से, प्राचीन योगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, साञ्जीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नी पुत्र से, प्राश्नीपुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से ज्ञान प्राप्त किया। आसुरि ने याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से , कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, जिह्वावान् बाध्योग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने नैध्रुवि कश्यप से, नैध्रुविकश्यप ने वाक् से, वाक् ने अम्भिणी से, अम्भिणी ने आदित्य से शिक्षा प्राप्त की। आदित्य द्वारा प्रदत्त शुक्ल यजुर्वेद की श्रुतियाँ ही वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसारित की गई हैं॥ १-३॥

समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ४॥

साञ्जीवी पुत्र तक एक ही वंश है। (इसके पश्चात्) साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनि से, माण्डूकायनि ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुर कावषेय से, तुर कावषेय ने प्रजापति से, प्रजापति ने ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त किया। ब्रह्म तो स्वयंभू है। उस स्वयंभू ब्रह्म को नमन है॥ ४॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदःपूर्णमिदं .....इति शान्तिः ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मन्त्रिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। उपनिषद्कार कहते हैं कि यह जीवात्मा स्वयं को परमात्मा का अंश अनुभव करता हुआ भी उसे सहज रूप में देख नहीं पाता। जब देहासक्ति तथा देहाभिमान रूपी अंधकार छँटता है, तभी उसे देख पाना सम्भव होता है। सामान्य रूप से लोग अविनाशी और अविचल माया का ही ध्यान करते हैं, उसमें संव्याप्त हंस रूप उस परमात्मा का अनुभव करना आवश्यक है। उसी को व्यक्त-अव्यक्त, द्वैत-अद्वैत, सूक्ष्म एवं विराट् रूपों में गाया गया है। सभी मंत्रों का रहस्य वही ब्रह्म है। ऋषि ने उसे ब्रह्मचारी, स्तंभ की तरह अडिग, संसार रूप में फलित होने वाला तथा विश्व शकट को खींचने वाला कहा है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य - ईशावास्योपनिषद्)

ॐ अष्टपादं शुचिं हंसं त्रिसूत्रमणुमव्ययम्।
त्रिवर्त्मानं तेजसोऽहं सर्वतःपश्यन्न पश्यति॥ १ ॥

आठ चरणों वाले, पवित्र स्वरूप, हंस (परमात्मा) रूप, त्रिसूत्र (व्यष्टि, समष्टि, तदुभय) रूप, अतिसूक्ष्म, अव्यय और देदीप्यमान उस परमात्म चेतना को हम (भक्ति, ज्ञान, कर्म) तीन मार्गों से सर्वत्र अनुभव करते हैं; परन्तु देख नहीं पाते॥ १ ॥

भूतसंमोहने काले भिन्ने तमसि वैखरे। अन्तः पश्यन्ति सत्त्वस्था निर्गुणं गुणगह्वरे॥

यद्यपि वह परमात्म चेतना निर्गुण है, तो भी वह गुण रूपी गुहा में समाया हुआ है। सामान्य पुरुष मोहादि से सम्मोहित अवस्थाजन्य अन्धकार में निमग्न रहते हैं; परन्तु सात्त्विक गुणों में अवस्थित रहने वाले पुरुष उसे अपने अन्तःकरण में देखते हैं॥ २ ॥

अशक्यः सोऽन्यथा द्रष्टुं ध्यायमानः कुमारकैः ।
विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम्॥ ३ ॥

अन्य किसी प्रकार से भी ध्यान किया जाए, तो भी उस परमात्म चेतना को अज्ञानी पुरुष नहीं देख सकते, क्योंकि जगत् में विकारों को जन्म देने वाली, अज्ञान रूप वाली, आठरूप वाली (पंचभूत, मन, बुद्धि, अहंकार), अजन्मा (प्रकृति रूप) माया का प्रभाव अविचल रहता है॥ ३ ॥

ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत्॥

ध्यान (चिन्तन) के द्वारा ही उस माया के ज्ञान की प्राप्ति होती है। उसी (माया) के द्वारा यह (आध्यात्मिक-जीव) विस्तार को प्राप्त होता है और (बन्धन से मुक्त होने के लिए) प्रेरित होता है। वस्तुतः पुरुष जो (आध्यात्मिक) पुरुषार्थ करता है, उसी पुरुषार्थ के द्वारा यह जगत् अधिष्ठित है॥ ४ ॥

गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः॥ ५ ॥

यह गौरूपी माया उत्पत्ति और प्रलय से युक्त है, सबकी सहायिका है, प्राणि-मात्र की पोषिका है। यह श्वेत, कृष्ण और रक्तवर्णा (सत्, रज, तम) है तथा सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली है॥ ५ ॥

पिबन्त्येनामविषयामविज्ञातां कुमारकाः ।
एकस्तु पिबते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगः॥ ६ ॥

सभी जीव (कुमार) इस माया रूपी गौ के पय का दोहन करते हैं; परन्तु वह परम पुरुष इस माया के विषयों से भिन्न और अविज्ञात है, वह स्वयं स्वच्छन्द रहकर, सभी प्राणियों को वश में रखकर अकेला ही (सम्पूर्ण प्राणियों में-आत्म रूप में) माया का पयःपान (निर्लिप्त रहकर) करता है॥ ६॥

ध्यानक्रियाभ्यां भगवान्भुङ्क्तेऽसौ प्रसहद्विभुः ।
सर्वसाधारणीं दोग्ध्रीं पीयमानां तु यज्वभिः॥ ७॥

सर्व साधारण द्वारा दुही जाती और याज्ञिकों द्वारा यजन की जाती हुई इस माया रूपी गौ का वह भगवान् (ऐश्वर्यशाली) ध्यान (चिन्तन) और क्रिया (यौगिक क्रिया) द्वारा उपभोग करता है और उसे अत्यन्त व्यापक बनाता जाता है॥ ७॥

पश्यन्त्यस्यां महात्मानः सुवर्णं पिप्पलाशनम्।
उदासीनं ध्रुवं हंसं स्नातकाध्वर्यवो जगुः ॥ ८॥

महात्मा पुरुष सु-रूप (वर्ण) वाले इस जगत् रूप पीपल का फल खाते हैं और इस जगत् की माया में उस उदासीन परम पुरुष और परमहंस को ही देखते हैं। सभी स्नातक और अध्वर्युगण उसी का गान करते हैं॥ ८॥

शंसन्तमनुशंसन्ति बह्वृचाः शास्त्रकोविदाः । रथन्तरं बृहत्साम सप्तवैधैस्तु गीयते॥

शास्त्रज्ञ जन ऋचाओं के माध्यम से तथा स्तोता जन (स्तुतियों के द्वारा) उसी परम पुरुष की स्तुति करते हैं और उसी के लिए रथन्तर संज्ञक तथा बृहत्साम का सप्तविध गान करते हैं॥ ९॥

मन्त्रोपनिषदं ब्रह्म पदक्रमसमन्वितम्। पठन्ति भार्गवा ह्येते ह्यथर्वाणो भृगूत्तमाः ॥

मन्त्रों का रहस्य ही ब्रह्म है, उसी को भृगुवंशी श्रेष्ठ 'भार्गव' लोग अथर्ववेदीय पद और क्रम के अनुसार पढ़ते हैं॥ १०॥

सब्रह्मचारिवृत्तिश्च स्तम्भोऽथ फलितस्तथा।
अनड्वान्रोहितोच्छिष्टः पश्यन्तो बहुविस्तरम्॥ ११॥

यह परम-पुरुष ब्रह्मचारी वृत्ति वाला, स्तम्भ के सदृश अटल, जगत् रूप में फलयुक्त, जगत् रूप शकट का वाहक, रजोगुण से रहित, सत्त्वगुण सम्पन्न तथा अत्यन्त व्यापक रूप में दिखाई देने वाला है॥ ११॥

कालः प्राणश्च भगवान्मृत्युः शर्वो महेश्वरः ।
उग्रो भवश्च रुद्रश्च ससुरः सासुरस्तथा ॥ १२॥

(षडैश्वर्य सम्पन्न) यह परमपुरुष भगवान् कालरूप, प्राणरूप, मृत्युरूप, शर्वरूप, महेश्वररूप, भवरूप, रुद्ररूप, उग्ररूप, ससुर (देवयुक्त) तथा सासुर (असुरयुक्त) भी हैं॥ १२॥

प्रजापतिर्विराट् चैव पुरुषः सलिलमेव च । स्तूयते मन्त्रसंस्तुस्यैरथर्वविदितैर्विभुः॥

वह परमदेव, प्रजापति, विराट् पुरुष और जलादि देवताओं के रूप में सबके लिए स्तुति करने योग्य है। अथर्ववेद द्वारा उसके व्यापक रूप का परिज्ञान होता है॥ १३॥

तं षड्विंशक इत्येते सप्तविंशं तथापरे । पुरुषं निर्गुणं सांख्यमथर्वशिरसो विदुः॥

कोई उसे छब्बीसवाँ तत्त्व कहते हैं, कोई सत्ताईसवाँ तत्त्व कहते हैं। अथर्वशिर (उपनिषद्)के ज्ञाता उसे निर्गुण सांख्यपुरुष कहते हैं॥ १४॥

चतुर्विंशतिसंख्यातं व्यक्तमव्यक्तमेव च। अद्वैतं द्वैतमित्याहुस्त्रिधा तं पञ्चधा तथा ॥

कोई उसे चौबीस संख्यक तत्त्वों वाला (सांख्य दर्शन), कोई उसे व्यक्त (जगत्) और कोई अव्यक्त (प्रकृति) मानते हैं। कोई उसे द्वैत (जीव-ब्रह्म) और कोई अद्वैत (ब्रह्म) मानते हैं। इसी प्रकार कोई उसे तीन रूपों (ब्रह्मा, विष्णु , महेश) वाला और कोई पाँच रूपों वाला (ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गौरी और गणेश) मानते हैं॥ १५॥

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।
तमेकमेव पश्यन्ति परिशुभ्रं विभुं द्विजाः ॥ १६॥

अनेक ज्ञान-दृष्टि सम्पन्न विद्वान् ब्रह्म (सबसे बड़ा तथा चैतन्य रूप) से लेकर जड़-पदार्थों तक में एक ही अतिशुभ्र (शुद्ध) व्यापक सर्वोच्च सत्ता को व्याप्त हुआ अनुभव करते हैं॥ १६॥

यस्मिन्सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम्।
तस्मिन्नेव लयं यान्ति स्त्रवन्त्यः सागरे यथा ॥ १७॥

यह सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् उस ब्रह्म में ही समाया हुआ है। जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् भी उस ब्रह्म में ही लय को प्राप्त होता है॥ १७॥

यस्मिन्भावाः प्रलीयन्ते लीनाश्चाव्यक्ततां ययुः ।
पश्यन्ति व्यक्ततां भूयो जायन्ते बुद्बुदा इव ॥ १८॥

जिस प्रकार पानी का बुल-बुला पानी से उत्पन्न होता है और पानी में ही लय हो जाता है; उसी प्रकार जिसमें सम्पूर्ण जीव-पदार्थ जन्म लेते हैं तथा जिसमें लय होकर अदृश्य हो जाते हैं, उसी को ज्ञानीजन ब्रह्म कहते हैं॥ १८॥

क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चैव कारणैर्विद्यते पुनः ।
एवं स भगवान्देवं पश्यन्त्यन्ये पुनःपुनः॥ १९॥

वह 'क्षेत्रज्ञ' रूप में सम्पूर्ण प्राणियों में अधिष्ठित होता है और वह कार्य के पीछे (समस्त) कारणों को जानने वाला होता है। ऐसे उस परम पुरुष को विद्वान् साधक बार-बार देखते हैं॥ १९॥

ब्रह्म ब्रह्मेत्यथायान्ति ये विदुर्ब्राह्मणास्तथा।
अत्रैव ते लयं यान्ति लीनाश्चाव्यक्तशालिनः॥
लीनाश्चाव्यक्तशालिन इत्युपनिषत् ॥ २०॥

जो विद्वान् (ब्रह्मवेत्ता) उस ब्रह्म को जानते हैं, वे उसी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उसी में लय होकर वे अव्यक्त रूप से सुशोभित होते हैं, यह सुनिश्चित है। यही उपनिषद् (रहस्य) है॥ २०॥

॥ शान्तिपाठः ॥

॥ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं..... इति शान्तिः ॥

॥ इति मन्त्रिकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ माण्डूक्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद के अन्तर्गत है। इसमें 'ॐकार' को अक्षर ब्रह्म परमात्मा का श्रेष्ठ सम्बोधन सिद्ध करते हुए उसके विभिन्न चरणों एवं मात्राओं का विवेचन किया गया है। अ, उ, म् तीन मात्राओं तथा वैश्वानर, तैजस एवं प्राज्ञ इन तीन चरणों के साथ मात्रा रहित चौथे चरण निर्विशेष का उल्लेख किया गया है। अव्यक्त परमात्मा के व्यक्त विराट् जगत् स्वरूप का भी वर्णन है। विश्व उसका स्थान है, सात लोक उसके सात अंग तथा इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि उसके मुख कहे गये हैं। परमात्मा के निराकार-साकार दोनों स्वरूपों की उपासना का मार्ग इससे प्रशस्त होता है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा.....। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ..... इति शान्तिः ॥

(द्रष्टव्य- प्रश्नोपनिषद्)

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर-अविनाशी (ब्रह्म का प्रतीक) है, उसकी महिमा को प्रकट करने वाला यह विश्व - ब्रह्माण्ड है । भूत, भविष्यत् और वर्तमान-तीन कालों वाला यह संसार भी ॐकार ही है और तीन कालों से अन्य जो भी तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है ॥ १ ॥

सर्वꣳह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥ २ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म रूप ही है, यह आत्मा भी ब्रह्मरूप ही है। वह (ब्रह्म) और यह (आत्मा) चार चरण वाला स्थूल या प्रत्यक्ष, सूक्ष्म, कारण एवं अव्यक्त रूपों में प्रभावी है॥ २ ॥

अगले मंत्रों में चारों चरणों के स्थान और गुण-धर्मों को व्यक्त किया गया है-

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

प्रथम चरण स्थूल-वैश्वानर (प्रकट विश्व का संचालक)है, जो जाग्रत् स्थान में रहने वाला, बहिष्प्रज्ञ (बाहर बोध कराने वाला), तथा सात अंगों (सप्तलोकों या सप्त किरणों से युक्त), उन्नीस मुखों (दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा अन्तःकरण चतुष्टय) वाला तथा स्थूल का भोक्ता है॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

स्वप्न के सदृश अव्यक्त विश्व जिसका अधिष्ठान (स्थान) है, जिसके द्वारा अदृश्य लोक का ज्ञान अन्तःचक्षुओं से होता है, जो सूक्ष्म विषयों (वासनादि) का भोक्ता है और ज्योतिर्मय है, वही तेजस् (ब्रह्म या आत्मा का) द्वितीय चरण है॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

जिस अवस्था में प्रसुप्त मनुष्य किसी भोग की कामना नहीं करता और न ही स्वप्न देखता है, ऐसी सुषुप्तावस्था में जो एकाग्र वृत्ति वाला, प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप और आनन्द रूप ही है एवं जो एकमात्र आनन्द का ही भोक्ता है, जिसका मुख तेजोमय चैतन्य रूप है, वह 'प्राज्ञ' ही ब्रह्म का तृतीय चरण है ॥ ५ ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

वह ब्रह्म ही सबका ईश्वर है, वह सर्वज्ञ अन्तर्यामी और सम्पूर्ण जगत् का कारण भूत है। वही सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण है ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

जो अन्तः अथवा बाह्य प्रज्ञा वाला नहीं है, जो दोनों ओर की प्रज्ञा वाला नहीं है, जो प्रकृष्ट ज्ञानपुञ्ज नहीं है, न ज्ञान रूप है, न अज्ञान ही है, जो ज्ञानेन्द्रियगम्य नहीं है, जो कर्मेन्द्रियगम्य भी नहीं है, जो क्रिया रहित है, जो प्रतीकों से भिन्न है, जो चिन्तन की सीमा से परे तथा कथन की सीमा से भी परे है, जो एकमात्र अनुभवगम्य है, जो सम्पूर्ण प्रपञ्चों का लय स्थान है, जो शान्तस्वरूप, कल्याणरूप और अद्वैतरूप है, वही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है, वही आत्मा (या परमात्मा) है, वही जानने योग्य है ॥ ७ ॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

वह (ब्रह्म) और यह (आत्मा) अक्षर ॐकार रूप ही है । यह ॐकार मात्राओं में सन्निहित है। इसकी मात्राएँ ही इसके चरण हैं और इसके चरण ही इसकी मात्राएँ हैं। ये मात्राएँ अकार, उकार और मकार हैं ॥ ८ ॥

[इस मंत्र में वर्णित ब्रह्म या आत्मा की मात्राएँ अनेक अर्थों में प्रकट होती हैं, ॐ में तीन मात्राएँ - अ,उ,म् हैं। विश्व त्रि आयामी (थ्री डाइमेंशनल) है। सापेक्षवाद (थ्योरी आफ रिलेटिविटी) के अनुसार समय (टाइम), आयतन (स्पेस) तथा भार (मॉस) यह तीन आयाम हैं। समय में भी भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीन मात्राएँ हैं। आयतन में लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई यह तीन आयाम हैं। गुण रूप में भी सत्, रज, तम हैं। इस प्रकार यह ब्रह्म तीन मात्राओं में व्यक्त है, यह कथन प्रमाणित होता है।]

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वा आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

जाग्रत् स्थान वाला वैश्वानर व्याप्त होने और आदि तत्त्व होने के कारण ॐकार का प्रथम चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ज्ञानी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता हुआ सबमें वरिष्ठता पाता है ॥९ ॥

[सारे कौशल तथा स्थूल पुरुषार्थ वैश्वानर के अन्तर्गत आते हैं। उसे पाकर सब प्रकार की कामनाएँ पूर्ण होती हैं।]

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

स्वप्न स्थान वाला तेजस् श्रेष्ठ होने और द्विभाव में रहने से ॐकार का द्वितीय चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला पुरुष ज्ञान का उत्कर्ष करता हुआ समान भाव में निमग्न रहता है। उसके कुल में ब्रह्म को न जानने वाला कोई नहीं रहता॥ १०॥

[तेजस् के अन्तर्गत सभी प्रकार के ज्ञान की धाराएँ आती हैं। उसे पाकर व्यक्ति ज्ञान की उच्चतम अवस्था तक पहुँच जाता है।]

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११॥

सुषुप्ति स्थान वाला प्राज्ञ विश्व का मापक (विश्व की परिसीमा) और प्रलय करने वाला होने से ॐ कार का तृतीय चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ज्ञानी सम्पूर्ण विश्व का यथार्थ स्वरूप जानता हुआ इन सबको स्वयं में लय करने वाला होता है॥ ११॥

[प्राज्ञ कारणसत्ता चेतना का ज्ञाता होता है। उस स्थिति में एक ही चेतन सर्वत्र सक्रिय दिखाई देता है। सभी को बीजरूप में स्वयं में अनुभव किया जा सकता है।]

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥ १२॥

मात्रा रहित ॐकार क्रिया से रहित है। जगत् के प्रपंचों का शमन करने वाला,कल्याणकारी एवं अद्वैत रूप है, यही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है। जो इस प्रकार का ज्ञान रखता है, वह आत्मज्ञानी ज्ञान के द्वारा आत्मा को परब्रह्म में प्रविष्ट कराता है॥ १२॥

[इस चरण में साधक निर्विकल्पक-अद्वैत बोध में पहुँच जाता है।]

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा....। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मुण्डकोपनिषद् ॥

यह अथर्ववेद की शौनकीय शाखा की उपनिषद् है, जिसमें तीन मुण्डक हैं तथा प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। 'मुण्डक' शब्द का तात्पर्यार्थ 'मन का मुण्डन कर अविद्या से मुक्त करने वाला ज्ञान' है। इसमें महर्षि अङ्गिरा ने शौनक जी को परा-अपरा विद्या समझायी है। प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड में ब्रह्मविद्या की परम्परा के बाद ऋषि संवाद के रूप में परा-अपरा विद्या का विवेचन है एवं परा विद्या से ब्रह्मबोध तथा परमेश्वर से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है। दूसरे खण्ड में अपरा विद्या, यज्ञ और उसके फल, भोगों से विरक्ति तथा ब्रह्मबोध के लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरु तथा अधिकारी शिष्य के सम्मिलन की आवश्यकता बतायी गयी है। द्वितीय मुण्डक में अग्नि की चिनगारियों की तरह ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति एवं लय का वर्णन करते हुए ॐ कार रूपी धनुष एवं आत्मा रूपी बाण से परमात्मा का लक्ष्यवेध, ब्रह्म का स्वरूप एवं ब्रह्म प्राप्ति का महत्त्व है। तृतीय मुण्डक में शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षियों के उदाहरण सहित अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्म प्राप्ति तथा ब्रह्मवेत्ता की गति तथा महत्ता का वर्णन है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- प्रश्नोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमं मुण्डकम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ १॥

देव ब्रह्मा सभी देवों में प्रथम उत्पन्न हुए। वे विश्व का निर्माण करने वाले हैं और चौदह भुवनों के रक्षक हैं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूता 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश दिया॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥ २॥

अथर्वा को देव ब्रह्मा ने जिस ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया था, अथर्वा ने वह विद्या अङ्गिर् (अंगी मुनि) को प्रदान की । अङ्गिर् ने उसका उपदेश भरद्वाज पुत्र सत्यवाह को दिया। सत्यवाह ने वही विद्या अङ्गिरस् को प्रदान की॥ २॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥ ३॥

प्रसिद्ध सद्गृहस्थ शौनक ने अङ्गिरस् के पास शिक्षार्थी के रूप में विधिपूर्वक जाकर पूछा-हे भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है॥ ३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥

अङ्गिरस् ऋषि ने शौनक को उत्तर दिया-ब्रह्मवेत्ताओं ने ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत दो विद्याएँ जानने योग्य बतायी हैं- एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या॥ ४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

जिसमें ऋग्, यजुष्, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् का ज्ञान होता है-वह अपरा विद्या है तथा जिसमें उस अक्षर 'ब्रह्म' (ॐकार) का ज्ञान होता है, वह परा विद्या है ॥५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥

वह जो देखा न जा सके, न पकड़ा जा सके, जिसका कोई गोत्र नहीं, कोई वर्ण नहीं, जिसे चक्षु और श्रोत्र की आवश्यकता नहीं, जिसे हाथ और पैरों की आवश्यकता नहीं, जो सदैव नित्य, व्यापक, सर्वत्र व्याप्त और अत्यन्त सूक्ष्म है, जो क्षयरहित अथवा अनश्वर है, जो सम्पूर्ण भूतों का कारणभूत है, उस परब्रह्म को विवेकीजन सर्वत्र देखते हैं॥ ६॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥ ७॥

मकड़ी जैसे अपने पेट से जाले को उत्पन्न करती और अपने भीतर ही निगल लेती है,पृथ्वी जैसे विभिन्न प्रकार की ओषधियाँ उत्पन्न करती है, मनुष्य शरीर से जैसे केश और लोम (रोयें) उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अनश्वर ब्रह्म से ही यह विश्व उत्पन्न होता है॥ ७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ ८॥

तप के द्वारा ब्रह्म बढ़ता है (बीज रूप को प्राप्त होता है)। उससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण, उससे मन, उससे सत्य (पञ्चभूत), उससे लोक और मनुष्यादि, उनसे कर्म और कर्म से अमृतरूप फल प्राप्त होता है॥ ८॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ ९॥

जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, उसका तप भी ज्ञान युक्त होता है। उसी परब्रह्म से इस ब्रह्माण्ड में नाम,रूप और अन्न उत्पन्न होता है॥ ९॥

[परब्रह्म कायारहित है, इसलिए उसके द्वारा किया हुआ तप लौकिक प्रचलन के आधार पर नहीं समझा जा सकता। वह अविरल-शान्त, अगम स्थिति में संकल्प पूर्वक जो हलचल उत्पन्न करता है, वही उसका तप है।]

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके॥ १॥

सूक्ष्मदर्शी ज्ञानियों ने वेदमन्त्रों में जिन कर्मों का दर्शन किया, त्रेतायुग में उन्हीं का विविध प्रकार से विस्तार हुआ। हे सत्य की कामना से युक्त पुरुषो! अपने कर्मों का श्रेष्ठ फल प्राप्त करने के लिए इस जगत् में यही मार्ग है कि आप सब नित्य ही श्रेष्ठ आचरण करें ॥ १ ॥

यदा लेलायते ह्यर्चिःसमिद्धे हव्यवाहने
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीःप्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम्॥ २॥

देवताओं तक हव्य पहुँचाने वाले अग्नि के प्रदीप्त होने पर समिधाओं के बीच से जब ज्वालाएँ धधक उठें, उस समय आज्य भाग आहुतियों के बीच में श्रद्धापूर्वक क्रमशः आहुतियाँ प्रदान करें॥ २ ॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३॥

जिसका अग्निहोत्र दर्श (अमावस्या)-पौर्णमास (पूर्णमासी) से रहित, चातुर्मास्य सम्बन्धी यज्ञ तथा आग्रयण (शरद् ऋतु में निर्दिष्ट यज्ञ) से रहित,अतिथि पूजन से रहित, यथा समय किये जाने वाले यज्ञ तथा बलिवैश्व से रहित एवं विधि रहित है, ऐसा अग्निहोत्री अपने सात जन्मों के पुण्य का विनाश करता है॥ ३ ॥

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥ ४॥

काली, कराली (अत्यन्त तीक्ष्ण), मनोजवा (मन के समान चञ्चल), लाल वर्ण वाली, धूम्र वर्ण वाली, चिनगारी वाली तथा देदीप्यमान विश्वरुची ये अग्नि की सप्त जिह्वाएँ हैं॥ ४॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ ५॥

जो पुरुष इन देदीप्यमान अग्नि ज्वालाओं में यथासमय आहुतियाँ देता हुआ अग्निहोत्र कृत्य सम्पन्न करता है, उसे वे आहुतियाँ ही सूर्य रश्मियों के साथ देवाधिपति इन्द्रदेव के पास(स्वर्ग में) ले जाती हैं ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ ६॥

वे आहुतियाँ यजमान का सत्कार करती हुई उसे सूर्यरश्मियों के साथ ले जाती हुई कहती हैं कि आओ-आओ, यह आपके शुभ कर्मों के पुण्य(फल) से प्राप्त हुआ ब्रह्मलोक है॥ ६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ ७॥

ये यज्ञरूप अग्निहोत्रादि कर्म जिनमें अट्ठारह ऋत्विज् (१६ ऋत्विज्,यजमान और यजमान पत्नी) कहे जाते हैं। सकाम कर्म के आदेश में आने से अस्थिर एवं नाशवान् बताये गये हैं। जो मूढ़ लोग 'यही श्रेय है' कहकर इनकी प्रशंसा करते हैं, वे बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं॥ ७॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ८॥

अविद्याग्रस्त रहते हुए भी अपने को बड़ा बुद्धिमान् तथा बड़ा पण्डित समझने वाले वे मूढ़ लोग अन्धे के नेतृत्व में चलने वाले अन्धों के समान भटकते और अनेक कष्ट सहन करते हैं॥ ८॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥ ९॥

अज्ञानी पुरुष अविद्या में अनेक प्रकार से फँसकर 'हम कृतार्थ हो गये हैं', ऐसा मानते हुए अभिमान करते हैं; क्योंकि सकाम कर्म करने वाले कर्मफल में आसक्त होने से तत्त्वज्ञान नहीं समझते, अतः वे दुःखों से व्याकुल होते और कर्मफल क्षीण होने पर स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं॥ ९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥ १०॥

इष्ट और पूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानते हुए वे महामूढ़ किसी अन्य को श्रेयस्कर नहीं जानते हैं। सकाम कर्म के फल को वे स्वर्ग से भी उच्च अनुभव करते हैं; परन्तु वे इस लोक या उससे भी निम्न लोक में प्रवेश करते हैं॥ १०॥

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ ११॥

जो वन में निवास करते हुए , तपः साधना करते हुए , श्रद्धायुक्त जीवन जीते हुए और भिक्षाटन करते हुए संतोषी जीवन जीते हैं , वे मल-विक्षेपों से रहित होकर सूर्यद्वार (उत्तरायण मार्ग) से वहाँ जाते हैं, जहाँ अमर और अविनाशी ब्रह्म का परम धाम है॥ ११॥

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १२॥

कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों (की असारता) को जानकर ब्राह्मण (ब्रह्मविद्या के अधिकारी) वैराग्य को प्राप्त हो; क्योंकि केवल किये हुए (सकाम) कर्म से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः उस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को हाथ में समिधा लेकर वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १३॥

वह ज्ञानवान् गुरु पास में आये हुए उस पूर्णतया शान्तचित्त एवं जितेन्द्रिय शिष्यरूप जिज्ञासु को तत्त्वतः ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, जिससे शिष्य को सत्यस्वरूप अविनाशी ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान हो सके॥१३॥

॥ द्वितीयं मुण्डकम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ १॥

वह(ब्रह्म और)यह(जगत्)सत्य है,जैसे प्रदीप्त अग्नि के समान सहस्रों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं,वैसे ही हे प्रिय! उस ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव प्रकट होते हैं और उसमें ही विलीन भी हो जाते हैं॥१॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ २॥

वह प्रकाशमान , अमूर्तरूप ब्रह्म अन्दर-बाहर सर्वत्र विद्यमान है। वह अजन्मा, प्राणरहित, मनरहित एवं उज्ज्वल है और अविनाशी आत्मा से भी उत्कृष्ट है ॥ २॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ३॥

इसी अविनाशी ब्रह्म से प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी से आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है॥ ३॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ ४॥

अग्नि जिस (ब्रह्म) का मस्तक है, सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं, दिशाएँ अथवा सुविस्तृत वेदवाणियाँ जिसके कर्ण हैं, वायु जिसका प्राण है, सम्पूर्ण विश्व जिसका हृदय है, पृथ्वी जिसके पैरों की उत्पत्ति है, निश्चय ही वह ब्रह्म सम्पूर्ण प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में प्रतिष्ठित है॥ ४॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः॥ ५॥

उस विराट् पुरुष से ही वह अग्नि उत्पन्न हुआ है, सूर्य जिसकी समिधा रूप है। (उस आकाशस्थ अग्नि से निष्पन्न) सोम से पर्जन्य और पर्जन्य से पृथ्वी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों से पुरुष में वीर्य उत्पन्न होता है, पुरुष द्वारा उस वीर्य के सिंचन से पुरुष से ही समस्त प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं॥ ५॥

तस्मादृचः साम यजूꣳषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥ ६॥

उसी विराट् पुरुष से ऋचाएँ, साममन्त्र, यजुः, दीक्षा, सम्पूर्ण यज्ञ, समस्त कर्म तथा दक्षिणाएँ प्रकट हुईं। संवत्सर, यजमान, सब लोक (मनुष्यादि) उसी से उत्पन्न हुए। उसी के द्वारा वे लोक भी उत्पन्न हुए, जहाँ चन्द्रमा पवित्रकारक रश्मियाँ बिखेरता तथा सूर्य ऊर्जा पहुँचाता है॥ ६॥

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयाꣳसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७॥

उस विराट् पुरुष से ही विविध देवता, साध्यगण (देव विशेष), मनुष्यगण, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, धान, जौ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि (यम-नियमादि) सब उत्पन्न हुए हैं॥ ७॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८॥

उस पुरुष से ही सात प्राण (दो नेत्र,दो श्रवण, दो घ्राण, एक जिह्वा) उत्पन्न हुए। उसी से अग्नि की सात ज्वालाएँ, सात समिधाएँ (सात विषय), सात यज्ञ उत्पन्न हुए। उसी से ये सात लोक प्रकट हुए, जिनमें सात प्राण विचरते हैं। प्रत्येक प्राणीरूप गुहा में आश्रित-सन्निहित ये सात-सात पदार्थ उसी से प्रकट होते हैं॥ ८॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ ९॥

उस पुरुष से ही समस्त समुद्र और सभी पर्वत एवं विभिन्न रूपों वाली नदियाँ उत्पन्न हुई हैं । उसी से सम्पूर्ण ओषधियाँ और रस की उत्पत्ति हुई। वही पुरुष सभी प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में प्रतिष्ठित है ॥ ९॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥ १०॥

हे सोम्य! यह सम्पूर्ण जगत्, कर्म और तप सभी परब्रह्म रूप है। वह परम तत्त्व अमृतरूप है। जो पुरुष उस ब्रह्म को सभी प्राणियों की हृदय गुहा में अधिष्ठित जानता है , वह इस जगत् में अविद्या ग्रन्थि को खोल देता है॥ १०॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

आविःसंनिहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च
यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ १॥

यह (ब्रह्म)प्रकाशमान, सबमें व्याप्त, हृदय गुहा में विचरणशील तथा महान् पद वाला है। इस ब्रह्म में चलने वाले, श्वास लेने वाले, पलक झपकने वाले सब प्राणी समाविष्ट होते हैं। जो सत्- असत् रूप, वरणीय, वरिष्ठ और जीवात्माओं की बुद्धि से परे है, उस ब्रह्म को जानो॥ १॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥ २॥

जो देदीप्यमान है, जो अणु से भी अतिसूक्ष्म अणु है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक और उनके निवासी स्थित हैं, वही यह अविनाशी ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और वही मन भी है। वही सत्यरूप और अमृतरूप है। हे सोम्य! मनन द्वारा उसका वेधन करना चाहिए, अतः उसका वेधन करें॥ २॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥ ३॥

उपनिषद् रूप महाअस्त्र धनुष लेकर उस पर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाएँ और उसे खींचकर भावों से भरे चित्त से उस अविनाशी ब्रह्म का लक्ष्यवेधन करें॥ ३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ ४॥

प्रणव ॐकार धनुष है, अन्तरात्मा बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्यवेध माना गया है। उसे आलस्य-प्रमाद रहित मनुष्य ही वेध सकता है। बाण से लक्ष्य वेधकर एकाग्रतापूर्वक उसमें तन्मय हो जाना चाहिए ॥ ४॥

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥ ५॥

जिस विराट् पुरुष में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तथा सम्पूर्ण प्राणों के साथ मन अधिष्ठित है, उस

एक आत्मा को ही जानें, उससे भिन्न अन्य विषयों को सर्वथा छोड़ दें, यही अमृतरूप ब्रह्म प्राप्ति का सेतु (साधन) है॥ ५॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ ६॥

रथ चक्र की नाभि में जिस प्रकार अरे लगे होते हैं और जिस प्रकार शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियाँ हृदय में एकत्र होती हैं, उसी प्रकार विभिन्न रूपों में सञ्चरित होने वाला वह परब्रह्म हृदय के मध्य स्थित होता है। उस परमेश्वर का ॐ के उच्चारण द्वारा ध्यान करना चाहिए। अज्ञान-अन्धकार से पार जाने के लिए यह आवश्यक है, इस प्रकार आपका कल्याण हो॥ ६॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥ ७॥

जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी महिमा इस भूलोक में व्याप्त है, वही ब्रह्म (दिव्य ब्रह्मपुर) आकाश (हृदय गुहा) में प्रतिष्ठित है। जो मनोमय कोश से युक्त है, जो शरीर एवं प्राणों का संचालक है, जो अन्नमय कोश (अथवा स्थूल शरीर) में हृदय कमल के आश्रय से अधिष्ठित है, वह आनन्दस्वरूप, अमृतरूप परमेश्वर सर्वत्र देदीप्यमान है, उसे विवेकी पुरुष विशिष्ट अनुभवों (या ज्ञान) के आधार पर चारों ओर देखते हैं॥ ७॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ८॥

उस परब्रह्म को तत्त्वतः जान लेने पर मनुष्य की हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके सम्पूर्ण (प्रारब्ध) कर्म भी क्षीण हो जाते हैं॥ ८॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥ ९॥

प्रकाशमय सूक्ष्म कोश में निर्मल और कलारहित ब्रह्म विद्यमान है। वह शुभ्र और ज्योतिर्मय सम्पूर्ण पदार्थों का ज्योतिस्वरूप है, आत्मज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म को जानते हैं॥ ९॥

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १०॥

वहाँ (उस ब्रह्मलोक में) न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा अथवा तारे। वहाँ ये बिजलियाँ भी प्रकाशित नहीं होतीं, फिर यह अग्नि कहाँ से प्रकाशित हो सकता है? उस एक (ब्रह्म) के ही प्रकाशित होने पर सब कुछ प्रकाशित होता है, उसका ही प्रकाश इन सबमें चमकता है॥ १०॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ ११॥

वह ब्रह्म अमृतरूप ज्ञान ही है, ब्रह्म ही आगे और वही पीछे है, ब्रह्म ही बायीं और दायीं ओर है तथा ब्रह्म ही नीचे और ऊपर विस्तृत है। यह सम्पूर्ण जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है॥ ११॥

॥ तृतीयं मुण्डकम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ १ ॥

साथ-साथ रहने तथा सख्यभाव वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के पिप्पल (कर्मफल) का स्वाद लेता है और दूसरा अनशन (निराहार) पूर्वक केवल देखता रहता है॥ १ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ २ ॥

समान वृक्ष (देह) पर निवास करने वाला जीवात्मा मोह में डूबा हुआ असमर्थ होकर शोक-संतप्त रहता है। जब वह योगियों से सेवित परमात्मा की महिमा का बोध प्राप्त करता है,तब मुक्त हो जाता है॥ २ ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ ३ ॥

जब वह जीव द्रष्टारूप, प्रकाशमान, परमपुरुष, विश्व के उत्पत्तिकर्त्ता, ब्रह्मा के रचयिता को देखता है, तब वह विद्वान् पाप-पुण्य को त्याग कर निर्मल और श्रेष्ठ साम्यरूप को प्राप्त हो जाता है॥ ३ ॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥ ४॥

यह ब्रह्म ही सब प्राणियों के अन्दर प्राण रूप में प्रकाशित हो रहा है, जो विद्वान् इसे जानता है, वह अहंकारोक्ति नहीं करता। वह आत्मा में क्रीड़ा करने वाला और आत्मा में रमण करने वाला पुरुष जगत् में कर्म करते हुए ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठता को प्राप्त होता है॥ ४ ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ ५॥

आत्मारूप उस ब्रह्म की प्राप्ति सत्यभाषण, तपश्चर्या, सम्यग्ज्ञान, ब्रह्मचर्य आदि निश्चित व्रतों से होती है। वह शुभ्र (उज्ज्वल) ज्योतिष्मान् ब्रह्म शरीर के अन्दर अधिष्ठित रहता है, उसे वही योगी देख पाते हैं जो स्वयं को दोषों से मुक्त कर लेते हैं॥ ५ ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ ६ ॥

सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। सत्य से ही देवयान मार्ग परिपूर्ण है। इसके द्वारा कामनारहित ऋषिगण उस पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ सत्य के श्रेष्ठ भण्डाररूप परमात्मा का निवास है॥ ६ ॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥ ७॥

वह ब्रह्म (परमात्मा) अत्यन्त महान् और दिव्य है। वह सहज चिंतन की सीमा से भी परे है। वह

सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में प्रकाशित होता है। वह अत्यन्त दूर से भी अतिदूर है तथा निकट से निकटस्थ भी है। वह सूक्ष्म द्रष्टाओं की दृष्टि में प्रत्येक प्राणी के अन्दर हृदयगुहा में प्रतिष्ठित है॥ ७॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ ८॥

वह ब्रह्म (अथवा आत्मा) न नेत्रों से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से ग्रहणीय है, वह तप से अथवा कर्मों से भी ग्रहणीय नहीं है। ज्ञान प्रसाद से ज्ञानी शुद्ध अन्तःकरण वाला होता है, तब वह ध्यान के द्वारा कलारहित परमात्मा को देखता है॥ ८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ ९॥

वह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जानने योग्य है, जिसमें देह से सम्बद्ध पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है। इन्हीं प्राणों से सम्पूर्ण प्रजाओं का मन भी व्याप्त है, जिसके शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा प्रकाशित होने लगता है॥ ९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥ १०॥

निर्मल अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी जिस-जिस लोक का मन से चिन्तन करता है, जिन कामनाओं को चाहता है, वह उस-उस लोक को और उन कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, अतः ऐश्वर्यादि की इच्छा करने वाला मनुष्य आत्मज्ञानी का अर्चन करे॥ १०॥

[यहाँ एक महत्त्वपूर्ण मर्म प्रकट किया गया है। लौकिक कामनाग्रस्त मनुष्य तमाम पुरुषार्थ करके इच्छित वस्तुओं का संग्रह करने के बाद जो सुख अनुभव करता है, निर्मल अन्तःकरण वाले को वह सुखानुभूति संकल्प मात्र से हो जाती है। इसलिए ऐश्वर्य संग्रह पूर्वक सन्तोष खोजने वालों के लिए भी यही उचित है कि वे आत्मज्ञानी को श्रेष्ठ मानकर उनका अनुगमन करें।]

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥ १॥

आत्मज्ञानी साधक उस निर्मल और ज्योतिर्मय ब्रह्म के परमधाम को जान लेता है, जिसमें यह सम्पूर्ण विश्व समाहित है। जो साधक निष्काम भाव से परमेश्वर की उपासना करते हैं, वे विवेकी पुरुष इस शरीर के जन्म-चक्र (देह के बन्धन) को लाँघ जाते हैं॥ १॥

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ २॥

जो कामनाओं को मन में रखते हुए उनकी पूर्ति चाहता है, वह उनकी पूर्ति के कारण वहाँ-वहाँ उत्पन्न होता रहता है। परन्तु जो कामनाओं से पूर्णतया तुष्ट हो चुके हैं, उस कृतार्थ हुए पुरुष की सभी कामनाएँ इस शरीर में (शरीर के साथ ही) विलीन हो जाती हैं॥ २॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥ ३॥

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होता है, न मेधा (विशिष्ट बुद्धि) से अथवा बहुत श्रवण करने से ही प्राप्त होता है। जो पुरुष केवल उस आत्मा की प्राप्ति की इच्छा करता है, उसी (इच्छा) से वह प्राप्त होता है। उसी साधक के लिए यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है॥ ३॥

[लौकिक ज्ञान प्राप्त करने की विधियों से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता । लौकिक ज्ञान पदार्थ की तरह हैं , जिन्हें पुरुषार्थ पूर्वक हस्तगत किया जा सकता है। आत्मज्ञान चेतना युक्त है, वह साधक की पात्रता देखकर स्वयं ही अपने स्वरूप को उद्घाटित करता है।]

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ ४॥

यह आत्मा न तो बलहीन पुरुष को प्राप्त होता है,न प्रमादयुक्त व्यक्ति को और न ही तत्त्वरहित (ज्ञान रहित) तपश्चर्या से वह प्राप्त होता है। जो ज्ञानी पुरुष इन उपायों से (ज्ञानयुक्त तप से) यत्न करता है, उसे यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट करा देता है॥ ४॥

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ ५॥

कामना से रहित विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषिगण ज्ञान से तृप्त होकर परम शान्त रहते हुए उस परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। वे विवेकी पुरुष उस सर्वव्यापी, सर्वरूप परमेश्वर को सर्वत्र प्राप्त कर उसमें समाहित होकर उसी में ही प्रवेश कर जाते हैं॥ ५॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ६॥

जिन्होंने वेदान्तविषयक विशिष्ट ज्ञान के द्वारा परमात्मा को निश्चयपूर्वक जान लिया है और जो वैराग्य तथा योग के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण को प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे साधक शरीर छोड़कर ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होते हैं। वे सब ओर से मुक्त होकर श्रेष्ठ अमरत्व को प्राप्त करते हैं॥ ६॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ ७॥

पन्द्रह कलाएँ और इन्द्रियाँ अपने-अपने अभिमानी देवताओं में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। सम्पूर्ण कर्म और ज्ञान से परिपूर्ण जीवात्मा श्रेष्ठ, अविनाशी परब्रह्म में एकीभूत हो जाता है॥ ७॥

[प्रश्नोपनिषद् ६.४ में पन्द्रह कलाएँ-आकाश आदि पञ्चभूत, अन्न,वीर्य,इन्द्रिय,मन, श्रद्धा,तप,मन्त्र,कर्म लोक एवं नाम वर्णित हैं। यदि स्वयं उस ब्रह्म में समर्पित होना हो,तो पहले अपनी कलाओं-विभूतियों का अभिमान त्याग करे, उन्हें प्रभु को समर्पित कर दे; तभी स्वयं जीवात्मा को परमात्मा में समर्पित करना सम्भव होता है।]

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ८॥

जिस प्रकार प्रवहमान नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं,वैसे ही ज्ञानी पुरुष नाम रूप से विमुक्त होकर उत्तमोत्तम दिव्य पुरुष को समर्पित हो जाते हैं॥ ८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ ९॥

जो विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है। उसके कुल में कोई ज्ञान से रहित नहीं होता। वह पापों से पार होकर शोक-संतापों से भी पार हो जाता है। हृदय ग्रन्थियों (आन्तरिक विकारों) से विमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त होता है॥ ९॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्-क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ १०॥

यही बात (ब्रह्मविद्या के विषय में) ऋचा में कही गयी है-

जो निष्काम भाव से कर्म करने वाले, वेद-शास्त्रों के ज्ञाता, ब्रह्म के उपासक और एकर्षि नामक अग्नि में स्वयं श्रद्धापूर्वक हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक सर्वश्रेष्ठ व्रत का पालन किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिए॥ १०॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ ११॥

उस ब्रह्म के इस सत्य को प्रथम अङ्गिरा ऋषि ने प्रकट किया था। जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया, वह इसे नहीं जान सकता। उन ब्रह्मज्ञानी पुरुषों को बारम्बार नमस्कार है॥ ११॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम.....। स्वस्ति नऽइन्द्रो वृद्धश्रवाः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ मुद्गलोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् में ४ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में यजुर्वेदोक्त पुरुष सूक्त के १६ मन्त्रों के भावों-रहस्यों को खोलने के लिए संकेत किए गये हैं। दूसरे खण्ड में भगवान् द्वारा शरणागत इन्द्र को दिए गये उपदेशान्तर्गत पुरुष सूक्त के दो (अव्यक्त पुरुष और व्यक्त पुरुष) से सम्बन्धित खण्डों का वर्णन है। इसी में उसके अनिरुद्ध (प्रकट) पुरुष द्वारा ब्रह्माजी को अपनी काया को हव्य मानकर व्यक्त पुरुष रूप अग्नि में हवन करने का निर्देश एवं फल कहा गया है। तीसरे खण्ड में विभिन्न योनियों के साधकों द्वारा विभिन्न रूपों में उस पुरुष की उपासना किए जाने तथा उस पुरुष को जानने का फल वर्णित है। चौथे खण्ड में उक्त पुरुष की विलक्षणता तथा उसके प्रकट होने के विभिन्न घटकों का वर्णन करते हुए साधना द्वारा पुरुष रूप ही हो जाने का कथन है। अंत में इस गुह्य ज्ञान को प्रकट करने के अनुशासन को स्पष्ट किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

वाङ्मे मनसि.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य -ऐतरेयोपनिषद्)

ॐ पुरुषसूक्तार्थनिर्णयं व्याख्यास्यामः। पुरुषसंहितायां पुरुषसूक्तार्थः संग्रहेण प्रोच्यते।

'पुरुष सूक्त' द्वारा मान्य अर्थ-निर्णय की व्याख्या करता हूँ- (इसका विवेचन करते हुए भगवान् वासुदेव ने देवराज इन्द्र से कहा था।) पुरुष संहिता में इस सूक्त का अर्थ संक्षिप्त रूप से कहा जा रहा है-

सहस्त्रशीर्षेत्यत्र सशब्दोऽनन्तवाचकः । अनन्तयोजनं प्राह दशाङ्गुलवचस्तथा ॥ १ ॥

'पुरुष सूक्त' में प्रयुक्त 'सहस्त्र' शब्द अनन्त का बोध कराता है। इसी प्रकार यह 'दशाङ्गुलम्' पद भी अनन्त योजनों (दूरी) की सूचना प्रदान करता है ॥ १ ॥

[यहाँ प्रयुक्त 'सशब्दो' के स्थान पर 'सहस्त्रो' पाठ भी उपलब्ध होता है, जो अधिक समीचीन है।]

तस्य प्रथमया विष्णोर्देशतो व्याप्तिरीरिता।
द्वितीयया चास्य विष्णोः कालतो व्याप्तिरुच्यते ॥ २ ॥

'पुरुष सूक्त' के इस प्रथम मन्त्र 'सहस्त्रशीर्षा०' में भगवान् विष्णु की सर्वव्यापी विभुता का विशद वर्णन किया गया है। पुरुष सूक्त का द्वितीय मन्त्र (पुरुषऽएवेदं०) इन्हीं लोकनायक विष्णु की शाश्वत व्याप्ति का संकेत करता है। वे सर्व-कालव्यापी हैं। हर समय विद्यमान रहते हैं ॥ २ ॥

विष्णोर्मोक्षप्रदत्वं च कथितं तु तृतीयया ।
एतावानिति मन्त्रेण वैभवं कथितं हरेः ॥ ३ ॥

'पुरुषसूक्त' का तृतीय मन्त्र उन विराट् पुरुष भगवान् विष्णु को मोक्ष प्रदान करने वाला बतलाता है। 'एतावानस्य०' इस तृतीय मन्त्र में भगवान् श्री हरि के वैभव का -उनकी सामर्थ्य का विस्तार से वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः ।
त्रिपादित्यनया प्रोक्तमनिरुद्धस्य वैभवम् ॥ ४ ॥

तीन मन्त्रों के इस समूह में भगवान् के चतुर्व्यूह से सम्बन्धित स्वरूप का उल्लेख है। 'त्रिपाद्०' इस चतुर्थ मंत्र में चतुर्व्यूह के अनिरुद्ध स्वरूप का विस्तृत वैभव वर्णित किया गया है॥ ४॥

तस्माद्विराडित्यनया पादनारायणाद्धरेः ।
प्रकृतेः पुरुषस्यापि समुत्पत्तिः प्रदर्शिता ॥ ५॥

'पुरुष सूक्त' के इस पञ्चम मंत्र 'तस्माद्विराड्०' में पाद विभूति रूप भगवान् नारायण द्वारा श्री हरि की आश्रयभूता प्रकृति (माया) और पुरुष (जीव) का प्राकट्य दर्शाया गया है॥ ५॥

यत्पुरुषेणेत्यनया सृष्टियज्ञः समीरितः।
सप्तास्यासन्परिधयः समिधश्च समीरिताः॥ ६॥

इसी सूक्त के 'यत्पुरुषेण०' मन्त्र के द्वारा सृष्टि स्वरूप यज्ञ का प्रतिपादन किया गया है एवं 'सप्तास्यासन् परिधयः०' द्वारा उस सृष्टि रूप यज्ञ कार्य में प्रयुक्त समिधा का विवेचन किया गया है॥ ६॥

तं यज्ञमिति मन्त्रेण सृष्टियज्ञः समीरितः।
अनेनैव च मन्त्रेण मोक्षश्च समुदीरितः॥ ७॥

यही सृष्टियज्ञ इसी सूक्त के अगले मन्त्र 'तं यज्ञम्०' के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। साथ ही मोक्ष का वर्णन भी इसी मन्त्र के द्वारा किया गया है॥ ७॥

तस्मादिति च मन्त्रेण जगत्सृष्टिः समीरिता ।
वेदाहमिति मन्त्राभ्यां वैभवं कथितं हरेः॥ ८॥

'पुरुष सूक्त' के 'तस्माद्०' आदि सात मन्त्रों द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। 'वेदाहम्०' इत्यादि दो मन्त्रों के द्वारा भगवान् श्री हरि के वैभव (कीर्ति) का विशेष वर्णन प्राप्त होता है॥ ८॥

यज्ञेनेत्युपसंहारः सृष्टेर्मोक्षस्य चेरितः ।
य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति ॥ ९॥

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त०' मन्त्र के द्वारा सृष्टि एवं मोक्ष का उपसंहारात्मक वर्णन किया गया है। इस भाँति जो भी 'पुरुष सूक्त' को ज्ञान के द्वारा आत्मसात् करता है, वह अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

अथ तथा मुद्गलोपनिषदि पुरुषसूक्तस्य वैभवं विस्तरेण प्रतिपादितम् । वासुदेव इन्द्राय भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्मश्रवणाय प्रणतायेन्द्राय परमरहस्यभूतं पुरुषसूक्ताभ्यां खण्डद्वयाभ्यामुपादिशत्॥ १॥

इस प्रकार मुद्गलोपनिषद् (के प्रथम खण्ड के) द्वारा 'पुरुषसूक्त' के जिस विशिष्ट वैभव का प्रतिपादन हुआ है, उस विशेष भगवद्ज्ञान का उपदेश भगवान् श्री वासुदेव ने इन्द्र को प्रदान किया था। उस सूक्ष्म तत्त्वज्ञान को पुनः श्रवण करने के लिए इन्द्रदेव नतमस्तक होकर भगवान् वासुदेव की शरण में

उपस्थित हुए। भगवान् ने उस परम कल्याणकारी रहस्य का ज्ञान पुरुषसूक्त के दो खण्डों में इन्द्रदेव को प्रदान किया॥ १॥

द्वौ खण्डावुच्येते । योऽयमुक्तः स पुरुषो नामरूपज्ञानागोचरं संसारिणामतिदुर्ज्ञेयं विषयं विहाय क्लेशादिभिः संक्लिष्टदेवादिजिहीर्षया सहस्त्रकलावयवकल्याणं दृष्टमात्रेण मोक्षदं वेषमाददे । तेन वेषेण भूम्यादिलोकं व्याप्यानन्तयोजनमत्यतिष्ठत्॥ २॥

'पुरुष सूक्त' के दो खण्ड निर्धारित किये गये हैं। इस सूक्त में जिस विराट् पुरुष का उल्लेख किया गया है, वह नाम-रूप एवं ज्ञान से परे होने के कारण विश्व के समस्त जीवों (प्राणियों) के लिए अगम्य है। अतः अपने इस अगम्य रूप को त्याग कर क्लेशादि में पड़े हुए देवादि विशिष्ट प्राणियों के उद्धार एवं समस्त जीवों के कल्याण की इच्छा से उन्होंने अनन्त कलाओं वाले रूप को धारण किया। यह रूप दर्शन मात्र से ही मोक्ष प्रदान करने वाला है। उसी रूप (वेष) से पृथिवी आदि लोकों में व्याप्त होकर उन्होंने अपना विस्तार अनन्त योजनों तक कर लिया॥ २॥

पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चासीत्। स च सर्वस्मान्महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान्॥ ३॥

सृष्टि रचना के पहले पूर्ण पुरुष भगवान् श्रीनारायण ही भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन कालों के रूप में विद्यमान थे। वे (नारायण) ही इन समस्त प्राणियों को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। वे ही महान् शक्तिशाली जनों में विशिष्ट हैं। उन (विराट् पुरुष) से अधिक विशिष्ट अन्य कोई भी नहीं है। वही सर्व शक्तिमान् हैं॥ ३॥

महापुरुष आत्मानं चतुर्धा कृत्वा त्रिपादेन परमे व्योम्नि चासीत्। इतरेण चतुर्थेनानिरुद्धनारायणेन विश्वान्यासन्॥ ४॥

उन परम पुरुष (परमात्मा) ने स्वयं को चार भागों में विभक्त करके चतुर्व्यूहों के रूप में उत्पन्न किया । उनमें से तीन अंशों (वासुदेव, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण रूप) का निवास परमधाम वैकुण्ठ में है। चतुर्थ अंश व्यूह स्वरूप अनिरुद्ध नाम से प्रसिद्ध भगवान् श्रीनारायण के द्वारा ही सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि हुई॥ ४॥

[उस विराट् पुरुष के तीन चरण उच्च लोकों में ही निरुद्ध (नियंत्रित-रोके हुए) रहते हैं। एक चरण अनिरुद्ध (जिसे व्यक्त होने से रोका नहीं गया) होता है; उसी व्यक्त चरण से यह सृष्टि उपजी है। शेष तीन नाम मन्त्र में व्यक्त नहीं हैं, फिर भी अनिरुद्ध के आधार पर भगवान् के इन नामों को विद्वानों ने मान्य किया है। ये चरण वासुदेव-सबको वास देने वाले, प्रद्युम्न- विशेष रूप से प्रकाशमान तथा संकर्षण-आकर्षण करने वाले हैं, फिर भी अव्यक्त हैं।]

स च पादनारायणो जगत्स्त्रष्टुं प्रकृतिमजनयत्। स समृद्धकायः सन्सृष्टिकर्म न जज्ञिवान्। सोऽनिरुद्धनारायणस्तस्मै सृष्टिमुपादिशत्। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि याजकानि ध्यात्वा कोशभूतं दृढं ग्रन्थिकलेवरं हविर्ध्यात्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा वसन्तकालमाज्यं ध्यात्वा ग्रीष्ममिध्मं ध्यात्वा शरदृतुं रसं ध्यात्वैवमग्नौ हुत्वाङ्गस्पर्शात्कलेवरो वज्रं हीष्यते। ततः स्वकार्यान्सर्वप्राणिजीवान्सृष्ट्वा पश्वाद्याः प्रादुर्भविष्यन्ति। ततः स्थावरजङ्गमात्मकं जगद्भविष्यति॥ ५॥

उन चतुर्थपादात्मक नारायण ने विश्व की रचना के निमित्त प्रकृति को प्रादुर्भूत किया। (प्रकृतिरूप) ब्रह्मा जी शरीर प्राप्त करने के उपरान्त भी सृष्टि रचना के रहस्य को नहीं समझ सके। तदनन्तर उन अनिरुद्ध स्वरूप नारायण ने ब्रह्माजी को सृष्टि संरचना का उपदेश दिया। उन्होंने कहा- हे ब्रह्मन्! आप अपनी वागादि सभी इन्द्रियों को यज्ञकर्त्ताओं के रूप में मानें। कमलकोश से प्रकट, सुदृढ़ शक्ति सम्पन्न अपने शरीर को हवि रूप में जानें। वसन्त ऋतु को घृत, ग्रीष्म ऋतु को समिधा तथा शरद् ऋतु को रसरूप में अनुभव करें। इस तरह से अग्नि में यज्ञ करने के उपरान्त आपका शरीर अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न हो जाएगा। और इस शरीर के स्पर्श से वज्र भी कुण्ठित हो जायेगा। तत्पश्चात् इस यज्ञकर्म के प्रतिफल स्वरूप समस्त प्राणि - समुदाय प्रकट होंगे। इस प्रकार सभी स्थावर-जङ्गम से परिपूर्ण यह समस्त विश्व दृष्टिगोचर होने लगेगा॥ ५॥

एतेन जीवात्मनोर्योगेन मोक्षप्रकारश्च कथित इत्यनुसंधेयम्॥ ६॥

इस प्रकार जीव और आत्मा के मिलन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन किया गया है॥ ६॥

य इमं सृष्टियज्ञं जानाति मोक्षप्रकारं च सर्वमायुरेति॥ ७॥

जो भी साधक इस सृष्टि-यज्ञ और मोक्ष की विधि को समझता है, वह व्यक्ति पूर्ण आयुष्य प्राप्त करने में समर्थ होता है॥ ७॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

एको देवो बहुधा निविष्ट अजायमानो बहुधा विजायते॥ १॥

(इस सृष्टि में) अनेक रूपों में समाविष्ट हुआ वह एक ही देव है, जो स्वयं अजन्मा रहते हुए भी विभिन्न प्रकार से उत्पन्न होता रहता है॥ १॥

तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति। सामेति छन्दोगाः। एतस्मिन्हीदं सर्वं प्रतिष्ठितम्। विषमिति सर्पाः। सर्प इति सर्पविदः। ऊर्गिति देवाः। रयिरिति मनुष्याः। मायेत्यसुराः। स्वधेति पितरः। देवजन इति देवजनविदः। रूपमिति गन्धर्वाः। गन्धर्व इत्यप्सरसः॥ २॥

उसी (विराट् पुरुष) की उपासना समस्त अध्वर्युओं ने अग्निदेव के रूप में की है। यजुर्वेदीय याज्ञिक उस (देव) को 'यह यजुः है' ऐसा मानते हुए सर्व यज्ञीय कर्मों में नियोजित करते हैं। सामगान वाले उस (देव) को साम के रूप में जानते हैं। इसी (विराट् पुरुष) रूप में निश्चित ही वह सर्वत्र विद्यमान है। सर्प (गतिशील प्राण) उसे (विराट् पुरुष को) विष रूप में स्वीकार करते हैं तथा सर्पवेत्ता (योगी) सर्प-प्राण-रूप से उसे प्राप्त करते हैं। देवगण उसे अमृत रूप में ग्रहण करते हैं तथा सामान्य जन इसे (जीवन) धन समझकर जीवनयापन करते हैं। असुर (इन्हें) माया के रूप में जानते हैं, पितर स्वधा (अर्थात् पितृ भोजन के रूप में) मानते हैं, देवोपासक इसे देव रूप में स्वीकार करते हैं। गन्धर्वगण रूप-सौन्दर्य के रूप में जानते हैं तथा अप्सराएँ गन्धर्व के रूप में उस (विराट् देवपुरुष) को जानती हैं॥ २॥

तं यथायथोपासते तथैव भवति। तस्माद् ब्राह्मणः पुरुषरूपं परंब्रह्मैवाहमिति भावयेत्। तद्रूपो भवति। य एवं वेद॥ ३॥

उस (श्रेष्ठ परमात्मतत्त्व) की (जो साधक) जिस-जिस भाव से उपासना करता है, वह परमात्मतत्त्व उसके लिए उसी ही भाव (रूप) का हो जाता है। अतः ब्रह्मज्ञानी जनों को 'पूर्ण पुरुष रूप' परम ब्रह्म 'मैं स्वयं ही हूँ' इस प्रकार का भाव अपने अन्तःकरण में रखना चाहिए। इस प्रकार के भाव से वह (साधक) उसी देव स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जो भी मनुष्य (साधक) इस रहस्य को इस भाँति समझता है, वह स्वयमेव उसी के अनुरूप हो जाता है॥ ३॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

तद्ब्रह्म तापत्रयातीतं षट्कोशविनिर्मुक्तं षडूर्मिवर्जितं पञ्चकोशातीतं षड्भाव - विकारशून्यमेवमादिसर्वविलक्षणं भवति॥ १॥

वह ब्रह्म (पूर्ण पुरुष) त्रिताप शून्य, छः कोषों से परे, षड् ऊर्मियों से रहित, पंच कोषों से रहित और षड्भाव विकारों से अतीत है। इस प्रकार (वह ब्रह्म) सभी से विलक्षण है॥ १॥

तापत्रयं त्वाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकं कर्तृकर्मकार्यज्ञातृज्ञानज्ञेयभोक्तृ-भोगभोग्यमिति त्रिविधम्॥ २॥

ये 'त्रिताप' आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक हैं, जो कर्त्ता, कर्म, कार्य; ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा भोक्ता, भोग, भोग्य इस प्रकार ये तीनों एक-एक होते हुए भी त्रिविध अर्थात् तीन-तीन प्रकार के हैं॥ २॥

त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जाः षट्कोशाः॥ ३॥

छः कोश (धातु) क्रमशः चर्म, मांस, अस्थि, स्नायु (नसें), रक्त एवं मज्जा कहे गये हैं॥ ३॥

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यरिषड्वर्गः॥ ४॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य- ये छः षड्रिपु कहे गये हैं॥ ४॥

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इति पञ्चकोशाः॥ ५॥

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये शरीर के पाँच कोश हैं॥ ५॥

प्रियात्मजननवर्धनपरिणामक्षयनाशाः षड्भावाः॥ ६॥

छः भावविकार क्रमशः प्रिय होना, प्रादुर्भूत होना, वर्द्धित होना, परिवर्तित होना, क्षय अर्थात् न्यूनातिन्यून होते जाना तथा विनाश होना बताये गये हैं॥ ६॥

अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षडूर्मयः॥ ७॥

छः ऊर्मियाँ क्रमशः क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु कही गयी हैं॥ ७॥

कुलगोत्रजातिवर्णाश्रमरूपाणि षड्भ्रमाः॥ ८॥

कुल (वंश), गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम एवं रूप (सौन्दर्य) ये षड्भ्रम कहे गये हैं॥ ८॥

एतद्योगेन परमपुरुषो जीवो भवति नान्यः॥ ९॥

इन सभी के योग से (वह) परम पुरुष ही जीव (प्राणिरूप में परिणत) होता है, अन्य और कोई दूसरा समर्थ नहीं हो सकता॥ ९॥

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। अरोगी भवति। श्रीमांश्च भवति। पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति। विद्वांश्च भवति। महापातकात्पूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। अगम्यागमनात्पूतो भवति। मातृगमनात्पूतो भवति। दुहितृस्नुषाभिगमनात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। वेदिजन्महानात्पूतो भवति। गुरोरशुश्रूषणात्पूतो भवति। अयाज्ययाजनात् पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। उग्रप्रतिग्रहात्पूतो भवति। परदारगमनात्पूतो भवति। कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादिभिरबाधितो भवति। सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। इह जन्मनि पुरुषो भवति ॥ १० ॥

जो (भी व्यक्ति) इस उपनिषद् का प्रतिदिन अध्ययन करता है, वह अग्नि की भाँति पवित्र होता है। वह वायु की तरह शुद्ध होता है। वह आदित्य के समान प्रखर (गतिशील) होता है। वह सभी रोगों से रहित हो जाता है। वह श्री-सम्पन्न एवं पुत्र-पौत्रादि से समृद्ध हो जाता है। वह विद्वान् हो जाता है। महान् पातक (पाप) से पवित्र हो जाता है। अनाचरण जन्य दोष से मुक्त हो जाता है। वह माता के प्रति कदाचरण से मुक्त हो जाता है। (वह) पुत्री एवं बहिन के प्रति विकारों से मुक्त हो जाता है। सुवर्ण आदि धन की चोरी के पाप भावों से मुक्त हो जाता है। वेदाध्ययन करके उसे भूल जाने से उत्पन्न पाप से मुक्त हो जाता है। गुरु की सेवा- शुश्रूषा में उत्पन्न (आलस्य-प्रमादादि) पाप भावों से रहित हो जाता है। यज्ञीय कार्यों में अयाज्य (अपवित्र पदार्थों) के यजन आदि पापों से रहित हो जाता है। अभक्ष्य आहार आदि पाप प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है। उग्र प्रतिग्रह (निकृष्ट-दान) से भी पवित्र हो जाता है। परस्त्री के प्रति पाप दृष्टि से मुक्त हो जाता है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, क्रोधादि पापों से नहीं बँधता। (वह व्यक्ति) सभी पापों से रहित हो जाता है और इसी जन्म में ही पूर्ण पुरुष अर्थात् परमात्मा के ज्ञान से युक्त होकर पुरुष (श्रेष्ठ पुरुष या पवित्र) हो जाता है॥ १० ॥

[उपनिषद् के इस वाक्य का अर्थ विवेकपूर्वक किया जाना चाहिए। बहुधा लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि पाप वृत्तियों के वशीभूत होकर जो पापकर्म करता है, उसके दण्ड से मुक्त हो जाता है; लेकिन ऋषि कहते हैं कि वह ज्ञानी विभिन्न पाप वृत्तियों-अन्तरंग दोषों से मुक्त हो जाता है, न कि पाप कर्मों के दण्ड से। ज्ञानी अपनी ज्ञान दृष्टि से वास्तविकता को पहचान लेता है, इसलिए पाप वृत्तियों के प्रलोभन में फँसता ही नहीं है।]

तस्मादेतत्पुरुषसूक्तार्थमतिरहस्यं राजगुह्यं देवगुह्यं गुह्यादपि गुह्यतरं नादीक्षिता-योपदिशेत्। नानूचानाय। नायज्ञशीलाय। नावैष्णवाय। नायोगिने। न बहुभाषिणे। नाप्रियवादिने। नासंवत्सरवेदिने। नातुष्टाय। नानधीतवेदायोपदिशेत्॥ ११ ॥

इस प्रकार इस 'पुरुषसूक्त' का अर्थ अति रहस्यमय है। यह सूक्त राजगुह्य, देवगुह्य तथा गूढ़ से भी अतिगूढ़ (छिपा हुआ) है। जो (गुरु द्वारा) दीक्षित न किया गया हो, उसे इस (सूक्त) का उपदेश न करे। जो प्रबुद्ध होने पर भी जिज्ञासा के भाव से प्रश्न न पूछता हो, जो अयज्ञीय हो, अवैष्णव, अयोगी, बहुभाषी एवं अप्रियभाषी हो, जो प्रति संवत्सर (वर्ष) में एक बार वेदों का स्वाध्याय न कर ले, जो तुष्ट न हो अर्थात् असंतोषी हो तथा जिस व्यक्ति ने वेदों का अध्ययन (पठन-पाठन) न किया हो, उसको इस (पुरुष सूक्त) का उपदेश नहीं करना चाहिए॥ ११ ॥

गुरुरप्येवंविच्छुचौ देशे पुण्यनक्षत्रे प्राणानायम्य पुरुषं ध्यायन्नुपसन्नाय शिष्याय दक्षिणकर्णे पुरुषसूक्तार्थमुपदिशेद्विद्वान्। न बहुशो वदेत्। यातयामो भवति। असकृत्कर्णमुपदिशेत्। एतत्कुर्वाणोऽध्येताध्यापकश्च इह जन्मनि पुरुषो भवतीत्युपनिषत्॥ १२॥

इस पुरुष सूक्त के अर्थ के इस प्रकार भली-भाँति से जानने वाला वेदविद् गुरु भी शुद्ध पवित्र देश में, पुण्य (शुभ) नक्षत्र में, प्राणायाम करके, परम पुरुष का चिन्तन करता हुआ अति विनम्रता से समीप में आये हुए शिष्य को ही उसके दाहिने श्रोत्र में उपदेश दे। अधिक वार्ता न करे, नहीं तो वह श्रेष्ठ ज्ञान (उपदेश) यातयामत्व (निःसारता) रूप दोष से दूषित हो जाता है। इस प्रकार इस सूक्त के अर्थ का बहुशः उपदेश करे। ऐसे शिष्य (अध्येता) और गुरु (ज्ञानदाता) दोनों इसी जन्म में पूर्ण पुरुष (ब्रह्ममय) हो जाते हैं॥ १२॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि..... इति शान्तिः।

॥ इति मुद्गलोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मैत्रायण्युपनिषद् ॥ ✪

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें राजा बृहद्रथ को उपदेश देते हुए मुनि शाकायन्य ने बतलाया कि यह ज्ञान भगवान् मैत्रेय से प्राप्त हुआ था। इसमें उन्होंने प्राणों के भेद बतलाते हुए आत्मा और भूतात्मा का अन्तर स्पष्ट किया है। जीवन रूपी रथ में ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम, कर्मेन्द्रियाँ घोड़े, अन्तःप्रकृति चाबुक तथा आत्मा को संचालक कहा गया है। ईंधन समाप्त हो जाने पर जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही वृत्तियाँ समाप्त होने पर चित्त शान्त हो जाता है। परमात्मा की सर्वरूपता ॐ कार एवं उद्गीथ की एकरूपता समझाते हुए अन्त में गायत्री महामंत्र के विभिन्न पदों की व्याख्या तथा उपासना का महत्त्व समझाया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- केनोपनिषद्)

॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥

ॐ बृहद्रथो ह वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शारीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनिरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद् भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित्त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीत्येतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्का-मान्वृणीष्वेति शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद॥ १ ॥

बृहद्रथ नामक राजा को अपने शरीर की नश्वरता का विवेक जाग्रत् होने पर अतितीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया। इस कारण वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर वन में चला गया। वहाँ जाकर उस (राजा) ने लम्बे समय तक कठोर तप किया। वह प्रतिदिन सूर्य की ओर देखते हुए अपने दोनों हाथ ऊपर करके खड़ा रहता। एक सहस्र वर्ष के उपरान्त उसकी उग्र तपस्या के परिणाम स्वरूप शाकायन्य नामक आत्मवेत्ता महामुनि उस (राजा) के समक्ष आये। उन (मुनि) का तेज धूम्ररहित अग्नि की भाँति था। उन श्रेष्ठ मुनि ने राजा से कहा- हे राजन्! उठो-उठो, वरदान माँगो। उस राजा ने उन (मुनि) को नमस्कार करते हुए कहा- हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ, हमने सुना है कि आप ब्रह्मतत्त्ववेत्ता हैं। अतः आप हमें सत्यज्ञान रूप वरदान प्रदान करें। ऐसा सुनकर उन श्रेष्ठ मुनि ने कहा- हे इक्ष्वाकुवंशीय राजन्! तुम अन्य कोई दूसरा वर माँग लो। इस तरह के प्रश्नों को मत पूछो, जिन्हें प्राचीनकाल से ही अत्यन्त कठिन एवं दुरूह माना जाता रहा है। ऐसा सुनकर राजा बृहद्रथ ने उन मुनि श्रेष्ठ शाकायन्य के चरणों में प्रणाम करते हुए इस प्रकार कहा- ॥ १ ॥

✪ यह उपनिषद् 'निर्णय सागर प्रेस' (पंचम संस्करण १९४८) तथा मोतीलाल बनारसीदास (प्रथम संस्करण १९७०) द्वारा प्रकाशित संग्रहों में सात प्रपाठकात्मक है, किन्तु 'सर्व हितैशी कम्पनी, रामघाट काशी' (१९३८) एवं अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित (१९२१) संग्रह में चार प्रपाठक ही हैं, जबकि पू० गुरुदेव द्वारा प्रकाशित (१९६१) संग्रह में पाँच प्रपाठक हैं, इसी (पू० गुरुदेव के) आधार पर यहाँ भी पाँच प्रपाठक प्रस्तुत किए गये हैं।

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥ २ ॥

हे भगवन्! यह शरीर हड्डी, त्वचा, स्नायु, मज्जा, मांस, वीर्य, रक्त, अश्रु, विष्ठा, मल, मूत्र, वायु, पित्त, कफ आदि से परिपूर्ण है। यह शरीर दुर्गन्ध से युक्त एवं तत्त्वरहित है, तब कामनाजन्य भोगों की फिर क्या आवश्यकता है?॥ २॥

कामक्रोधलोभभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्यु-रोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥ ३ ॥

(हे भगवन्!) काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्ष्या, प्रियवस्तु (पदार्थ) के वियोग तथा अप्रिय के मिलनजन्य दुःख, क्षुधा-पिपासा, जरा-मरण, शोक आदि से यह शरीर अत्यन्त परेशान रहता है, ऐसी स्थिति में कामनाओं, उपभोगों की क्या आवश्यकता?॥३॥

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादयस्तृणवन्नश्यतयोद्भूत-प्रध्वंसिनः ॥ ४ ॥

(हे भगवन्!) यह सम्पूर्ण संसार क्षण-भङ्गुर है। मनुष्यादि समस्त भूत-प्राणियों को (मैं) निरन्तर विनष्ट होते हुए देखता रहता हूँ। ऐसे ही अनेकानेक वे सभी क्षुद्र जीव दंश, मच्छर-कीटादि उत्पन्न होकर कुछ ही समय में काल-कवलित हो जाते हैं॥ ४॥

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित्सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्व यौवनाश्ववध्रियाश्वाश्वपतिः शशबिन्दुर्हरिश्चन्द्रोऽम्बरीषोऽननूक्तः स्वयातिर्ययातिरनरण्यो-क्षसेनोत्थमरुत्तभरतप्रभृतयो राजानो मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वास्माल्लोकादमुं लोकं प्रयान्ति ॥ ५ ॥

इन (समस्त क्षुद्र जीवों) की क्या गणना, इनसे भिन्न महान् धनुर्धारी, शूरवीर व अन्य और कितने ही सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वध्रियाश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, अननूक्त स्वयाति, ययाति, अनरण्य, उक्षसेन, उत्थ, मरुत् और भरत आदि ये सभी चक्रवर्ती नरेश अपने बान्धवों सहित देखते-देखते ही इस लोक के महान् ऐश्वर्य को त्यागकर अकस्मात् ही शरीर त्यागकर परलोक के लिए प्रयाण कर गये॥ ५॥

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये गन्धर्वासुरयक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनां निरोधनं पश्यामः ॥ ६ ॥

(हे श्रेष्ठ मुने!) मात्र मनुष्य ही नहीं, बल्कि असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत-समुदाय, पिशाच, सर्प, ग्रह और उपग्रह आदि को भी हम विनष्ट होते हुए देखते हैं॥६॥

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासमृदिहावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ॥ ७ ॥

इसके पश्चात् (राजा बृहद्रथ ने उन श्रेष्ठ मुनि शाकायन्य से कहा-) हे भगवन् ! यदि इन (चेतन प्राणियों) को भी छोड़ दें, तब भी अचेतन वस्तुओं में भी जैसे, बड़े-बड़े सागर शुष्क हो जाते हैं, पर्वत - शृङ्खलाएँ विशृङ्खलित हो जाती हैं, ध्रुव प्रदेश भी अपने स्थान पर केन्द्रित नहीं रह पाते, वृक्ष भी धराशायी हो जाते हैं, पृथ्वी भी अपने एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकती, समस्त देवगण भी अपने पद से च्युत होते देखे जाते हैं; तब फिर ऐसी स्थिति में इस अहंकार से युक्त नश्वर संसार में विषय-वासनाओं के भोगों में आसक्त रहने वाले तो बारम्बार इस नश्वर जगत् में जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध हुए - से दृष्टिगोचर होते हैं। इस कारण हे श्रेष्ठ मुने! इस अज्ञानान्धकार रूपी कूप में स्थित मण्डूक (मेंढक) की भाँति इस नश्वर जगत् में मैं भी पतितावस्था में स्थित हूँ। कृपया आप मुझे अपनी गति प्रदान करें अर्थात् मेरा उद्धार करें। मैं आपकी ही शरण में हूँ। आप ही एक मात्र हमारे आधार हैं॥ ७॥

॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मजः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं वाव खल्वात्मा ते कतमो भगवान्वर्ण्य इति तं होवाचेति ॥ १॥

तत्पश्चात् यह (राजा बृहद्रथ की गाथा को) सुनकर श्रेष्ठ मुनि शाकायन्य ने अति प्रसन्न होकर कहा- हे महाराज बृहद्रथ! तुम इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न नरेश ध्वजशीर्ष के पुत्र हो। तुम सभी तरह से कृतकृत्य होते हुए 'मरुत्' के नाम से प्रख्यात हो। यह आत्मा क्या एवं कैसा है? मैं अब तुम्हें इसके सारतत्त्व को बताने का प्रयास करता हूँ। राजा बृहद्रथ ने कहा- हे श्रेष्ठ मुने! आप मुझे तत्सम्बन्धित विषय के सन्दर्भ में अवश्य ही बताने की कृपा करें॥ १॥

अथ य एषो बाह्यावष्टम्भनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तो व्यथमानोऽव्यथमानस्तमः प्रणुदत्येष आत्मेत्याह भगवानथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति॥ २॥

तदनन्तर महर्षि कहने लगे- हे राजन्! बाह्य इन्द्रियों का निरोध करने से (उन्हें अन्तर्मुखी बनाने से) प्राणतत्त्व रूपी यह आत्मा योग के माध्यम से ऊर्ध्व की ओर गमन करता है। वह दुःख रूप प्रतिभासित होते हुए भी वास्तव में दुःखरहित है तथा अज्ञानरूप अन्धकार को विनष्ट करने में समर्थ है। यही आत्मा इस नश्वर शरीर से बहिर्गमन करने पर परम ज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्व को वरण करके स्वयमेव अपने स्वरूप में विलीन हो जाता है। यह आत्मतत्त्व अमृतयुक्त, भयरहित तथा स्वयं ही ब्रह्मरूप है॥ २॥

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं भगवता मैत्रेयेण व्याख्याताहं ते कथयिष्यामीत्यथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजस ऊर्ध्वरेतसो वालखिल्या इति श्रूयन्तेऽथैते प्रजापतिमब्रुवन्भगवञ्शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वीदृशो महिमातीन्द्रियभूतस्य येनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयितास्य को भगवन्नेतदस्माकं ब्रूहीति तान्होवाच ॥ ३॥

हे राजन्! जिस (अविनाशी ब्रह्मविद्या) का सभी उपनिषदें एक स्वर से उपदेश करती हैं, उस ब्रह्मविद्या के ज्ञान को भगवान् मैत्रेय ने मुझे बताया है, वही श्रेष्ठ ज्ञान मैं तुम्हें बतलाता हूँ। साधना द्वारा जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे तेजस्वी एवं ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले मुनि वालखिल्य के नाम से जाने ज़ाते हैं। ऐसा ही एक बार उन श्रेष्ठ मुनि ने ब्रह्मा जी से प्रश्न किया- हे ब्रह्मन्! यह शरीर गाड़ी की भाँति अचेतन है, तो फिर ऐसा कौन सा अतीन्द्रिय तत्त्व है, किस श्रेष्ठ तत्त्व की ऐसी महिमा है? जिससे कि यह शरीर चैतन्य की भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इस शरीर को जो प्रेरित करता है, उसे वाणी से भी परे (श्रेष्ठ) बताया गया है। हे भगवन्! उसी (श्रेष्ठ तत्त्व) को हमारे समक्ष बताने की कृपा करें॥ ३॥

यो ह खलु वाचोपरिस्थः श्रूयते स वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तः प्राणोऽनीशात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भगवन्कथमनेनेदृशेनानिच्छेनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति कथमिति तान्होवाच॥ ४॥

(ब्रह्मा जी ने मुनि से कहा) उस श्रेष्ठ तत्त्व को शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, जीवन प्रदान करने वाला, अनन्त, अविनाशी, शाश्वत, सनातन, स्थिर, अजन्मा एवं स्वतन्त्र रूप से निवास करने वाला आत्मा कहा जाता है। उसी की ही यह महान् महिमा है। उस आत्मा से ही इस अचेतन शरीर को चेतन की भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। वही चेतन आत्म तत्त्व प्रेरणा प्रदान करने वाला है। यह सुनने के बाद महामुनि वालखिल्य जी ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन्! यह आत्मा अनिच्छित होते हुए भी चैतन्यरूप से इस शरीर में कैसे स्थिर है? इस शरीर को यह प्रेरित क्यों करता है? तथा इस आत्मा की यह महिमा किस प्रकार की है?॥ ४॥

स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृश्यः पुरुषसंज्ञको बुद्धिपूर्वमिहैवावर्ततेंऽशेन सुषुप्तस्यैव बुद्धिपूर्वं निबोधयत्यथ यो ह खलु वावैतस्यांशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वाक्षस्तेन चेतनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भगवन्नीदृशस्य कथमंशेन वर्तनमिति तान्होवाच ॥ ५॥

ब्रह्मा जी ने कहा - (हे मुने!) यह आत्मा सूक्ष्म, अग्राह्य और अदृश्य रूप है, इस कारण इसे 'पुरुष' नाम की संज्ञा द्वारा जाना जाता है। यह आत्मा अपने एक अंश से इस शरीर में अपने प्रयोजन के अभाव में भी बुद्धिपूर्वक सतत आता रहता है। सोते हुए को वह युक्तिपूर्वक बोध कराते हुए चैतन्य रूप से सभी प्राणियों में प्रतिष्ठित करता है। वही प्रत्येक शरीर में क्षेत्रज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित है; वही प्रकाश, संकल्प, प्रयास, अहंकार, लिंग (पुरुष-स्त्री आदि) और प्रजापति के रूप में समस्त विश्व को देखने वाला है। उसी की चेतना से शरीर चैतन्ययुक्त है। वही इस शरीर को क्रियान्वयन हेतु प्रेरित करता है। वालखिल्य ने पुनः प्रश्न किया - हे भगवन्! यह आत्मा अखण्ड होने पर भी किस तरह अंश रूप में यहाँ स्थिर है? ॥ ५॥

प्रजापतिर्वा एषोऽग्रेऽतिष्ठत्स नारमतैकः स आत्मानमभिध्यायद्बह्वीः प्रजा असृजत्ता अस्यैवात्मप्रबुद्धा अप्राणा स्थाणुरिव तिष्ठमाना अपश्यत्स नारमत सोऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरं प्राविशानीत्यथ स वायुमिवात्मानं कृत्वाभ्यन्तरं प्राविशत्स एको नाविशत्स पञ्चधात्मानं प्रविभज्योच्यते यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति॥ ६॥

ब्रह्माजी ने कहा- हे महर्षे! सर्वप्रथम एकमात्र प्रजापति ही एकाकी रूप में थे। वे अकेले रमण (अपने को सन्तुष्ट) नहीं कर सके, तब उन्होंने अपनी आत्मा का ध्यान किया। इसके फलस्वरूप उन्होंने विभिन्न रूपों में प्रजा का सृजन किया। अपने द्वारा उत्पन्न किये वे प्राणी उन्हें (स्वयं को) निष्प्राण एवं खम्भे की भाँति (निश्चेष्ट) मालूम पड़े। तदनन्तर (ऐसी उस क्रिया, ज्ञान एवं शक्ति से रहित प्रजा को देखकर) उन्होंने विचार किया कि इस प्रजा को (क्रिया, ज्ञान और शक्ति से युक्त) सचेतन करने के लिए मैं (प्रजापति) इनके अन्तःकरण में प्रविष्ट करूँ। ऐसा सोचकर उन्होंने स्वयं को वायु रूप में परिणत करके, उन सभी (अपने द्वारा उत्पन्न किए हुए प्राणियों) में प्रविष्ट हो गये । वे एक होते हुए भी पाँच रूपों में विभक्त हो गये। जो प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के रूप में जाने गये ॥ ६ ॥

अथ योऽयमूर्ध्वमुत्क्रामतीत्येष वाव स प्राणोऽथ योयमवाञ्चं संक्रामत्येष वाव सोऽपानोऽथ योऽयं स्थविष्ठमन्नधातुमपाने स्थापयत्यणिष्ठं चाङ्गेऽङ्गे समं नयत्येष वाव स समानोऽथ योऽयं पीताशितमुद्गिरति निगिरतीति चैष वाव स उदानोऽथ येनैताः शिरा अनुव्याप्ता एष वाव स व्यानः ॥ ७ ॥

जो ऊर्ध्व की ओर गमन करता है, वह प्राण कहलाता है। जो नीचे की ओर जाता है, वह अपान के नाम से जाना जाता है। जो अत्यन्त स्थूल अन्न एवं धातु को पाचन तन्त्र (ऊर्जा को) के माध्यम से अपान में प्रतिष्ठित करता है तथा सूक्ष्म रूप से अंग-प्रत्यंग में समान रूप से पहुँच जाए, उसे समान कहते हैं। जो खाये-पिये पदार्थ को उगलता और निगलता है, उसे उदान कहते हैं और जिस वायु से समस्त नाड़ियाँ परिपूर्ण हैं, वही व्यान कहलाता है ॥ ७ ॥

अथोपांशुरन्तर्याम्यभिभवत्यन्तर्याममुपांशुमेतयोरन्तराले चौष्ण्यं प्रास्त्रवद्यदौष्ण्यं स पुरुषोऽथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरोऽप्यन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यदेतत्कर्णावपिधाय शृणोति सयदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति ॥ ८ ॥

जो समीप रहते हुए भी अन्तर्यामी (अन्तरिक्ष को जानने वाला) है तथा जो एक प्रहर के अन्तराल में पराभव कर देता है, ऐसे उन दोनों के मध्य में जो उष्णता बरसती है, वह उष्णता ही पुरुष है। जो पुरुष है, वही वैश्वानर नामक अग्नि है। अन्यत्र भी यह कहा गया है कि अन्तःकरण में विद्यमान 'पुरुष' ही वैश्वानर रूप 'अग्निपुरुष' के नाम से जाना जाता है। इस (वैश्वानर रूप अग्नि) से खाया हुआ भोजन पचता है। जो ग्रहण किया गया है, उसी का शब्द अन्तःकरण में सुनाई पड़ता है। कानों को बन्द करने पर यही ध्वनि अन्दर से आती हुई सुनाई पड़ती है। जब शरीर से प्राणों के निकलने का समय होता है, तब यह ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनायी नहीं पड़ती ॥ ८ ॥

स वा एष पञ्चधात्मानं प्रविभज्य निहितो गुहायां मनोमयः प्राणशरीरो बहुरूपः सत्यसंकल्प आत्मेति स वा एषोऽस्य हृदन्तरे तिष्ठन्नकृतार्थोऽमन्यतार्थानसानि तत्स्वानीमानि भित्त्वोदितः पञ्चभी रश्मिभिर्विषयानत्तीति बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया रथः शरीरं मनो नियन्ता प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदनेन खल्वीरितं परिभ्रमतीदं शरीरं चक्रमिव मृते च नेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ॥ ९ ॥

वह यह प्रजापति रूपी आत्मा स्वयं ही अपने को पाँच भागों में विभक्त करके हृदयरूपी गुहा (गुफा) क्षेत्र में प्रतिष्ठित है। यही आत्मा मनोमय रूप में, प्राणमय रूप में एवं तेजोमय रूप में, संकल्प रूप में तथा आकाशात्म रूप में अवस्थित है। इस प्रकार यह आत्मा हृदय प्रदेश में स्थित रहते हुए इन्द्रियों का अनुभव न करता हुआ स्वयं को अकृतार्थ अनुभव करने लगा। तदनन्तर अपने आप को कृतकृत्य करने हेतु पाँच द्वारों (इन्द्रियों) का बेधन करके प्रादुर्भूत हुआ। ये पाँच द्वार ही (श्रोत्रादि) पाँच इन्द्रियों के रूप में परिणत हो गये, जिनसे वह विषयों का उपभोग करता है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम हैं तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं। शरीर को रथ एवं मन को सारथि की संज्ञा प्रदान की गई है और स्वभाव (प्रकृति) को चाबुक कहा गया है। इस चाबुक से प्रेरणा प्राप्त करके यह शरीर चक्र की भाँति गमन करता है। इस प्रकार यह आत्मा ही इस शरीर को सचेतन बनाए हुए है तथा इसे प्रेरित करता रहता है॥ ९॥

स वा एष आत्मेत्यदो वशं नीत एव सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमान इव प्रतिशरीरेषु चरत्यव्यक्तत्वात्सूक्ष्मत्वाददृश्यत्वादग्राह्यत्वान्निर्ममत्वाच्चानवस्थोऽकर्ता कर्तेवावस्थितः॥ १०॥

ऐसा प्रतीत होता है कि यह आत्मा ही शरीर के वशीभूत होकर शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप बन्धन में फँस गया है। इसी कारण वह (आत्मा) विविध शरीरों में संचरित होता रहता है, परन्तु चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में वह अव्यक्त,सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य, ममता से रहित एवं अवस्था (जाग्रत्, स्वप्न,सुषुप्ति)रहित है। अतः वह (आत्मा) अकर्त्ता होते हुए भी कर्त्तारूप में प्रतीत होता है॥ १०॥

स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चालेपोऽव्यग्रो निःस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्य चरितभुग्गुणमयेन पटेनात्मानमन्तर्धायावस्थित इत्यवस्थित इति॥ ११॥

यह (आत्मा) शुद्ध, स्थिर, अचल, निर्लिप्त, उद्विग्नता रहित, निःस्पृह द्रष्टा की भाँति रहते हुए अपने द्वारा किये गये कर्मों के फल का उपभोग करता हुआ-सा प्रतीत होता है। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उस आत्मा ने अपने रूप को तीन गुणों (सत्,रज, तम,) रूपी वस्त्र द्वारा आच्छादित कर रखा है॥ ११॥

॥ तृतीयः प्रपाठकः॥

ते होचुर्भगवन्यद्येवमस्यात्मनो महिमानं सूचयसीत्यन्यो वा परः कोऽयमात्मा सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां वा गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति कतम एष इति तान्होवाच॥ १॥

महर्षि ने पुनः प्रश्न किया - हे भगवन् ! इस आत्मा की महिमा का वर्णन यदि इस प्रकार है, तो पुनः वह (आत्मा) श्रेष्ठ एवं निकृष्ट कर्मों के बन्धन में बँधा हुआ तथा अच्छी-बुरी योनियों में घूमता हुआ क्या कोई अन्य आत्मा है? सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से अभिभूत ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी गतियों में विचरण करने वाला कौन है?॥ १॥

अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्मा योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीत्यस्योपव्याख्यानं पञ्च तन्मात्राणि भूतशब्देनोच्यन्ते पञ्च महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ तेषां यः समुदायः

शरीरमित्युक्तमथ यो ह खलु वाव शरीरमित्युक्तं स भूतात्मेत्युक्तमथास्ति तस्यात्मा बिन्दुरिव पुष्कर इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरित्यतोऽभिभूतत्वात्संमूढत्वं प्रयात्यसंमूढत्वादा-त्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद्गुणौघैस्तृप्यमानः कलुषीकृतश्चास्थिरश्चञ्चलो लोलुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चाभिमानत्वं प्रयात इत्यहं सो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनात्मानं जालेनेव खचरः कृतस्यानुफलैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति॥ २॥

(हे श्रेष्ठ महर्षे!) जो शुभ - अशुभ कर्मों के कारण अधोगामी हुआ है, वह तो दूसरा भूतात्मा (जीवात्मा) के नाम से जाना जाता है तथा वह कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियों में गमन करता है, ऊँची-नीची गतियों को प्राप्त करता है, साथ ही सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से प्रभावित होता है। पंचभूतों और तन्मात्राओं को 'भूत' कहा जाता है। इनका समुच्चय ही शरीर है। इस कारण से इस शरीर को भूतात्मा (भूतात्मक) कहा जाता है। शरीर में निवास करने वाली यह आत्मा तो कमल के पत्तों में रहने वाली बूँदों की भाँति है; किन्तु वह अपने प्राकृतिक गुणों से प्रभावित-पराजित होकर मूढ़ बन गया है। इस कारण वह अपने अन्दर उपस्थित प्रेरक परमात्मतत्त्व को नहीं देख सकता। इस तरह वह सद्गुणों से तृप्त होता हुआ पापयुक्त, अस्थिर, चञ्चल, लोलुप, विषयासक्त, व्यग्र एवं अभिमानी होकर अहंकार युक्त हो जाता है। उसके अन्दर यह भाव आने लगते हैं कि 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है', इस प्रकार वह पक्षी की भाँति जालरूपी विकारों में फँस जाता है। वह अपने द्वारा कृत-कर्मों के फलस्वरूप खुद ही आबद्ध होकर विचरण करता है॥ २॥

अथान्यत्राप्युक्तं यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारयितान्तःपुरुषोऽथ यथाग्निनायःपिण्डो वाभिभूतः कर्तृभिर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्येवं वाव खल्वसौ भूतात्मान्तःपुरुषेणाभिभूतो गुणैर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्यथ यत्त्रिगुणं चतुरशीतिलक्ष-योनिपरिणतं भूतत्रिगुणमेतद्वै नानात्वस्य रूपं तानि ह वा इमानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव चक्रिणेत्यथ यथायःपिण्डे हन्यमाने नाग्निरभिभूयत्येवं नाभिभूयत्यसौ पुरुषोऽभिभूयत्ययं भूतात्मोपसंश्लिष्टत्वादिति॥ ३॥

अन्य स्थलों पर भी कहा गया है कि कर्त्तापन तो इस भूतात्मा का ही है। अन्तःकरण में विद्यमान रहने वाली पवित्रात्मा तो मात्र प्रेरणा प्रदान करने वाली है। जिस प्रकार लोहे को अग्नि में तप्त करके लुहार उसे विभिन्न रूपों में परिणत कर देता है, उसी प्रकार यह भूतात्मा शुद्ध आत्मा के द्वारा तप्त तथा सद्गुणों के द्वारा सतत प्रहार करने पर वह अन्य अनेक रूपों में परिणत हो जाता है। अर्थात् वह गुणों से युक्त हो चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है, यही अनेकत्व का स्वरूप है। जिस प्रकार चक्र (चाक) को संचालित करने वाला कुम्हार चाक से अलग रहता है, उसी तरह आत्मा (सत्, रज और तम) इन तीनों गुणों से पृथक् है। जिस प्रकार लौह खण्ड को पीटने से उसमें स्थित अग्नि नहीं पीटी जाती, वैसे ही शुद्ध आत्मा विकाररहित होता है, परन्तु उस (शुद्ध आत्मा) को भूतात्मा के संसर्ग का दोष लग जाता है॥ ३॥

[लाल गर्म लोहा अग्नि जैसा दिखने लगता है, उसी स्थिति में उसे हथौड़े से पीटकर इच्छित आकार दिया जा सकता है। इसी प्रकार आत्म तत्त्व के संसर्ग से पंचभूत जब चेतनायुक्त दिखते हैं, तभी उन्हें गुणों के प्रहार या दबाव से इच्छित आकार दिया जाता है।]

अथान्यत्राप्युक्तं शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविद्ध्युपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रै पित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इवावसन्नेति॥ ४॥

इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर यह भी संकेत मिलता है कि स्त्री-पुरुष के संयोग से जिस शरीर का प्रादुर्भाव होता है, वह चेतना शून्य है तथा नरक जैसा प्रतीत होता है। मूत्र द्वार से बहिर्गमन होने वाला यह शरीर हड्डियों के द्वारा गठित किया गया है। मांस से अनुलिप्त है तथा चर्म के द्वारा आबद्ध किया गया है। मल, मूत्र, पित्त, कफ, मज्जा, मेद, वसा आदि से युक्त है। इसके अतिरिक्त अन्य कई तरह के मलों से भी परिपूर्ण है। यह शरीर ऐसा लगता है कि सभी विकार युक्त पदार्थों का कोषागार ही है॥ ४॥

अथान्यत्राप्युक्तं संमोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री व्रणो जरा शोकः क्षुत्पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं वैकारुण्यं मूढत्वं निर्व्रीडत्वं निकृतत्वमुद्धतत्वमसमत्वमिति तामसान्वितस्तृष्णा स्नेहो रागो लोभो हिंसा रतिर्दृष्टिर्व्यापृतत्वमीर्ष्या काममस्थिरत्वं चञ्चलत्वं जिहीर्षार्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहावलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्वभिषङ्ग इति राजसान्वितैः परिपूर्ण एतैरभिभूत इत्ययं भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति॥ ५॥

एक अन्य स्थान में यह भी कहा गया है कि मोह, भय, विषाद, निद्रा, तन्द्रा, वृद्धावस्था, शोक, दुःख, भूख, प्यास, कार्पण्य (दीनता), क्रोध, नास्तिकता, अज्ञान, मात्सर्य, विकार, मूढ़ता, निर्लज्जता, उद्धतता, विषमता, कृतघ्नता आदि तमोगुण के विकारों से यह शरीर परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त तृष्णा, स्नेह, रोग, लोभ, हिंसा, काम-दृष्टि, व्यापार, ईर्ष्या, स्वेच्छाचारिता, चंचलता, किसी की वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा, धनोपार्जन की इच्छा, मित्रों का अनुग्रह, परिग्रह का आश्रय, इन्द्रियों का अप्रिय विषयों से द्वेष और प्रिय विषयों से आसक्ति आदि रजोगुण से युक्त विकार भी उस भूतात्मा में विद्यमान रहते हैं। इन सभी विकारों के द्वारा यह भूतात्मा पराभव को प्राप्त होता है तथा पुनः अनेक रूपों को प्राप्त करता है॥ ५॥

॥ चतुर्थः प्रपाठकः ॥

ते ह खल्वथोर्ध्वरेतसोऽतिविस्मिता अतिसमेत्योचुर्भगवन्नमस्ते त्वं नः शाधि त्वमस्माकं गतिरन्या न विद्यत इत्यस्य कोऽतिथिर्भूतात्मनो येनेदं हित्वात्मन्येव सायुज्यमुपैति तान्होवाच ॥ १॥

ब्रह्मा जी के द्वारा दिये हुए उपदेश को सुनकर ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचारी) श्रेष्ठ मुनि वालखिल्य जी अत्यधिक विस्मित हुए एवं निकट में जाकर कहा-हे भगवन्! आपको नमस्कार है। आप ही हमें शरण देने वाले हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई हमारा शरण स्थल नहीं। अतः आप हमें यह समझाएँ कि इस भूतात्मा का अतिथि कौन है, जिसके लिए यह सर्वस्व त्यागकर आत्मा में ही सायुज्य प्राप्त करता है?॥ १॥

अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषूर्मय इव निवर्तकमस्य यत्पुराकृतं समुद्रवेलेव दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागमनं सदसत्फलमयैर्हि पाशैः पशुरिव बद्धं बन्धनस्थस्येवास्वातन्त्र्यं यमविषयस्थस्येव बहुभयावस्थं मदिरोन्मत्त इवामोदमदिरोन्मत्तं पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विपद्दष्टं महान्धकार इव रागान्धमिन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरममित्यथोक्तम्। शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥ २॥

ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि हे श्रेष्ठ मुने! एक अन्य स्थान में कहा गया है कि जैसे बड़ी-बड़ी नदियों में तरंगें उठती रहती हैं, वैसे ही भूतात्मा में पूर्वकाल में किये हुए कर्म पाये जाते हैं। उन किये हुए कर्मों का फल इसे भोगना ही पड़ता है। पुनः जिस तरह समुद्र का किनारा लहरों के अन्त होने के लिए आवश्यक है, उसी तरह भूतात्मा के लिए मृत्यु भी अति आवश्यक है, वह शुभ व अशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप बन्धनों में पशुओं की तरह आबद्ध हुआ परतन्त्र- सा बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह (भूतात्मा) यम के राज्य में ही निवास करता है। इस तरह वह भूतात्मा हमेशा डरा हुआ सा ही बना रहता है। विषय-वासना की सुखरूपी मदिरा का पान करके वह मतवाला हो जाता है। पापरूपी भूत के द्वारा आवेशित हुआ वह यत्र-तत्र भटकता रहता है। इस प्रकार वह विपत्ति में विषधर सर्प-दंश की भाँति दुःख भोगता है। विषय-वासनाओं की इच्छा के अनुरूप घने अन्धकार में रहता हुआ वह अन्धा ही हो जाता है। जादूगर के जादू की भाँति वह माया से परिपूर्ण है, स्वप्नवत् वह मिथ्या ही परिलक्षित होता है। केले के वृक्ष के अन्तः भाग की भाँति वह सार रहित है और नट (तमाशा दिखाने वाले) की भाँति वह प्रतिक्षण नवीन से नवीनतम वेशों को धारण करता रहता है तथा चित्रों से सुसज्जित दीवार की तरह उसका बाह्य आवरण ही सुन्दर रहता है। इसके पश्चात् यह भी कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय साररहित हैं। उन सार रहित विषयों में आसक्त हुआ भूतात्मा स्वयं को ही यथार्थतया स्मरण नहीं रख पाता है ॥ २॥

अयं वाव खल्वस्य प्रतिविधिर्भूतात्मनो यदेव विद्याधिगमस्य धर्मस्यानुचरणं स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमणं स्वधर्म एव सर्वं धत्ते स्तम्बशाखेवेतराण्यनेनोर्ध्वभाग्भवत्यन्यथाधः पतत्येष स्वधर्माभिभूतो यो वेदेषु न स्वधर्मातिक्रमेणाश्रमी भवत्याश्रमेष्वेवावस्थितस्तपस्वी चेत्युच्यत एतदप्युक्तं नातपस्कस्यात्मध्यानेऽधिगमः कर्मशुद्धिर्वेत्येवं ह्याह। तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः । मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तत इति ॥ ३॥

इस भूतात्मा की मुक्ति का उपाय ब्रह्मा जी इस प्रकार बताते हैं- ज्ञान की प्राप्ति जिस धर्म से हो सके, ऐसे श्रेष्ठ धर्म का आचरण करना चाहिए तथा अपने आश्रम धर्म का सदा पालन करना चाहिए । अन्य धर्म तो गुल्म (तृण) की शाखा की भाँति असत्य हैं। अतः वह (भूतात्मा) अपने धर्म के द्वारा ही प्रगति को प्राप्त करता है, अन्य तरह के धर्मों से तो उसे अवनति की ओर ही जाना पड़ता है। वेद में वर्णित स्वधर्म का परित्याग करने वाला आश्रमी नहीं कहा जा सकता। जो (व्यक्ति) आश्रम धर्म का निर्वाह करता है, वही तपस्वी है। यह भी कहा गया है कि जो तपस्वी नहीं है, उसका ध्यान आत्मा में नहीं एकाग्र होता। इस कारण से उसकी कर्म शुद्धि नहीं हो पाती। तप के माध्यम से ज्ञान की उपलब्धि होती है और ज्ञान की प्राप्ति होने पर मन अपने वश में हो जाता है। मन के वशीभूत होने पर आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है और आत्मा की उपलब्धि से इस संसार सागर से मुक्ति मिल जाती है॥ ३॥

[आश्रम का अर्थ होता है, जहाँ आश्रित-स्थित है। जो चेतना अग्नि में स्थित है, वह अग्नि के अनुरूप धर्म का पालन करती है, जो जल में अथवा वायु में है; वह उसी के अनुरूप धर्म का पालन करती है। इसी तरह मनुष्य शरीरस्थ चेतना-आत्मा को मानव धर्म का तथा उसके अन्तर्गत देश, काल, पात्र के अनुरूप धर्म का पालन करना चाहिए। इसी धर्म पालन रूप तप से कर्मशुद्धि द्वारा मोक्ष का अधिकार बनता है।]

अत्रैते श्लोका भवन्ति-

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥ क॥

यहाँ ब्रह्मा जी ने कुछ श्लोकों के द्वारा भी श्रेष्ठ मुनि वालखिल्य जी को समझाने का प्रयास किया है-

जैसे अग्नि में लकड़ी के जलकर समाप्त होने पर अग्नि स्वयं ही अपने स्थान में शान्त हो जाती है, वैसे ही वृत्तियों का क्षय होने पर चित्त स्वयं ही अपने उत्पत्ति स्थल में शान्त हो जाता है॥ क॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः ।

इन्द्रियार्था विमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ ख॥

अपने उद्गम स्थल में शान्त मन जब सत्य की ओर गमन करता है, तब कर्म के वशीभूत इन्द्रियों के प्रति आसक्ति आदि भोग विषय उसे असत्य प्रतीत होते हैं॥ ख॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।

यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्॥ ग॥

चित्त ही संसार है, इस कारण प्रयत्नपूर्वक चित्त का शोधन करना चाहिए। जिस प्रकार (व्यक्ति) का चित्त होता है, उसी प्रकार ही उसे गति (दशा) प्राप्त होती है। यही सनातन नियम है॥ ग॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।

प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते॥ घ॥

चित्त के शान्त होने पर शुभ और अशुभ कर्म विनष्ट हो जाते हैं। चित्त के द्वारा शान्त हुआ व्यक्ति जब (चिन्तन के माध्यम से) आत्मा में स्थित होता है, तभी उसे अक्षय आनन्द की अनुभूति होती है॥ घ॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।

यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥ ङ॥

मनुष्य का चित्त जितना अधिक विषय-वासनाओं (भोगों) में आसक्त होता है, यदि उतना ही कहीं (उसका चित्त) 'ब्रह्म' के प्रति आसक्त हो जाए , तो फिर उसे वासनादि विषयों के बन्धन से मुक्ति क्यों न मिल जाए? ॥ ङ॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।

अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥ च॥

शुद्ध और अशुद्ध यह दो स्थितियाँ मन की कही गयी हैं। कामनाओं के संकल्प से युक्त (मन) अशुद्ध है तथा कामनाओं का परित्याग कर देने वाला मन ही शुद्ध है॥ च॥

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।

यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम्॥ छ॥

लय और विक्षेपरहित 'मन' पूर्णरूपेण निश्चल (स्थिर) हो जाता है और जब मनोभावों (काममाओं) का समापन हो जाता है, तभी वह परम-पद रूप को प्राप्त होता है॥ छ॥

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्।

एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः॥ ज॥

जब तक मन का क्षय (विनाश) न हो, तब तक ही उसका हृदय में निरोध करना चाहिए। मात्र यही ज्ञान एवं मोक्ष का सार है, अन्य शेष का तो ग्रन्थों में विस्तार किया गया है॥ ज॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥झ॥

समाधि के द्वारा जिसके मल का परिशोधन हो गया है तथा जो आत्मा में विलीन हो गया है, ऐसा 'चित्त' ही आनन्दानुभूति की प्राप्ति कर सकता है। तब उसका वर्णन वाणी के द्वारा करने में कोई भी समर्थ नहीं है, उसको तो मात्र अन्तःकरण के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है॥ झ॥

अपामपोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्।
एवमन्तर्गतं चित्तं पुरुषः प्रतिमुच्यते॥ ञ॥

जैसे जल में जल, अग्नि में अग्नि और आकाश में आकाश का विलय हो जाने पर उसके सभी भिन्न-भिन्न रूप परिलक्षित नहीं होते, वैसे ही चित्त का (आत्मा में) विलय हो जाने पर 'पुरुष' मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ ञ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति॥ ट॥

'मन' ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयों में आसक्त हुआ मन ही बन्धन का कारण है तथा विषयों से रहित अर्थात् विषयों में आसक्त न रहने वाला 'मन' ही मुक्ति का कारण है॥ ट॥

अथ यथेयं कौत्सायनिस्तुतिः-त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं
रुद्रस्त्वं प्रजापतिः। त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥ ठ॥

इसी प्रकार कौत्सायनि ऋषि की भी प्रशंसोक्ति है-'तुम ब्रह्मा हो, विष्णु हो, रुद्र हो। तुम प्रजापति हो, तुम अग्नि हो, तुम वरुण हो, तुम वायु हो, तुम इन्द्र हो और तुम्हीं निशाकर (चन्द्रमा) हो'॥ ठ॥

त्वं मनुस्त्वं यमश्च त्वं पृथिवी त्वमथाच्युतः।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि ॥ ड॥

तुम मनु हो, तुम यम हो, तुम पृथ्वी हो, तुम अच्युत हो, तुम्हीं अपने विषय रूप में स्वाभाविक अर्थ हो तथा तुम्हीं स्वयं अपने-आप में भी विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठित रहते हो॥ ड॥

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
विश्वभुग्विश्वमायस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः॥ ढ॥

हे सर्वेश्वर! आपको नमस्कार है। आप ही सम्पूर्ण विश्व की आत्मा हैं, विश्व के समस्त कार्यों को करने वाले हैं। सभी के भरण-पोषण करने वाले हैं। सब प्रकार की माया को धारण करने वाले, सर्वत्र विश्व-क्रीड़ा में प्रेम रखने वाले आप सभी के प्रभु हैं॥ ढ॥

नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च।
अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय चेति॥ ण ॥ ४॥

हे शान्त आत्मा वाले! आपको नमस्कार है। अतिशय गूढ़, अचिन्त्य, प्रमाणों से न जान सकने योग्य एवं आदि-अन्त रहित आपके लिए नमन-वंदन है॥ ण॥ ४॥

तमो वा इदमेकमास तत्पश्चात्तत्परेणेरितं विषयत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै तमसो रूपं तत्तमः खल्वीरितं तमसःसंप्रास्त्रवत्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तत्सत्त्वात्संप्रास्त्रवत्सोंऽशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अग्र्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो

विष्णुरित्यथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स एव विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा चोद्भूत उद्भूतत्वाद्भूतेषु चरति प्रतिष्ठा सर्वभूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसावात्मान्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च॥ ५॥

सृष्टि-रचना के पूर्व यह(भूतात्मा) केवल अन्धकार (अज्ञान) रूप ही था। तत्पश्चात् परमात्मा द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके इन्द्रियों के विषय रूप में परिणत हो गया । इन (रूपों) में से यह वस्तु रजोगुण के रूप में है। यह तमोगुण का भी स्वरूप है अर्थात् प्रेरणा प्राप्त तमोगुण ही तमोगुण में से प्रकट होता है। यह सत्त्व गुण का भी रूप है अर्थात् प्रेरणा प्राप्त हुआ सत्त्वगुण ही सत्त्वगुणों में से स्रवित हुआ है। जो यह चेतन सत्ता हर भूत-प्राणियों में क्षेत्रज्ञ जीव रूप से स्थिर है और परमात्मा का अंश है। वह संकल्प युक्त और अध्यवसायी, दृढ़निश्चयी है, अहंकार रूप (मैं पन) से पहचाना जाने वाला तथा समस्त प्रजा का पति है। ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र को ही परमात्मा का सबसे बड़ा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। उस परमात्मा के रजोगुण अंश को 'ब्रह्मा' कहा गया है, तमोगुण अंश को 'रुद्र' और जो सतोगुण अंश है, उसे 'विष्णु' कहा गया है। इस कारण से वह एक ही परमात्मा तीन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) रूपों में, आठ (अष्टवसु) रूपों में, ग्यारह(रुद्र)रूपों में, बारह (आदित्य) रूपों में तथा अन्य (असंख्य संसारी जन रूप) अगणित रूपों में उत्पन्न हुआ है। वह इस तरह 'उद्भूत' होते हुए भी प्रत्येक भूतों-प्राणियों में स्थित है। वही समस्त प्राणियों का अधिष्ठाता है और वही अन्दर-बाहर आत्मा के रूप में विद्यमान है। वही अन्दर और बाहर है॥ ५॥

॥ पंचमः प्रपाठकः ॥

द्विधा वा एष आत्मानं बिभर्त्ययं यः प्राणो यश्चासावादित्योऽथ द्वौ वा एतावास्तां पञ्चधा नामान्तर्बहिश्चाहोरात्रे तौ व्यावर्तेते असौ वा आदित्यो बहिरात्मान्तरात्मा प्राणो बहिरात्मागत्यान्तरात्मनानुमीयते। गतिरित्येवं ह्याह यः कश्चिद्विद्वानपहतपाप्मा-ध्यक्षोऽवदातमनास्तन्निष्ठ आवृत्तचक्षुः सोऽन्तरात्मागत्या बहिरात्मनोनुमीयते गतिरित्येवं ह्याहाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो यः पश्यति मां हिरण्यवत्स एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति॥ १॥

वह परमात्मा दो प्रकार की आत्माओं (स्वरूपों) को ग्रहण करता है। यह जो प्राण है तथा जो सूर्य है, यही दोनों सर्वप्रथम उत्पन्न हुए हैं। यह सूर्य बाह्य आत्मा है और प्राण अन्तः की आत्मा है। इसकी गति को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि यह अन्तरात्मा ही है। वेदों में कहा गया है कि यह आत्मा गतिरूप ही है। जिस विद्वान् के पापों का शमन हो चुका है, वह सभी का अध्यक्ष होता है। उसका मन पवित्र होता है तथा उसकी स्थिति परमात्मा में ही रहती है। उस (विद्वान्) का ज्ञान-चक्षु जाग्रत् हो जाता है तथा वह अन्तरात्मा में ही स्थिर रहता है। वह गतिशील होता हुआ बहिर्गमन कर जाता है। आत्मा की गति का अनुमान लगाया जा सकता है, ऐसा वेदों ने भी प्रतिपादित किया है। सूर्य के मध्य भाग में जो 'पुरुष' स्वर्ण के रूप में दृष्टिगोचर होता है, जो हमें हिरण्यमय अर्थात् प्रकाश स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वही (पुरुष) हृदयरूपी कमल में स्थित रहते हुए अन्न को ग्रहण करता है॥ १॥

[आत्मा को गति रूप कहा गया है। सुचालक (कन्डक्टर) में इलैक्ट्रॉन तो हर समय उपस्थित रहते हैं, जब वे गतिशील होते हैं, तो विद्युत् प्रवाह का आभास होता है। इसी प्रकार आत्म-तत्त्व, परमात्म-तत्त्व सभी जगह कण-कण में विद्यमान है, जब वह संकल्पपूर्वक गतिशील होता है, तभी चेतना का आभास होता है। यह ऋषियों की अनुभूति से प्रकट हुआ तथ्य है।]

अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्दिवि श्रितः सौरः काला-ख्योऽदृश्यःसर्वभूतान्नमत्ति कः पुष्करः किमयं वेद वा व तत्पुष्करं योऽयमाकाशो-ऽस्येमाश्चतस्रो दिशश्चतस्र उपदिशः संस्था अयमर्वागग्निः परत एतौ प्राणादित्यावेता-वुपासीतोमित्यक्षरेण व्याहृतिभिः सावित्र्या चेति॥ २॥

जो (पुरुष) हृदय-कमल में विद्यमान एवं अन्न ग्रहण करता है, वही (पुरुष) इस सूर्य की अग्नि के रूप में आकाश में प्रतिष्ठित है। यही काल-नाम से युक्त (पुरुष) है। वह अदृश्य होते हुए भी सर्वभूत रूपी अन्न का भक्षण करता है। यह कमल क्या है? यह क्या जानकारी रखता है? इसका उत्तर यह है कि जो यह आकाश है, यही कमल है और इसमें निवास करने वाला वह समस्त प्रकार की जानकारी रखता है, वह इन चारों दिशाओं एवं उपदिशाओं में प्रतिष्ठित है। वह सभी से परे अर्थात् श्रेष्ठ है। इस प्राण और आदित्य की ॐकार से युक्त एवं व्याहृतियों सहित गायत्री-सावित्री महामन्त्र से उपासना करनी चाहिए॥

[ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से कही गयी है, उस आलंकारिक उक्ति को ऋषि स्पष्ट करते हुए आकाश को ही कमल कहते हैं। परम व्योम में सुप्त स्थिति में परमात्मतत्त्व के नाभिक से स्फुरणा उभरी, वह कमल नाल कहलायी। जिस क्षेत्र में स्फुरणा हुई, वह कमल कहलाया। उसी में विकसित सृजन चेतना-ब्रह्मा ने सृष्टि की।]

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ यन्मूर्तं तदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म यद्ब्रह्म तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः स वा एष ओमित्येतदात्मा स त्रेधात्मानं व्यकुरुत ओमिति तिस्रो मात्रा एताभिः सर्वमिदमोतं प्रोतं चैवास्मिन्नित्येवं ह्याहैतद्वा आदित्य ओमित्येवं ध्यायंस्तथात्मानं युञ्जीतेति ॥ ३॥

ब्रह्म के दो रूप हैं- मूर्त और अमूर्त। जो मूर्तरूप है, वह असत्य है और जो अमूर्त रूप है, वह सत्य है, वही (यथार्थ) ब्रह्म है। जो ब्रह्म है, वही ज्योति है और जो ज्योति है, वही आदित्य है। वही ॐकार (प्रणव) है, वही आत्मा है। उसने अपने स्वरूप को तीन प्रकार से प्रकट किया है। ॐकार तीन मात्राओं से युक्त है। इसी ॐकार में सभी तत्त्व विद्यमान हैं, इस तरह श्रुति में वर्णन मिलता है। आदित्य ही ॐकार स्वरूप ब्रह्म है, ऐसा ध्यान करते हुए पुरुष को चाहिए कि वह आत्मा का उसके साथ संयोजन करे॥ ३॥

अथान्यत्राप्युक्तमथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसावादित्य उद्गीथ एव प्रणव इत्येवं ह्याहोद्गीथः प्रणवाख्यं प्रणेतारं नामरूपं विगतनिद्रं विजरमविमृत्युं पुनः पञ्चधा ज्ञेयं निहितं गुहायामित्येवं ह्याहोर्ध्वमूलं वा आब्रह्मशाखा आकाश-वाय्वग्न्युदकभूम्यादय एकेनात्तमेतद्ब्रह्म तत्तस्यैतत्ते यदसावादित्य ओमित्येतदक्षरस्य चैतत्तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताजस्रमित्येकोऽस्य रसं बोधयीत इत्येवं ह्याहैतदेवाक्षरं पुण्यमेतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ ४॥

तत्पश्चात् एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि जो उद्गीथ (उद्=प्राण, गीथ= अभिव्यक्ति) है। वही ॐकार है। जो ॐकार (प्रणव) है, वही उद्गीथ है। जो प्रारम्भिक नाम से युक्त तत्त्व है, वही

सभी को प्रादुर्भूत करने वाला है। वह नाम तथा रूप से युक्त है, निद्रारहित और वृद्धावस्था से रहित है, मृत्यु रहित है। इस प्रकार से उसे पाँच भागों (रूपों) में जानना चाहिए। वह हृदय रूप गुफा में ही निवास करता है, ऐसा श्रुति का मत है। इस ॐकार रूप परमात्मा का मूल ऊर्ध्व की ओर और जहाँ तक ब्रह्म है, वहाँ तक इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं। वे समस्त शाखाएँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि के रूप में हैं। इस एक ही तत्त्व के माध्यम से यह सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है। वही ब्रह्म है। यह समस्त विश्व उस (ॐकार) का ही स्वरूप है। यह सूर्य भी ॐकार का ही रूप है। अतः ॐकार के द्वारा उस (सूर्य) की सदा प्रार्थना करनी चाहिए। इसी एकमात्र ॐकार से ही उसके रस का बोध किया जा सकता है, ऐसा श्रुतियों का मत है। यही पवित्र 'अक्षर रूप ब्रह्म है', इसी ॐकाररूप अक्षर का बोध करके मनुष्य जो भी चाहे, इच्छानुसार प्राप्त कर सकता है॥ ४॥

अथान्यत्राप्युक्तं स्तनयत्येषास्य तनूर्यां ओमिति स्त्रीपुंनपुंसकमिति लिङ्गवत्-येषाथाग्निर्वायुरादित्य इति भास्वत्येषाथ रुद्रो विष्णुरित्यधिपतिरित्येषाथ गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीय इति मुखवत्येषाथ ऋग्यजुःसामेति विजानात्येषाथ भूर्भुवः स्वरिति लोकवत्येषाथ भूतं भव्यं भविष्यदिति कालवत्येषाथ प्राणोऽग्निः सूर्य इति प्रतापवत्येषा-थान्नमापश्चन्द्रमा इत्याप्यायनवत्येषाथ बुद्धिर्मनोऽहंकार इति चेतनवत्येषाथ प्राणोऽपानो व्यान इति प्राणवत्येके त्यजामीत्युक्तैताह प्रस्तोतार्पिता भवतीत्येवं ह्याहैतद्वै सत्यकाम परं चापरं च यदोमित्येतदक्षरमिति॥ ५॥

पुनः इसके पश्चात् अन्यत्र कहा गया है कि इस (ब्रह्मा) का शरीर जो शब्द उच्चारित करता है, उसे ॐ कहते हैं। यह (ॐकार) स्त्री-पुरुष एवं नपुंसक इन तीनों लिङ्गों से युक्त है। अग्नि, वायु एवं सूर्य के रूप में यह प्रकाश देने वाला है तथा ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु के रूप में अधिपति स्वरूप है। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ये ही तीनों अग्नियाँ उसके तीन मुख हैं तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को भी वह जानने में समर्थ है। भूः, भुवः और स्वः ये तीन लोक भी इसी के रूप हैं। उस ॐकार रूप ब्रह्म के भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीन काल हैं। प्राण, अग्नि और आदित्य उसके प्रताप हैं। अन्न, जल और चन्द्रमा उसके पोषक तत्त्व हैं। बुद्धि, मन और अहंकार ये तीनों उसकी चेतना हैं तथा प्राण, अपान एवं व्यान उसके प्राण हैं। ऐसा ही अनेकों ने कहा है। यह स्तुति करने वाला तथा स्वयं अर्पित करनेवाला कहा गया है, ऐसा श्रुति का वचन है। हे सत्य कामना वाले! यही (ॐकार) पर एवं अपर रूप ब्रह्म है। यह ॐकार ही अक्षर है॥ ५॥

अथ व्यात्तं वा इदमासीत्सत्यं प्रजापतिस्तपस्तत्प्वा अनुव्याहरद्भूर्भुवः स्वरित्येषा हाथ प्रजापतेः स्थविष्ठा तनूर्वा लोकवतीति स्वरित्यस्याः शिरो नाभिर्भुवो भूः पादा आदित्यश्चक्षुरायत्तः पुरुषस्य महतो मात्राश्चक्षुषा ह्ययं मात्राश्चरति सत्यं वै चक्षुरक्षिण्युपस्थितो हि पुरुषः सर्वार्थेषु वदत्येतस्माद्भूर्भुवः स्वरित्युपासीतान्नं हि प्रजापति-र्विश्वात्मा विश्वचक्षुरिवोपासितो भवतीत्येवं ह्याहैषा वै प्रजापतिर्विश्वभृत्तनूरेतस्यामिदं सर्वमन्तर्हितमस्मिंश्च सर्वस्मिन्नेषान्तर्हितेति तस्मादेषोपासीतेति॥ ६॥

इसके अनन्तर इस (ॐकाररूप ब्रह्म) ने जो विस्तार किया, वही सत्य है। प्रजापति ने कठोर तप

करके उन तीन व्याहृतियों भूः, भुवः और स्वः का उच्चारण किया। यही (व्याहृतियाँ) प्रजापति का स्थूल शरीर है। इसका निर्माण लोकों के द्वारा हुआ है। स्वः उसका मस्तक है, भुवः नाभि है, भूः पैर हैं और आदित्य उसके नेत्र हैं। यह सब उसके अधीन है। महापुरुषों की ये मात्राएँ (अंश) हैं। यह (पुरुष) नेत्रों के द्वारा इन मात्राओं में गमन करता है। सत्य ही नेत्र हैं। नेत्र में स्थित पुरुष ही सभी पदार्थों के विषय में बतलाता है। अतः भूः, भुवः और स्वः इस विधि के अनुसार ही उपासना करनी चाहिए। अन्न ही प्रजापति है। वह सभी का आत्मा तथा सभी का चक्षु है, वह उपास्य है, ऐसा वेद भी कहते हैं। यह प्रजापति ही समस्त विश्व को धारण करने वाला शरीर है, इसमें वह सभी कुछ स्थित है तथा वह इन सभी में विद्यमान है। अतः इसी श्रेष्ठ तत्त्व की उपासना करनी चाहिए॥ ६॥

तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणाय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै तेऽवस्थिता योऽस्य भर्गः कं संचिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ धियो यो नः प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योऽस्माकं प्रचोदयादित्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्ग इति यो ह वा अस्मिन्नादित्ये निहितस्तारकेऽक्षिणि वैष भर्गाख्यो भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गो भर्जति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ भ इति भासयतीमाँल्लोकान् र इति रञ्जयतीमानि भूतानि ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भरगत्वाद्भर्गः। शश्वत्सूयमानत्वात्सूर्यः सवनात्सविताऽऽदानादादित्यः पवनात्पावमानोऽथायनादादित्य इत्येवं ह्याह खल्वात्मनात्मामृताख्यश्चेता मन्ता गन्ता स्रष्टाऽऽनन्दयिता कर्ता वक्ता रसयिता घ्राता स्पर्शयिता च विभुर्विग्रहे सन्निविष्ट इत्येवं ह्याहाथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयते चैव स्पर्शयति सर्वमात्मा जानीतेति यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं किं तदङ्ग वाच्यम् ॥ ७॥

'तत्सवितुर्वरेण्यं' यही उस सविता का प्रकाश है अथवा स्वयं ही यह आदित्य है और यही समस्त प्राणि-समुदाय को उत्पन्न करने वाला 'सविता' है। ऐसा जानकर आत्मतत्त्व की इच्छा रखने वाले को, उसी को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ऐसा ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले कहते हैं। अब 'भर्गो देवस्य धीमहि' इस पद का विवेचन करते हैं; इसके अनुसार क्योंकि वह 'भर्ग' सम्मुख ही उपस्थित रहता है। उनका जो 'भर्ग' है, वह बुद्धि (ज्ञान) को प्राप्त करता रहता है। ब्रह्मवादी प्रायः प्रश्न करते रहते हैं कि हम किसका चिंतन करें? तो इसका उत्तर यह है कि हम उस 'भर्ग शक्ति' का ही ध्यान करें। अब 'धियो यो नः प्रचोदयात्' की विवेचना करते हैं। इसके अनुसार बुद्धि को ही 'धी' कहते हैं। 'जो हमारी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करता है - सन्मार्ग की ओर उन्मुख करता है' ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं। 'भर्ग' वही है, जो सूर्य में निहित है। आँख की पुतली में भी 'भर्ग' स्थित है। इसकी कान्ति से मनुष्य गति करता है, अतः यह 'भर्ग' है अथवा यह सभी को तप्त करता है, इस कारण से यह 'भर्ग' कहलाता है। यह रुद्र को ब्रह्म मानने वालों के विचार हैं। 'भ' अर्थात् लोकों को प्रकाशित करने वाला, 'र' अर्थात् समस्त प्राणियों का रञ्जन करने वाला एवं 'ग' अर्थात् प्राणियों-प्रजाओं के गमनागमन का आधार स्वरूप, इस प्रकार भ, र, ग होने से भर्ग है। निरन्तर प्रसव (जन्म देने) के कारण सूर्य कहलाता है, सबको प्रादुर्भूत करने के कारण

'सविता' कहलाता है। सबको प्रकाश देने के कारण आदित्य और सबको पवित्र करता है, इससे पवमान कहलाता है अथवा सभी की ओर गमन करने से तथा सभी का अयन (आश्रय स्थल) होने से उसे 'आदित्य' कहते हैं। वह स्वयं ही आत्मा है। इसका नाम अमृत है, सर्वज्ञ है, चिन्तन करता है, गति करता है, सृजन करता है, आनन्द प्रदान करता है, स्वयं कहता है, स्वाद लेता है, सूँघता है, स्पर्श करता है, समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और उत्तम स्वाद से युक्त है, ऐसा (वेद) कहते हैं। जहाँ पर विज्ञान द्वैत (दो) रूप में होता है, वहाँ जो सुनता है, देखता है, सूँघता है, स्वाद लेता है और स्पर्श करता है, वह सब आत्मा ही है, इस तरह से तुम ऐसा निश्चय रखो। जहाँ विज्ञान अद्वैत हो जाता है, वहाँ कार्य और कारण से रहित, वर्णनातीत, उपमारहित तथा व्याख्या विहीन हो जाता है। ऐसे उस 'भर्ग-शक्ति' के संदर्भ में क्या कहा जाए?॥ ७॥

एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड्हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निना पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनानन्देनैष वाव विजिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वारण्यं गत्वाथ बहिःकृतेन्द्रियार्थान्स्वशरीरादुपलभतेऽथैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ ८॥

(हे श्रेष्ठ मुने!) यही आत्मा है, यही सबका नियन्ता, ईश्वर, शंकर, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शास्ता (उपदेशक), विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और चन्द्र भी वही है। जो इस अग्नि के रूप में तप है और सहस्रों के चक्षु रूप में प्रकाशमय आनन्द से परिपूर्ण है, वही जानने योग्य है। सभी प्राणियों को अभय-दान प्रदान करके तपोवन में जाकर उस 'ॐकार' का अनुसंधान करना चाहिए। (जो मनुष्य) इन्द्रियों के विषय-भोगों का बहिष्कार करते हैं, उनको अपने शरीर में से ही वह (प्रकाश तत्त्व) प्राप्त हो जाता है। यही विश्वरूप, मनोहर, जन्म ग्रहण करने वालों का पूर्ण ज्ञाता है, सभी का परम आश्रय स्थल और ज्योतिरूप से तप्त (प्रकाशित) होता है। यह सूर्य-सविता (परमात्मा) सहस्रों रश्मियों से युक्त, सैकड़ों तरह से वर्तमान तथा समस्त प्रजाजनों का प्राणरूप होकर प्रकट होता है॥ ८॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु.....इति। शान्तिः॥

॥ इति मैत्रायण्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ शिवसङ्कल्पोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् 'ईशोपनिषद्' की तरह ही शुक्ल यजुर्वेद का अंश (अध्याय ३४ मन्त्र १-६) है। इसमें केवल छः मंत्र हैं, जिनमें मन की अद्भुत सामर्थ्यों का वर्णन करते हुए उस मन को 'शिव संकल्प' युक्त बनाने की प्रार्थना की गयी है। मनुष्य का मन बड़ा सामर्थ्यवान् है, उसमें जो संकल्प जाग जाएँ, उससे उसे विरत करना बड़ा कठिन है। इसलिए ऋषि उसे शुभ-कल्याणकारी संकल्पयुक्त बनाने के लिए ही प्रार्थना करते हैं। मंत्रों का गठन इतना सारगर्भित एवं भावपूर्ण बन पड़ा है कि उन्हें स्वतंत्र रूप से एक उपनिषद् की मान्यता दी गयी है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ १॥

हे परमात्मन्! जो मन जाग्रत् अवस्था में दूर-दूर तक गमन करता है और उसी प्रकार सुप्तावस्था में भी दूर-दूर तक जाता है; वही (मन) निश्चित रूप से इन्द्रियों का प्रकाशक है, जीवात्मा का एकमात्र माध्यम है, ऐसा हमारा वह मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ १॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २॥

हे परमेश्वर! जिस मन के द्वारा मनीषीगण यज्ञ आदि सत्कर्मों का सम्पादन करते हैं। जो सबके शरीर में विद्यमान है तथा यज्ञादिकों में अपूर्व एवं आदरणीय भाव से सुशोभित रहता है, वह हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ २॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३॥

हे प्रभो! जो मन प्रखर ज्ञान से सम्पन्न, चेतनशील, धैर्य सम्पन्न है, जो समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में अमर प्रकाश-ज्योतिःरूप में स्थित है, जिसके बिना कोई भी कार्य किया जाना सम्भव नहीं हो पाता; वह हमारा मन श्रेष्ठ- कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो ॥ ३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४॥

जिस अविनाशी मन की सामर्थ्य से सभी कालों का ज्ञान (प्रत्यक्षीकरण) किया जाता है तथा जिसके द्वारा सप्त होतागण यज्ञ का विस्तार करते हैं, ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ४॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ५॥

जिस (मन) में वैदिक ऋचाएँ प्रतिष्ठित हैं, जिसमें साम और यजुर्वेद के मन्त्र उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जिस प्रकार रथ के पहिये में 'अरे' स्थित होते हैं तथा जिस मन में प्रजाजनों के समस्त ज्ञान समाहित हैं, ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

जिस प्रकार कुशल 'सारथि' लगाम के नियन्त्रण से गतिमान् अश्वों को गन्तव्य पथ पर अभीष्ट दिशा में ले जाता है, उसी प्रकार जो मन मनुष्यों को लक्ष्य तक पहुँचाता है, जो जरारहित, अतिवेगशील(मन) इस हृदय स्थान में स्थित है; ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ६॥

॥ शुकरहस्योपनिषद् ॥

यह कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इस उपनिषद् में महर्षि व्यास जी के आग्रह पर भगवान् शिव ने शुकदेव जी को उपदेश दिया है। शुकदेवजी ने उनसे चार महावाक्यों १. ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म, २. ॐ अहं ब्रह्मास्मि, ३. ॐ तत्त्वमसि एवं ४. ॐ अयमात्मा ब्रह्म के सम्बन्ध में षडङ्गन्यास पूर्वक जानना चाहा। उपनिषद् के पहले -दूसरे खण्डों में उक्त घटना, प्रश्न तथा न्यासादि का वर्णन है। तीसरे खण्ड में चारों महावाक्यों की व्याख्या पदविन्यास पूर्वक की गई है। अंत में इस ज्ञान को हृदयंगम करने से शुकदेव जी की चेतना का चराचर के साथ संयुक्त हो जाने का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अमृतनादोपनिषद्)

अथातो रहस्योपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब रहस्योपनिषद् का वर्णन किया जाता है॥ १ ॥

देवर्षयो ब्रह्माणं संपूज्य प्रणिपत्य पप्रच्छुर्भगवन्नस्माकं रहस्योपनिषदं ब्रूहीति॥ २ ॥

एक बार देवर्षियों ने देव ब्रह्माजी की पूजा की और हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए उनसे निवेदन किया - भगवन्! आप हमारे लिए रहस्योपनिषद् का उपदेश करें॥ २ ॥

सोऽब्रवीत्-पुरा व्यासो महातेजाः सर्ववेदः तपोनिधिः। प्रणिपत्य शिवं साम्बं कृताञ्जलिरुवाच ह॥ ३ ॥

इस पर ब्रह्मा जी ने कहा-प्राचीनकाल में महातेजस्वी, तपोनिष्ठ, सम्पूर्ण वेदों के विग्रह स्वरूप श्री वेदव्यास जी ने पार्वती सहित भगवान् शिव को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की॥ ३ ॥

श्रीवेदव्यास उवाच-

देवदेव महाप्राज्ञ पाशच्छेददृढव्रत। शुकस्य मम पुत्रस्य वेदसंस्कारकर्मणि॥ ४ ॥

ब्रह्मोपदेशकालोऽयमिदानीं समुपस्थितः। ब्रह्मोपदेशः कर्त्तव्यो भवताद्य जगद्गुरो॥

श्री वेदव्यास बोले-हे देवों के देव-महादेव! महाप्राज्ञ! हे जगत् पाशों के उच्छेदक! हे सुदृढ़ व्रतधारी! मेरे पुत्र शुकदेव के वेदाध्ययन संस्कार कर्म में प्रणव और गायत्री मन्त्रोपदेश का समय आ गया है। हे जगद्गुरो! आप उसके लिए मन्त्रोपदेश कर्त्तव्य को स्वीकार करें॥ ४-५ ॥

ईश्वर उवाच -

मयोपदिष्टे कैवल्ये साक्षाद्ब्रह्मणि शाश्वते ।

विहाय पुत्रो निर्वेदात्प्रकाशं यास्यति स्वयम्॥ ६ ॥

भगवान् शिव ने कहा- हे महामुने ! यदि मैं तुम्हारे पुत्र को शुद्धस्वरूप साक्षात् सनातन परब्रह्म का उपदेश करूँगा, तो वह सब कुछ त्यागकर, वैराग्यवान् होकर स्वयं ही प्रकाशस्वरूप को प्राप्त हो जाएगा॥६ ॥

श्री वेदव्यास उवाच -

यथा तथा वा भवतु ह्युपनायनकर्मणि। उपदिष्टे मम सुते ब्रह्मणि त्वत्प्रसादतः॥

श्री वेदव्यास जी ने निवेदन किया- चाहे जैसा भी हो, मेरे पुत्र के उपनयन संस्कार कर्म में आप अनुग्रहपूर्वक उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें॥ ७ ॥

सर्वज्ञो भवतु क्षिप्रं मम पुत्रो महेश्वर। तव प्रसादसंपन्नो लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम्॥

हे महेश्वर! मेरा पुत्र शीघ्र ही सर्वज्ञानी हो और आपके अनुग्रह का पात्र बनकर वह चतुर्विध मुक्ति (सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सालोक्य) को प्राप्त हो जाए ॥ ८॥

तच्छ्रुत्वा व्यासवचनं सर्वदेवर्षिसंसदि।
उपदेष्टुं स्थितः शम्भुः साम्बो दिव्यासने मुदा॥ ९॥

श्री वेदव्यास जी की प्रार्थना स्वीकार कर भगवान् शिव भगवती उमा सहित देवर्षियों की सभा में उपदेश देने के लिए गये और प्रसन्नतापूर्वक एक दिव्य आसन पर अधिष्ठित हुए॥ ९॥

कृतकृत्यः शुकस्तत्र समागत्य सुभक्तिमान्।
तस्मात् स प्रणवं लब्ध्वा पुनरित्यब्रवीच्छिवम्॥ १०॥

वहाँ शुकदेव मुनि भगवान् शिव से भक्तिपूर्ण अवस्था में सत्संग का लाभ लेकर कृतकृत्य हुए। प्रणव दीक्षा लेकर पुनः वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे॥ १०॥

श्रीशुक उवाच-

देवादिदेव सर्वज्ञ सच्चिदानन्दलक्षण। उमारमण भूतेश प्रसीद करुणानिधे॥ ११॥

मुनि शुकदेव जी ने निवेदन किया- हे देवों के आदि देव! हे सर्वज्ञ! हे सच्चिदानन्द स्वरूप! हे उमापते! आप सम्पूर्ण प्राणियों पर कृपा करने वाले करुणा के भण्डार हैं, आप मुझ पर प्रसन्न हों॥ ११॥

उपदिष्टं परंब्रह्म प्रणवान्तर्गतं परम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यानां प्रज्ञादीनां विशेषतः॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन षडङ्गानि यथाक्रमम्। वक्तव्यानि रहस्यानि कृपयाद्य सदाशिव।

आपने मेरे लिए प्रणव स्वरूप और उससे परे परब्रह्म का उपदेश किया है, परन्तु मैं विशेषरूप से 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' प्रभृति महावाक्यों का तत्त्व षडङ्गन्यास क्रमपूर्वक सुनने की इच्छा रखता हूँ। हे सदाशिव! कृपापूर्वक मेरे लिए उन रहस्यों को प्रकट करें॥ १२-१३॥

श्रीसदाशिव उवाच-

साधु साधु महाप्राज्ञ शुक ज्ञाननिधे मुने। प्रष्टव्यं तु त्वया पृष्टं रहस्यं वेदगर्भितम्॥

भगवान् शिव ने कहा- हे ज्ञाननिधि मुनि शुकदेव ! तुम निश्चय ही महान् प्रज्ञावान् हो। तुमने वेदों के गूढ़ रहस्यों के व्यावहारिक स्वरूप का प्रश्न किया है॥ १४॥

रहस्योपनिषन्नाम्ना सषडङ्गमिहोच्यते। यस्य विज्ञानमात्रेण मोक्षः साक्षान्न संशयः॥

सो मैं तुम्हारे लिए इस रहस्योपनिषद् नामक गूढ़ विषय का षडङ्गन्यास पूर्वक वर्णन करता हूँ। इसका (अनुभूतिजन्य) विशेष ज्ञान हो जाने से साक्षात् मोक्ष प्राप्ति में कोई संशय नहीं है॥ १५॥

अङ्गहीनानि वाक्यानि गुरुर्नोपदिशेत्पुनः।
सषडङ्गान्युपदिशेन्महावाक्यानि कृत्स्नशः॥ १६॥

उपयुक्त यही है कि गुरु के द्वारा अङ्गहीन वाक्यों का उपदेश नहीं किया जाना चाहिए, सब महावाक्यों का षडंग सहित उपदेश करना चाहिए॥ १६॥

चतुर्णामपि वेदानां यथोपनिषदः शिरः। इयं रहस्योपनिषत्तथोपनिषदां शिरः॥

जैसे चारों वेदों में उपनिषदें सर्वश्रेष्ठ हैं, वैसे सम्पूर्ण उपनिषदों में रहस्योपनिषद् सर्वश्रेष्ठ है॥ १७॥

रहस्योपनिषद्ब्रह्म ध्यातं येन विपश्चिता। तीर्थैर्मन्त्रैः श्रुतैर्जप्यैस्तस्य किं पुण्यहेतुभिः॥

जिस तत्त्वदर्शी विचारक ने इस रहस्योपनिषद् में वर्णित ब्रह्म का चिन्तन-मनन किया है, उसे पुण्यदायक कारणों तीर्थ-सेवन, मन्त्र-पाठ, वेद-पाठ तथा जप आदि करने से क्या प्रयोजन है?॥ १८॥

वाक्यार्थस्य विचारेण यदाप्नोति शरच्छतम्। एकवारजपेनैव ऋष्यादिध्यानतश्च यत्॥

सौ शरद्-ऋतुओं (वर्षों) तक महावाक्यों के अर्थों पर विचार करने से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल इन वाक्यों के ऋष्यादि के स्मरण सहित एक बार जप करने से ही प्राप्त होता है॥ १९॥

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म तर्जनीभ्यां स्वाहा। नित्यानन्दमयं ब्रह्म मध्यमाभ्यां वषट्। यो वै भूमा अनामिकाभ्यां हुम्। यो वै भूमाधिपतिः कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म हृदयाय नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म शिरसे स्वाहा। नित्यानन्दमयं ब्रह्म शिखायै वषट्। यो वै भूमा कवचाय हुम्। यो वै भूमाधिपतिः नेत्रत्रयाय वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म अस्त्राय फट्। भूर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २०॥

ॐ इस महावाक्य महामंत्र के हंस ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है, परमहंस देवता हैं, हं बीज मंत्र है, सः शक्ति है, सोऽहं कीलक है। परमहंस देवता की प्रीति के लिए महावाक्य जपने हेतु मेरे द्वारा विनियोग है। करन्यास के लिए ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय और अनन्त है, उसे नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श ब्रह्म नित्य (शाश्वत) आनन्द स्वरूप है, उसे नमन है- तर्जनी अँगुली का स्पर्श। ब्रह्म नित्यआनन्दमय है, उसे नमन है- मध्यमा अँगुली का स्पर्श। जो अति- विस्तृत है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- अनामिका अँगुली का स्पर्श। जो अतिविस्तृत का (भी) अधिपति है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- कनिष्ठिका अँगुली का स्पर्श। ब्रह्म एक एवं अद्वितीय है, उसे नमन है- करतल एवं कर पृष्ठ का स्पर्श। ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय एवं अनन्त है उसे नमन है- हृदय (स्थान) का स्पर्श। ब्रह्म नित्य आनन्द स्वरूप है, उसे नमस्कार है, सिर का स्पर्श। ब्रह्म नित्य आनन्दमय है, उसे नमन है- शिखा का स्पर्श। जो विस्तृत है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- दायें -बाँयें कन्धे का स्पर्श। जो विस्तृत का अधिपति है, (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- दोनों नेत्रों का स्पर्श। ब्रह्म एक और अद्वितीय है, उसे नमन है- दायें हाथ को सिर के ऊपर से घुमाकर बायें हाथ पर ताली बजाएँ। ॐ (परब्रह्म) भूः (भू), भुवः (अन्तरिक्ष) और स्वः (द्युलोक) में संव्याप्त है, उसे नमस्कार है- सभी दिशाओं से रक्षा का विधान ॥ २०॥

ध्यानम्-

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्। एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥ २१॥

ध्यान-जो सदा ही आंनन्दरूप, श्रेष्ठ सुखदायी स्वरूप वाले, ज्ञान के साक्षात् विग्रह रूप हैं। जो संसार के द्वन्द्वों (सुख-दुःखादि) से रहित, व्यापक आकाश के सदृश (निर्लिप्त) है तथा जो एक ही परमात्म तत्त्व को सदैव लक्ष्य किये रहते हैं। जो एक हैं, नित्य हैं, सदैव शुद्ध स्वरूप है, (झंझावातों में)

अचल रहने वाले, सबकी बुद्धि में अधिष्ठित, सब प्राणियों के साक्षिरूप, राग-आसक्ति आदि भावों से दूर, लोभ, मोह, अहंकार जैसे सामान्य त्रिगुणों से रहित हैं, उन सद्गुरु को हम नमस्कार करते हैं॥ २१॥

अथ महावाक्यानि चत्वारि। यथा ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म॥ १॥ ॐ अहं ब्रह्मास्मि॥ २॥ ॐ तत्त्वमसि ॥ ३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म॥ ४॥ तत्त्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जपन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तिभाजो भवन्ति॥ २२॥

अब चार महावाक्य दिये जाते हैं। ॐ प्रज्ञानम् ब्रह्म (प्रकृष्ट ज्ञान ब्रह्म है)॥ १॥ ॐ अहं ब्रह्मास्मि(मैं ब्रह्म हूँ)॥ २॥ ॐ तत्त्वमसि(वह ब्रह्म तुम्हीं हो)॥ ३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म(यह आत्मा ब्रह्म है)॥ ४॥ इनमें से यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य ब्रह्म से अभेद का प्रतिपादन करता है। जो साधक इसका जप (चिन्तन-मनन) करते हैं, वे भगवान् शिव की सायुज्य मुक्ति का फल प्राप्त करते हैं॥

आगे 'ॐ तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद के षडंग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

तत्पदमहामन्त्रस्य । हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम् । मम सायुज्यमुक्त्यर्थे जपे विनियोगः । तत्पुरुषाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ईशानाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। अघोराय मध्यमाभ्यां वषट्। सद्योजाताय अनामिकाभ्यां हुम्। वामदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्यो नमः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः ॥ २३॥

तत्पुरुष को नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श। ईशान को नमन - तर्जनी का स्पर्श। अघोर को नमन- मध्यमा अँगुली का स्पर्श। सद्योजात को नमन- अनामिका का स्पर्श। वामदेव को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श तत्पुरुष, ईशान, अघोर, सद्योजात और वामदेव को नमन है- करतल-करपृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादि न्यास का क्रम है। ॐ (परमात्मा) भूः (भूलोक), भुवः (अन्तरिक्ष लोक) एवं स्वः (द्युलोक) में संव्याप्त है- उसे नमस्कार है- सभी दिशाओं से रक्षा का विधान ॥ २३॥

ध्यानम् -

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च ।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपं ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम्॥ २४॥

वह ज्ञानरूप, जानने योग्य है एवं ज्ञानगम्यता से परे भी है। वह विशुद्ध रूप, बुद्धिरूप, मुक्तरूप, अविनाशी रूप है। वही सत्य, ज्ञान, सच्चिदानंदरूप ध्यान करने योग्य है। हमें उस महातेजस्वी देव का ध्यान करना चाहिए॥ २४॥

आगे 'ॐ तत्त्वमसि' महावाक्य के 'त्वम्' पद के षडङ्ग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

त्वंपदमहामन्त्रस्य विष्णुर्ऋषिः। गायत्रीछन्दः। परमात्मा देवता। ऐं बीजम् । क्लीं शक्तिः। सौः कीलकम् । मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः। वासुदेवाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। संकर्षणाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। प्रद्युम्नाय मध्यमाभ्यां वषट्। अनिरुद्धाय अनामिकाभ्यां हुम्। वासुदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् । एवं हृदयादिन्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २५॥

यहाँ महामन्त्र के त्वम् पद के ऋषि- विष्णु हैं। छन्द-गायत्री है। देवता- परमात्मा है। बीज- 'ऐं' है। शक्ति- क्लीं है। कीलक-सौः है। मेरी मुक्ति के लिए जप का विनियोग है। करन्यास- वासुदेव को नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श। संकर्षण को नमन- तर्जनी का स्पर्श। प्रद्युम्न को नमन- मध्यमा का स्पर्श। अनिरुद्ध को नमन- अनामिका का स्पर्श। वासुदेव को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श। वासुदेव, संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को नमन- करतल- कर पृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादिन्यास (अंगन्यास) का क्रम है। 'भूर्भुवः स्वः ॐ' यह दिग्बन्ध है॥ २५॥

ध्यानम्-

जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्डविग्रहम्।
चित्ताहंकारयन्तारं जीवाख्यं त्वं पदं भजे॥ २६॥

आप सभी प्राणियों में जीवस्वरूप हैं, सर्वत्र अखण्ड विग्रह रूप हैं तथा हमारे चित्त और अहंकार पर नियंत्रण करने वाले हैं। जीवों के रूप में त्वं (तत्त्वमसि के अन्तर्गत) पद की हम स्तुति करते हैं॥ २६॥

आगे 'ॐ' तत्त्वमसि महामन्त्र के 'असि' पद के षडंग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

असिपदमहामन्त्रस्य मन ऋषिः। गायत्री छन्दः। अर्धनारीश्वरो देवता। अव्यक्तादिर्बीजम्। नृसिंहः शक्तिः। परमात्मा कीलकम्। जीवब्रह्मैक्यार्थे जपे विनियोगः। पृथ्वीद्व्यणुकाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। अब्द्व्यणुकाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। तेजोद्व्यणुकाय मध्यमाभ्यां वषट्। वायुद्व्यणुकाय अनामिकाभ्यां हुम्। आकाशद्व्यणुकाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादि न्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २७॥

महामन्त्र के 'असि' पद के ऋषि- मन हैं। छन्द-गायत्री है। देवता-अर्धनारीश्वर हैं। बीज-अव्यक्तादि है। शक्ति-नृसिंह है। कीलक- परमात्मा है। जीव-ब्रह्म के ऐक्य के लिए जप में निम्न विनियोग है। करन्यास- पृथ्वी द्वयणुक को नमन- अँगूठे का स्पर्श। अप् (जल) द्वयणुक को नमन- तर्जनी का स्पर्श। तेज (अग्नि) द्वयणुक को नमन-मध्यमा का स्पर्श। वायु द्वयणुक को नमन- अनामिका का स्पर्श। आकाश द्वयणुक को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा आकाश के द्वयणुक को नमन करतल-कर पृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादि न्यास का क्रम है। 'भूर्भुवः स्वः ॐ' यह दिग्बन्ध है॥२७॥

ध्यानम्-

जीवो ब्रह्मेति वाक्यार्थं यावदस्ति मनःस्थितिः।
ऐक्यं तत्त्वं लये कुर्वन्ध्यायेदसिपदं सदा॥ २८॥

जीव ही ब्रह्म है इस महावाक्य के अर्थ पर जो विचार करता -मन को स्थिर करता है, तथा 'असि' पद का सदैव चिन्तन-मनन करता है, वह तत्त्व को ऐक्य प्रदान करने में समर्थ होता है (पंचतत्त्व अन्त में एक- ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।)॥ २८॥

एवं महावाक्यषडङ्गान्युक्तानि॥ २९॥

इस प्रकार महावाक्यों के षडङ्गों का विवेचन किया गया॥ २९॥

अथ रहस्योपनिषद्विभागशो वाक्यार्थश्लोकाः प्रोच्यन्ते॥ ३०॥

अब रहस्योपनिषद् के वाक्यों के अर्थ वाचक श्लोकों का उपदेश किया जाता है॥ ३०॥

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च। स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम्॥

प्राणी जिसके द्वारा देखता, सुनता, सूँघता, बोलता और स्वाद-अस्वाद का अनुभव करता है, वह प्रज्ञान कहा जाता है॥ ३१॥

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु। चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि॥ ३२॥

चतुर्मुख ब्रह्मा, इन्द्रदेव, सम्पूर्ण देवता, मनुष्य, अश्व, गौ आदि पशु और अन्य सभी प्राणियों में एक ही चैतन्य सत्ता- 'ब्रह्म' अवस्थित है, वही प्रज्ञान ब्रह्म मुझमें भी समाया हुआ है॥ ३२॥

परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥ ३३॥

यह हमारा शरीर ही परिपूर्ण ब्रह्मविद्या प्राप्ति का अधिकारी है। इसमें साक्षिरूप में अवस्थित परमात्म-बुद्धि के स्फुरित होने पर उसे 'अहं' कहा जाता है॥ ३३॥

स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्॥ ३४॥

स्वतः स्थापित परिपूर्ण परमात्मा को यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से वर्णित किया गया है। 'अस्मि' शब्द से ब्रह्म और जीव की एकता का बोध होता है। इस प्रकार 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (यह अर्थ निकलता है।)॥ ३४॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्। सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥

सृष्टि के पूर्व द्वैत के अस्तित्व से रहित, नाम एवं रूप से रहित, एकमात्र, सत्यस्वरूप, अद्वितीय 'ब्रह्म' था तथा वह ब्रह्म अब भी विद्यमान है। वही ब्रह्म 'तत्' पद (तत्त्वमसि) में वर्णित है॥ ३५॥

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्। एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्॥

उपदेशों का श्रवण करने वाले शिष्य के आत्मतत्त्व को, जो शरीर-इन्द्रियों से परे है, 'त्वम्' पद से वर्णित किया गया है। 'असि' पद के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ ब्रह्म और आत्म तत्त्व के ऐक्य को अनुभव करना चाहिए ॥ ३६॥

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्। अहंकारादिदेहान्तं प्रत्यगात्मेति गीयत॥

उस ('अयमात्मा ब्रह्म' के अन्तर्गत) स्वप्रकाशित परोक्ष (प्रत्यक्ष शरीर से परे) तत्त्व को 'अयं' पद के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अहंकार से लेकर शरीर तक को प्रत्यक् आत्मा कहा गया है॥ ३७॥

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते। ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्॥

इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् में जो तत्त्व संव्याप्त है, वह ब्रह्म शब्द से वर्णित किया जाता है। वही ब्रह्म स्वयं प्रकाशित आत्मतत्त्व के रूप में (प्राणियों में) संव्याप्त है॥ ३८॥

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्।
स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः॥ ३९॥

मैं अनात्म पदार्थों में आत्म तुष्टि के कारण अविवेक की निद्रा में, 'मैं,' 'मेरे' की सम्मोहित स्थिति

में स्वप्न सदृश विचरण कर रहा था। गुरु द्वारा प्रदत्त महावाक्य पदों के उपदेश से, आत्मस्वरूप सूर्य के अभ्युदय से मैं प्रबुद्ध हुआ हूँ। (ऐसा मुनि शुकदेव अनुभव करते हैं।) ॥ ३९ ॥

वाच्यं लक्ष्यमिति द्विधार्थसरणीवाच्यस्य हि त्वंपदे वाच्यं भौतिकमिन्द्रियादिरपि यल्लक्ष्यं त्वमर्थश्च सः। वाच्यं तत्पदमीशताकृतमतिर्लक्ष्यं तु सच्चित्सुखानन्दब्रह्म तदर्थ एष च तयोरैक्यं त्वसीदं पदम्॥ ४० ॥

महावाक्यों के अर्थों के निमित्त वाच्य और लक्ष्य दोनों अर्थों का अनुसरण करना चाहिए। वाच्यानुसार भौतिक इन्द्रियादि भी 'त्वम्' पद के वाच्य होते हैं, परन्तु इन्द्रियों से परे चैतन्य परमात्मा ही लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार 'तत्' पद का वाच्य प्रभुता सम्पन्न सर्वकर्त्ता परमात्मा और लक्ष्यार्थ सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म है। यहाँ 'असि' पद से उक्त दोनों पदों के लक्ष्यार्थ द्वारा जीवात्मा और ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन हुआ है॥

[वाच्य और लक्ष्य को समझना हर मंत्र एवं महावाक्य के उपयोग के क्रम में आवश्यक है।]

त्वमिति तदिति कार्ये कारणे सत्युपाधौ द्वितयमितरथैकं सच्चिदानन्दरूपम्। उभयवचनहेतू देशकालौ च हित्वा जगति भवति सोऽयं देवदत्तो यथैकः ॥ ४१ ॥

कार्य और कारण रूप दो उपाधियों के द्वारा 'त्वं' और 'तत्' पदों में भेद प्रतिपादित है। उपाधिरहित होने पर दोनों ही एक सच्चिदानंद रूप हैं। जगत् में भी दोनों वचन (यह और वह) प्रत्येक देश और काल में कहा गया है। इनमें यह और वह निकाल देने पर एक ही ब्रह्म शेष रहता है, जैसे - वह देवदत्त है और यह देवदत्त है- इन दोनों वाक्यों में 'देवदत्त' एक ही है।॥ ४१ ॥

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ ४२ ॥

यह जीव कार्यरूप उपाधि वाला और ईश्वर कारण रूप उपाधि वाला है। इन कार्य और कारण रूप उपाधियों को छोड़ देने पर विशुद्ध ज्ञान रूप ब्रह्म ही शेष रहता है॥ ४२ ॥

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्। निदिध्यासनमित्येतत् पूर्णबोधस्य कारणम्॥

शिष्य (साधक) को पूर्ण बोध तभी हो सकता है, जब वह प्रथम गुरु के द्वारा उपदेश सुने, फिर मनन करे, तदनन्तर निदिध्यासन (अनुभूति की साधना) करे॥ ४३ ॥

अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्। ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम्॥

अन्य विद्याओं का भली-भाँति प्राप्त हुआ ज्ञान अवश्य ही नश्वर है, परन्तु ब्रह्म विद्या का भली प्रकार प्राप्त हुआ ज्ञान ब्रह्म प्राप्ति में समर्थ है॥ ४४ ॥

महावाक्यान्युपदिशेत्सषडङ्गानि देशिकः।
केवलं नहि वाक्यानि ब्रह्मणो वचनं यथा॥ ४५ ॥

देव ब्रह्मा जी का वचन है कि गुरु अपने शिष्य को षडंगों से युक्त महावाक्यों का उपदेश करे, महावाक्य मात्र का उपदेश ही न करे॥ ४५ ॥

ईश्वर उवाच-

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठ रहस्योपनिषच्छुक। मया पित्रानुनीतेन व्यासेन ब्रह्मवादिना॥

भगवान् शिव ने मुनि शुकदेव से कहा- हे शुकदेव! तुम्हारे पिता वेदव्यास जी ब्रह्मज्ञानी हैं, उन पर प्रसन्न होकर ही मैंने तुम्हारे प्रति इस रहस्योपनिषद् को कहा है ॥ ४६ ॥

ततो ब्रह्मोपदिष्टं वै सच्चिदानन्दलक्षणम्।
जीवन्मुक्तः सदा ध्यायन्नित्यस्त्वं विहरिष्यसि॥ ४७॥

इसमें सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म का उपदेश है, जो तप से प्राप्त किया जाता है। तुम उस ब्रह्म का चिन्तन करते हुए जीवन मुक्त (जन्म मरण के बन्धन चक्र से मुक्त) हो जाओगे ॥४७॥

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥ ४८॥

जो वेद के आरम्भ में स्वररूप ॐकार उच्चरित होता है तथा जो वेदान्त में प्रतिष्ठित है, जो प्रकृति में समग्र रूप से लीन होकर भी उससे परे है, वही महेश्वर है ॥ ४८॥

उपदिष्टः शिवेनेति जगत्तन्मयतां गतः। उत्थाय प्रणिपत्येशं त्यक्ताशेषपरिग्रहः॥

भगवान् शिव के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर मुनि शुकदेव सम्पूर्ण जगद्रूप परमेश्वर में तन्मय हो गये। तदनन्तर उठकर भगवान् को हाथ जोड़कर प्रणाम कर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके (तपोवन) चल दिये ॥ ४९॥

परब्रह्मपयोराशौ प्लवन्निव ययौ तदा। प्रव्रजन्तं तमालोक्य कृष्णद्वैपायनो मुनिः॥

उन्हें प्रव्रज्या में जाते देखकर श्री वेदव्यास जी (कृष्ण द्वैपायन मुनि) को वियोग दुःख हुआ, परन्तु मुनि शुकदेव परब्रह्म रूप सागर में निर्द्वन्द्व तैरने के समान आनन्दमग्न थे ॥ ५०॥

अनुव्रजन्नाजुहाव पुत्रविश्लेषकातरः। प्रतिनेदुस्तदा सर्वे जगत्स्थावरजङ्गमाः॥५१॥

पुत्र के वियोग में कातर हुए श्री वेदव्यास जी उनके पीछे चलते हुए उन्हें पुकारने लगे। उस समय उनकी पुकार का प्रत्युत्तर सम्पूर्ण जगत् के जड़-चेतन पदार्थों ने दिया ॥ ५१॥

तच्छ्रुत्वा सकलाकारं व्यासः सत्यवतीसुतः।
पुत्रेण सहितः प्रीत्या परानन्दमुपेयिवान्॥ ५२॥

उस उत्तर को सुनकर अपने पुत्र को सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त जानकर सत्यवती पुत्र मुनि वेदव्यास जी ने पुत्र के सहित व्यापक अनन्तरूप परब्रह्म की प्राप्ति की ॥ ५२॥

यो रहस्योपनिषदमधीते गुर्वनुग्रहात्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षात्कैवल्यमश्नुते साक्षात्कैवल्यमश्नुत इत्युपनिषत्॥ ५३॥

जो साधक गुरु के अनुग्रह से इस रहस्योपनिषद् के तत्त्व दर्शन को जान लेता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर साक्षात् कैवल्य पद को प्राप्त होता है, यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ ५३॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐसहनाववतु.....इति। शान्तिः॥

॥ इति शुकरहस्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ अथ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इसमें कुल छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में जगत् का मूल कारण जानने की जिज्ञासा की गई है। चर्चा से निर्णय न हो पाने पर ध्यान द्वारा अनुभूति के आधार पर सृष्टि को क्रमशः एक चक्र, विशिष्ट प्रवाह के रूप में वर्णित किया गया है। मूल तत्त्व, परमात्मतत्त्व को जानने की आवश्यकता तथा उसका फल समझाते हुए जीव, प्रकृति एवं ईश तथा परमात्मा, भोक्ता, भोग्य आदि प्रभागों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अंत में ॐ कार साधना द्वारा तिल में तैल की तरह हृदय प्रदेश में स्थित परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार का निर्देश है। दूसरा अध्याय ध्यान योग साधना परक है। ध्यान का महत्त्व समझाते हुए उसके विधि-विधान, प्राणायाम, स्थान आदि की मर्यादाएँ समझाते हुए उन्नति के लक्षण भी दर्शाए गये हैं। योग साधना से पंचभूत सिद्धि एवं आत्म तत्त्व से ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार की फलश्रुतियाँ बतलाते हुए परमतत्त्व को नमस्कार किया गया है।

तीसरे और चौथे अध्याय में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति संचालन और विलय में समर्थ परमात्म सत्ता की सर्वव्यापकता तथा उसे जानने की महत्ता का वर्णन है। उसे नौ द्वार वाली पुरी में, इन्द्रियरहित-सर्वसमर्थ लघु से लघु और महान् से महान् कहा गया है। जीवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति को एक ही डाल पर बैठे दो पक्षियों की उपमा से समझाया गया है। उस मायापति एवं उसकी माया को जानने की प्रेरणा के साथ उसे जानने के महान् फल का वर्णन तथा मुक्ति के लिए प्रार्थना है।

अध्याय पाँच और छः में विद्या-अविद्या तथा उनके शासक परमात्मा की विलक्षणता बतलाकर परमात्मा को ही उपास्य मानने वाले औपनिषदीय ज्ञान का अनुगमन करने की बात कही गई है। जीव के कर्मानुसार उसकी विभिन्न गतियों, नाना योनियों तथा उनसे मुक्ति के उपाय कहे गये हैं। पुनः जगत् का कारण जड़ प्रकृति के स्थान पर परमात्म तत्त्व को निरूपित किया गया है। उसके लिए ध्यान, उपासना एवं ज्ञानयोग का आश्रय लेने की बात कहकर परमात्मा की सर्वव्यापकता तथा सर्वसमर्थता सिद्ध की गई है। अन्त में यह विद्या सुपात्र को ही दी जाय, यह निर्देश दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता ऋषि कहते हैं- इस जगत् का मूल कारण ब्रह्म किस रूप में है ? हम किससे उत्पन्न हुए हैं ? हम किससे जीवित रहते हैं ? हम कहाँ प्रतिष्ठित हैं ? हे ब्रह्मज्ञ महर्षियो ! हम किसकी प्रेरणा से सुख-दुःख का अनुभव करते हुए संसार-चक्र व्यवस्था में भ्रमण करते हैं ? ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

काल, स्वभाव, सुनिश्चित कर्मफल व्यवस्था, आकस्मिक घटना, पंचमहाभूत और जीवात्मा-ये इस जगत् के कारणभूत तत्त्व हैं या नहीं, इन पर सदैव विचार करना चाहिए। इन सब का समुदाय भी इस जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि ये आत्मा के अधीन हैं। आत्मा भी कारण नहीं; क्योंकि यह सुख-दुःख के कारणभूत कर्मफल व्यवस्था के अधीन है ॥ २ ॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥

तब उन्होंने ध्यान योग का अवलम्बन लिया, जिससे उन्हें अपने गुणों से आच्छादित ब्रह्मस्वरूप आत्मशक्ति का साक्षात्कार हुआ, जो काल, स्वभाव आदि से लेकर आत्मा तक सभी कारणों का एकमात्र अधिष्ठाता है ॥३॥

[केवल बौद्धिक विवेचन द्वारा ब्रह्म का बोध सम्भव नहीं है, ध्यान के अन्तर्गत आत्म चेतना द्वारा ही गुणों के आवरण को भेदकर उस परम तत्त्व का अनुभव किया जा सकता है।]

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥ ४॥

उन्होंने एक ऐसे चक्र को देखा, जो एक नेमि, तीन वृतों, सोलह अन्त (सिरों), पचास अरों, बीस प्रत्यरों (सहायक अरों), छः अष्टकों, एक ही पाश से युक्त, एक मार्ग के तीन विभेदों, दो निमित्त तथा मोह रूपी एक नाभि वाला था॥ ४॥

[यहाँ विश्व व्यवस्था को एक चक्र (पहिए) के रूप में वर्णित किया गया है। नेमि चक्र को बाँधे रखने वाली एक परिधि (प्रकृति) तथा तीन वृत-तीन (सत्त्व, रज, तम) गुण हैं। परिधि के अन्त- सिरे का जोड़ सोलह कलायें हैं। प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत चौथे एवं पाँचवे मन्त्र में इनका वर्णन है। ५० अरे (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि आदि पचास प्रत्यय) अन्तःकरण की वृत्तियों के ५० भेद तथा बीस सहायक अरे (दस इन्द्रियाँ, ५ विषय एवं ५ प्राण) कहे गये हैं। चक्र में अष्टक किसे कहा गया है, यह स्पष्ट नहीं है। इन छः के आठ-आठ भेद कहे गये हैं- प्रकृति, शरीरगत धातु, सिद्धियाँ, भाव, देवयोनियाँ तथा विशिष्टगुण। तीन मार्ग धर्म, अधर्म एवं ज्ञानमार्ग तथा दो निमित्त- पाप और पुण्य कर्म हैं। यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र मानकर घूम रहे हैं।]

पञ्चस्त्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥ ५॥

हम एक ऐसी नदी को जानते हैं, जो पाँच स्त्रोतों वाली जल-धाराओं से युक्त है, जिसके पाँच उद्गम होने के कारण बड़ी उग्र और टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहती है, जिसमें पाँच प्राणरूप तरंगें हैं, पाँच प्रकार के मानसिक स्तर जिनके आदि मूल (कारण) हैं। जो पाँच भँवरों वाली, पाँच दुःखरूप प्रवाहों के वेग वाली, पाँच पर्वों वाली और पचास भेदों वाली है॥ ५॥

[ऋषि ने यहाँ विश्व प्रवाह को नदी के रूप में वर्णित किया है। पाँच धाराएँ-पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च उद्गम-पञ्च तत्त्व, पाँच प्राण की तरंगें, पाँच भँवरें-पाँच तन्मात्राएँ, पाँच दुःख-गर्भ, जन्म, रोग, जरा और मृत्यु हैं। पाँच विभाग-अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय हैं। अन्तःकरण की ५० वृत्तियाँ उसके भेद हैं। उक्त दोनों उपमाओं की विस्तृत व्याख्या आचार्य शंकर के भाष्य में देखी जा सकती है।]

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥ ६॥

सबके पोषण के आधार रूप, सबके आश्रयरूप इस विस्तृत ब्रह्मचक्र (व्यवस्था) में जीव भ्रमण करता रहता है। इस चक्र से पृथक् होकर जब वह आत्मा को और प्रेरक परमात्मा को सेवा द्वारा संतुष्ट करता है, तो वह अमृतत्व को प्राप्त होता है॥ ६॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७॥

वेदों में वर्णित यह परब्रह्म ही पावन प्रतिष्ठा से युक्त और अविनाशी है। इसमें ही तीनों लोक स्थित हैं। ब्रह्मवेत्ता महापुरुष अपने ही अन्तस् में अधिष्ठित उस ब्रह्म को जानकर उसी में निष्ठापूर्वक लीन होकर विभिन्न योनियों के जन्म-बंधन से मुक्त हो जाते हैं॥ ७॥

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८॥

नश्वर जगत् और अनश्वर चेतना के संयोग से निर्मित यह सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्त विश्व का पोषण वह परमात्मा करता है। जीवात्मा संसार के विषयों का भोक्ता होने के कारण उसमें फँसता है, परन्तु परब्रह्म का ज्ञान होने पर सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ ८॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९॥

ज्ञानी- अज्ञानी, सर्वसमर्थ- असमर्थ यह दोनों (ईश और जीव) अजन्मा ही हैं। भोक्ता (जीव) के लिए एक भोग्या (प्रकृति) भी अजन्मा है। विश्वरूपों में संव्याप्त अनन्त आत्मा-अकर्त्ता (कर्त्तापन के भाव से मुक्त) है। इन तीनों (ईश्वर, जीव और प्रकृति) को जब ब्रह्मयुक्त अनुभव करे, वही यथार्थ ज्ञान है॥ ९॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १०॥

प्रकृति नाशवान् है, इसका भोक्ता जीवात्मा अविनाशी है, एक ही परमात्मा इसे अपने नियन्त्रण में रखता है। उस एक परमात्मा का ध्यान करने से - चिन्तन करने से, उसके तत्त्व की भावना करने से अन्त में विश्वरूप माया से निवृत्ति होती है और आगे उसी परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है॥ १०॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैःक्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११॥

उस परमात्मा को जान लेने पर सम्पूर्ण बन्धनों (विकारों) से मुक्ति मिलती है तथा सम्पूर्ण क्लेश क्षीण होकर जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल जाती है। उस परमात्म-तत्त्व का निरन्तर ध्यान करने से शरीर त्यागने के बाद तृतीय लोक के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के भोग से पूर्ण कामना की प्राप्ति हो जाती है और फिर अन्त में कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है॥ ११॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥१२॥

अपने भीतर अधिष्ठित इस परमात्म तत्त्व को जानना ही चाहिए, क्योंकि इससे श्रेष्ठ जानने योग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जड़ प्रकृति) और परमात्मा, इन तीनों को जो मनुष्य जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है। इन तीनों भेदों में वर्णित ये तत्त्व वस्तुतः एक ही ब्रह्म के रूप हैं॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥१३॥

जिस प्रकार अग्नि का उसके आश्रय स्थान काष्ठ में कोई रूप नहीं दिखता और उसके मूल तत्त्व का भी नाश नहीं होता, क्योंकि आगे प्रयत्न करने पर ईंधन रूप अपने आश्रय में उसे (अग्नि को) ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों ॐकार साधना के द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

साधक को अपनी देह को नीचे की अरणि और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन के अभ्यास से (काष्ठ में) गुह्य अग्नि की भाँति परमात्म तत्त्व को देखना चाहिए॥ १४॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्त्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५॥

जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घी, स्त्रोतों में जल और काष्ठों में अग्नि आदि तत्त्व छिपे रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा अपने अन्तःकरण में ही छिपा हुआ है। जो साधक परमात्मा को सत्य तथा तप के द्वारा मनन पूर्वक देखता है, परमात्मा उसी साधक के द्वारा ग्रहण किया जाता है॥ १५॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति॥ १६॥

साधक दूध में निहित घृत की भाँति आत्मा में स्थित जिस परमात्म तत्त्व को आत्म विद्या और तप के आधार से प्राप्त करता है, वह उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म ही है॥ १६॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ १॥

वह सविता (सबका उत्पादक) देवता हमारे मन तथा बुद्धि को परमात्मा में लगाते हुए हमारी इन्द्रियों को पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठा कर उसमें दिव्य अग्नि का प्रकाश स्थापित करे, ताकि हम जगत् के सार तत्त्व का ही अवलोकन करें॥ १॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या॥ २॥

हम सविता देवता की उपासना के निमित्त यज्ञादि कर्म मनोयोग पूर्वक सम्पन्न करें। इस प्रकार स्वर्गीय आनन्द की प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करें॥ २॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३॥

स्वर्ग तथा आकाश में गमन करने वाले, बृहद् प्रकाश संचरित करने वाले वे सविता देव हमारे मन तथा बुद्धि से (मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता) देवों को संयुक्त करके उन्हें प्रकाश की ओर प्रेरित करें॥३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुःपरिष्टुतिः॥ ४॥

जिसमें सभी ब्राह्मण आदि अपने मन तथा चित्त को लगाते हैं, जिनके निमित्त अग्निहोत्र आदि का विधान किया गया है, जो सभी प्राणियों के विचारों को जानते हैं, उन सवितादेव की हम महती स्तुति करें॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूराः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५॥

हे मन और बुद्धि! तुम्हारे स्वामी और सबके आदिकारण परब्रह्म परमात्मा से मैं नमस्कार के द्वारा संयुक्त होता हूँ। मेरा श्लोक (स्तुतिकर्म) विद्वान् के यश के समान सर्वत्र फैल जाये। दिव्य लोकों में वास करने वाले सभी अमृतरूप परमात्मा के अंशधर पुत्रगण मेरी बात सुनें॥ ५॥

[मन-बुद्धि विकारों के वशीभूत होकर अकड़े रहते हैं, नमन की प्रक्रिया इष्ट के प्रति समर्थन का अभ्यास है। शुद्ध होकर साधक के मन -बुद्धि जब इष्ट से संयुक्त होते हैं, तो उनकी गति और सामर्थ्य व्यापक हो जाती है। मनः शुद्धि की प्रक्रिया आगे स्पष्ट की गई है।]

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभियुज्यते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥६॥

जहाँ अग्नि का मंथन किया जाता है, जहाँ प्राण वायु का विधिवत् निरोध किया जाता है एवं जहाँ सोमरस का प्रखर आनंद प्रकट होता है, वहाँ मन सर्वथा शुद्ध हो जाता है॥ ६॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्। तत्र योनिं कृणवसे नहि ते पूर्वमक्षिपत्॥ ७॥

सविता देवता के द्वारा प्रेरित होकर हमें सबके आदि कारण परमात्मा की आराधना करनी चाहिए, (हे साधक!) तुम उसी परमात्मा का आश्रय ग्रहण करो। इससे तुम्हारे पूर्त कर्म (पुण्य कार्य-स्मार्त कर्म) भी बन्धन प्रदायक नहीं होंगे॥ ७॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥ ८॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह सिर, ग्रीवा और वक्षःस्थल इन तीनों को सीधा और स्थिर रखे। वह उसी दृढ़ता के साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों को मानसिक पुरुषार्थ कर अन्तःकरण में सन्निविष्ट करे और ॐकार रूप नौका द्वारा सम्पूर्ण भयावह प्रवाहों से पार हो जाए॥ ८॥

[इन्द्रियों की सारी सुखाकांक्षाएँ अन्तःकरण से ही उपजती हैं। अन्तःकरण में वे समाविष्ट हो जायें, तो सारे इन्द्रिय-सुखों का अनुभव अन्दर ही किया जा सकता है।]

प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥ ९॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि आहार-विहार की सभी क्रियाओं को विधिवत् सम्पन्न करते हुए प्राणायाम की क्रिया करके जब प्राण क्षीण हो, तो उसे नासिका से बाहर निकाल दे। जिस प्रकार सारथि दुष्ट अश्वों से युक्त रथ को अत्यन्त सावधानी से लक्ष्य की ओर ले जाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष इस मन को अत्यन्त जागरूक होकर वश में किये रहे॥ ९॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ १०॥

साधक को चाहिए कि वह समतल और पवित्र भूमि, कंकड़, अग्नि तथा बालू से रहित, जल के आश्रय और शब्द आदि की दृष्टि से मन के अनुकूल, नेत्रों को पीड़ा न देने वाले (तीक्ष्ण आतप से रहित), गुहा आदि आश्रय स्थल में मन को ध्यान के निमित्त अभ्यास में लगाए॥ १०॥

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ ११॥

योग साधना प्रारम्भ करने पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वरूप सर्वप्रथम कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, जुगनू, विद्युत्, स्फटिकमणि, चन्द्रमा आदि बहुत से रूप साधक के समक्ष प्रकट होते हैं॥ ११॥

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ १२॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश- इन पाँचों महाभूतों का सम्यक् उत्थान होने पर इनसे सम्बंधित पाँच योग विषयक गुणों की सिद्धि होने पर जिस साधक को योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो जाता है, उसे न तो रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न ही असामयिक मृत्यु प्राप्त होती है॥ १२॥

[इस मन्त्र में प्रयुक्त 'पृथ्व्याप्यतेजो' शब्द आर्षप्रयोग प्रतीत होता है, अन्यथा इसके स्थान पर 'पृथ्व्यप्तेजो' अधिक उपयुक्त रहता।]

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३॥

शरीर की स्थूलता कम होना, नीरोग होना, विषयों में आसक्ति न होना, शरीर में कान्ति-तेजस्विता होना, स्वर की मधुरता, शुभ गन्ध का होना, मल-मूत्र अल्प होना, ये सब योग की पहली सिद्धि है॥१३॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥ १४॥

जिस प्रकार मिट्टी से मलिन हुआ रत्न या आभूषण शोधित होकर प्रकाशमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके शोकादि से मुक्त होता और अद्वितीय तथा कृतकृत्य हो जाता है॥ १४॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १५॥

जब योग साधना से युक्त साधक दीपक के सदृश आत्मतत्त्व के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, तब वह अजन्मा, निश्चल, सम्पूर्ण तत्त्वों से पवित्र उस परमात्मा को जानकर सम्पूर्ण विकार रूप बन्धनों से मुक्ति पा लेता है॥ १५॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ १६॥

वही एक परमात्मा सम्पूर्ण दिशाओं-अवान्तर दिशाओं में संव्याप्त है, वही सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ था, वही सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में अन्तःस्थित है, वही इस जगत् रूप में उत्पन्न हुआ है और भविष्य में भी उत्पन्न होने वाला है, वही सम्पूर्ण जीवों में स्थित है और सम्पूर्ण पक्षों वाला है॥ १६॥

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ १७॥

जो परमात्मा अग्नि में है, जो जल में है, जो समस्त लोकों में संव्याप्त है, जो ओषधियों तथा वनस्पतियों में है, उस परमात्मा के लिए नमस्कार है॥ १७॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १॥

जो एक मायापति अपनी प्रभुतासम्पन्न शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है,जो अकेला ही सृष्टि की उत्पत्ति-विकास में समर्थ है, उस परम पुरुष को जो विद्वान् जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥ २॥

वह एक परमात्मा ही रुद्र है। वही अपनी प्रभुता-सम्पन्न शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है, सभी प्राणी एक उन्हीं का आश्रय लेते हैं, अन्य किसी का नहीं। वही समस्त प्राणियों के अन्दर स्थित है, वह सम्पूर्ण लोकों की रचना करके उनका रक्षक होकर प्रलयकाल में उन्हें समेट लेता है॥ २॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
संबाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ ३॥

वह एक परमात्मा सब ओर नेत्रों वाला, बाहुओं और पैरों वाला है। वही एक मनुष्य आदि जीवों को बाहुओं से तथा पक्षी-कीट आदि को पंखों से संयुक्त करता है,वही इस द्यावा-पृथिवी का रचयिता है॥ ३॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ ४॥

जो रुद्ररूप परमात्मा सम्पूर्ण देवों की भी उत्पत्ति और उनके विकास का कारण है, जो सबका अधिपति और सर्वज्ञाता है, जिसने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया, वह परमात्मा हम सबको कल्याणकारी बुद्धि से संयुक्त करे॥ ४॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥ ५॥

पर्वत पर वास करने वाले सुखप्रदाता हे रुद्रदेव! आपका कल्याणकारी, सौम्य, पुण्य से कान्तिमान् जो रूप है, आप हमें अपने उसी सुखदायी स्वरूप से देखें॥ ५॥

यामिषुं गिरिशंत हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत्॥

हे हिमालय वासी सुखदाता! जिस बाण को आप प्राणियों की ओर फेंकने के लिए हाथ में धारण किये रहते हैं, हे हिमालय रक्षक देव! आप उसे कल्याणकारी बनाएँ, इस जगत् को, जीव समूह को हिंसित न करें॥ ६॥

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥ ७॥

जो उस जीव-जगत् से परे हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है, जो अत्यन्त व्यापक है, किन्तु प्राणियों के शरीरों के अनुरूप उन सब प्राणियों में समाया हुआ है, सम्पूर्ण जगत् को अपनी सत्ता से घेरे हुए उस महान् परमात्मा को जानकर विद्वान् पुरुष अमर हो जाते हैं ॥ ७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ८॥

मैं इस अविद्यारूप तमस् से दूर उस प्रकाशमय आदित्य स्वरूप परमात्मा को जानता हूँ, उसे जानकर ही विद्वान् मृत्यु के चक्र को पार कर सकता है,अमरत्व प्राप्ति के लिए इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं॥ ८॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ ९॥

जिससे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं, जिससे कोई भी न तो सूक्ष्म है और न ही बड़ा। जो अकेला ही वृक्ष की भाँति निश्चल आकाश में स्थित है, उस परम पुरुष से ही यह सम्पूर्ण विश्व संव्याप्त है॥ ९॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १०॥

जो उस (हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्म) से श्रेष्ठ है, वह परब्रह्म परमात्मा रूप है और दुःखों से परे है, जो विद्वान् उसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं, इस ज्ञान से रहित अन्यान्य लोग दुःख को प्राप्त होते हैं॥ १०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः॥

वह कल्याणकारी भगवान् सब ओर मुख, सिर और ग्रीवा वाला है, वह सम्पूर्ण प्राणियों की हृदय गुहा में निवास करता है। वह सर्वव्यापी और सब जगह पहुँचा हुआ है॥ ११॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥

यह परम पुरुष परमात्मा महान्, सर्व समर्थ, सबका नियन्ता, प्रकाश स्वरूप और अविनाशी है, अपनी अत्यन्त निर्मल कांति की प्राप्ति के निमित्त अन्तःकरण को प्रेरित करने वाला है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १३॥

अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला अन्तरात्मा सर्वदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट रहता है। जो विद्वान् इस हृदयगुहा में स्थित मन के स्वामी को विशुद्ध मन से साक्षात्कार करके जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥

[गीता ने भी हृदय में स्थित अंगुष्ठ मात्र जीवात्मा का उल्लेख किया है। शरीर विज्ञान के अनुसार हृदय में पेसमेकर से उसकी संगति बैठती है। हृदय की धड़कन के मूल स्पंदन वहीं से उपजते हैं।]

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

वह परमात्मा सहस्त्र सिर वाला, सहस्त्र नेत्रों वाला और सहस्त्र पैरों वाला है। वह सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से घेर कर भी दस अंगुल बाहर(सम्पूर्ण रूप से) स्थित है अथवा नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदयाकाश में स्थित है॥ १४॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ १५॥

जो भूतकाल में हो चुका है, जो भविष्यत्काल में होने वाला है और जो अन्नादि पदार्थों से पोषित हो रहा है, यह सम्पूर्ण परम पुरुष ही है और वही अमृतत्व का स्वामी है॥ १५॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

वह परम पुरुष सब जगह हाथ-पैर वाला, सब जगह आँख, सिर और मुख वाला और सब जगह कानों वाला है, वही लोक में सबको व्याप्त करके स्थित है॥ १६॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

वह परम पुरुष समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी उनके (इन्द्रियों के) विषयों-गुणों को जानने वाला है। सबका स्वामी-नियन्ता और सबका बृहद् आश्रय है॥ १७॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥ १८॥

वह परम पुरुष प्रकाश के रूप में नवद्वार वाले देहरूपी नगर में अन्तर्यामी होकर स्थित है। वही इस बाह्य-स्थूल जगत् में लीला कर रहा है॥ १८॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ १९॥

वह परम पुरुष हाथ-पैरों से रहित होकर भी वेगपूर्वक गमन करने वाला है। आँखों से रहित होकर भी देखता और कानों से रहित होकर भी सब सुनता है। वह जानने वाली चीजों को जानता है। उसे जानने वाला अन्य कोई नहीं है, उसे ज्ञानी जन महान्, श्रेष्ठ आदि कहते हैं॥ १९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ २०॥

वह परम पुरुष अतिसूक्ष्म अणु से भी सूक्ष्म है और अतिशय महान् से भी महान् है। आत्मारूप वह पुरुष इस जीव की हृदय गुहा में छिपा हुआ है। उस विषय भोग के संकल्पों से रहित, परमात्मा को जो विधाता की कृपा से देख लेता है, वह सभी संतापों से मुक्त हो जाता है॥ २०॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥ २१॥

उसे हम जानते हैं, जो जरा आदि से मुक्त सदा नित्य है। वह सबसे पुरातन पुरुष सबमें आत्मा रूप में समाहित है। वह सर्वत्र विद्यमान और अत्यन्त व्यापक है, उसे ब्रह्मवेत्ता जन जन्म-बन्धन से मुक्त तथा सदा नित्य रहने वाला बताते हैं॥ २१॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १॥

जो सृष्टि के आरम्भ में अकेले ही वर्ण (रूप-रंग) से रहित होकर और बिना किसी प्रयोजन के अपनी विविध शक्तियों के प्रयोग द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है और अन्त में सम्पूर्ण विश्व अपने में ही विलीन कर लेता है, वह परमात्मा हम सबको शुभ बुद्धि से संयुक्त करे॥ १॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥

वही (परमात्मा)अग्नि है, वही सूर्य, वायु तथा चन्द्रमा है। वही शुक्र (तेजस्वी नक्षत्र आदि) है, वही ब्रह्म, वही आपः और वही प्रजापति है॥ २॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

(हे परमेश्वर!) आप ही स्त्री और आप ही पुरुष हैं। आप ही पुत्र अथवा पुत्री हैं, आप ही वृद्ध होकर लाठी के सहारे चलते हैं तथा (प्रपंच रूप में) जन्म लेकर सर्वत्र विविध रूपों में विद्यमान हैं ॥ ३ ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

आप ही नीलवर्ण (आकाश), पतंग (सूर्य), हरितवर्ण (वनस्पति आदि), लाल आँखों वाले (नक्षत्र या अग्नि), मेघ, ऋतुएँ तथा सप्त समुद्र हैं। आप ही अनादि सत्ता वाले और सर्वत्र विद्यमान हैं, आपसे ही ये सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

['नीलः पतंगः' और 'हरितः लोहिताक्षः' के अर्थ कुछ आचार्यों ने नीला भ्रमर तथा हरे रंग का लाल आँखों वाला पक्षी (शुक) किया है; किन्तु इस मन्त्र में और अगले मन्त्र में भी प्रकृति के व्यापक घटकों का ही वर्णन है, उनके साथ यह कीट, पक्षी आदि की संगति नहीं बैठती। पतंग का अर्थ सूर्य भी होता है, अतः इनका अर्थ नीलवर्ण-आकाश सूर्य, हरित (वनस्पति आदि) तथा रक्त नेत्र वाले नक्षत्र या अग्नि मानना अधिक युक्तिसंगत है।]

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

अपने अनुरूप बहुत सी प्रजाओं को उत्पन्न करने वाली लोहित (लाल-रजस्), शुक्ल(श्वेत-सत्) एवं कृष्ण (काला-तमस्) वर्ण वाली अनादि प्रकृति (अजा) को एक अज (जीव)स्वीकार करता हुआ भोगता है और दूसरा अज (आत्मा) उपभुक्त प्रकृति का परित्याग कर देता है ॥ ५ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ६ ॥

सदा संयुक्त रहकर मैत्री भाव से एक साथ रहने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)का आश्रय लिए हुए रहते हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) तो उस वृक्ष के फलों (कर्मफलों) को स्वाद लेकर खाता है; किन्तु दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

उस एक ही वृक्ष पर रहने वाला जीव राग-द्वेष, आसक्ति आदि में डूबकर मोहित हुआ दीनतापूर्वक शोक करता है। जब वह अनेकों साधकों द्वारा सेवित और अपने से भिन्न ईश्वर और उसकी महिमामयी सत्ता का साक्षात्कार करता है, तब वह शोक-संताप से मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ८ ॥

जिसमें सम्पूर्ण देवगण अधिष्ठित हैं, उस अनश्वर परम व्योम (धाम) में समस्त वेद (ज्ञान समुच्चय) स्थित हैं। जो विद्वान् उसे नहीं जानते, वे केवल ऋचाओं (वेदों) के द्वारा क्या कर लेंगे और जो उसे जानते हैं, वे सम्यक् रूप से उसी (परमात्मा) में कृतार्थ होकर स्थित हैं ॥ ८ ॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥ ९॥

समस्त वेद, यज्ञ, ज्योतिष्टोम आदि विशिष्ट यज्ञ, व्रत, भूत, भविष्यत् तथा जो भी कुछ वेदों द्वारा वर्णित है, वह सब मायापति ईश्वर इस अक्षर (अविनाशी प्रकृति तत्त्व) से उत्पन्न करता है और स्वयं जीवात्मा रूप में उस माया से भिन्न होकर भी उसके साथ भली-भाँति जुड़ा हुआ है॥ ९॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तं महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

प्रकृति को तो माया समझना चाहिए और परब्रह्म परमेश्वर को मायापति। उसी के अङ्गभूत (कार्य-कारण समूह) से यह सारा जगत् व्याप्त है॥ १०॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ ११॥

जो स्वयं अकेले ही प्रत्येक शरीर (चौरासी लाख योनि) का अधिष्ठाता है, जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रलयकाल में विलीन हो जाता है और सृजन काल में विविध रूपों में पुनः प्रकट भी हो जाता है। साधक उस नियामक सत्ता, वर प्रदाता, स्तुत्य परमदेव को जानकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है॥ ११॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १२॥

जो रुद्रदेव, अन्यान्य देवों की उत्पत्ति के हेतु और ऐश्वर्यादि से उनका परिपोषण करने वाले हैं, जो सबके अधिपति और सर्वज्ञाता हैं। जिनने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखा था, वे देव हमें निर्मल बुद्धि से संयुक्त करें॥ १२॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १३॥

जो समस्त देवों के अधिपति हैं, जिसमें सम्पूर्ण लोक अधिष्ठित हैं, जो इस जगत् के दो पैर वाले (मनुष्य) और चार पैर वाले समस्त जीवसमूह के नियन्ता हैं, उन 'क' संज्ञक प्रजापति का हम हविष्यान्न आदि द्वारा पूजन करें (या उन देवाधिपति परमात्मा को छोड़कर अन्य किस देवता का यजन करें?)॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥ १४॥

सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, हृदयगुहा के गुह्य स्थान में स्थित, सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, अनेक रूप धारण करने वाले, सम्पूर्ण जगत् को अकेले ही परिव्याप्त करने वाले कल्याणकारी देव को जानकर (साक्षात्कार करके) साधक शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है॥ १४॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति॥ १५॥

वही प्रत्येक काल में समस्त लोकों (ब्रह्माण्ड) का रक्षक, सम्पूर्ण जगत् का स्वामी और सभी प्राणियों में स्थित है। जिसमें ब्रह्मर्षिगण और देवगण भी ध्यान द्वारा तल्लीन रहते हैं, उस परम पुरुष को जानकर साधक अपने मृत्यु के बन्धनों को (चक्र को)काट डालता है॥ १५॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १६॥

साधक घृत (मक्खन) के समान ऊपर रहने वाले उसके सार भाग के समान अतिसूक्ष्म और समस्त प्राणियों में अधिष्ठित कल्याणकारी देव को जानकर तथा उस सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड को अपनी सत्ता से घेरकर रखने वाले विराट् देव को जानकर, सम्पूर्ण विकाररूपी बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १६॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १७॥

यह जगत् कर्त्ता, देदीप्यमान परमात्मा सर्वदा मनुष्यों के हृदय में सम्यक् प्रकार से अवस्थित है। जो साधक अपने हृदय, बुद्धि और मन से ध्यान द्वारा योग युक्त होकर इसे जान लेते हैं,वे अमरत्व पाते हैं॥१७॥

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी॥ १८॥

जब अज्ञान का तमस् नहीं रहता (अर्थात् ज्ञान का प्रकाश उद्भूत हो जाता है), तब न दिन रहता है, न रात्रि और न सत् रहता है न असत्, केवल एक कल्याणकारी देव (शिव) रहता है। वह सर्वदा अनश्वर है, वह सविता देव का भी उपास्य है तथा उसी से पुरातन प्रकृष्ट ज्ञान (प्रज्ञा) निःसृत हुआ है॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥

इसे न तो ऊपर से, न इधर-उधर से और न मध्य से ही कोई भली-भाँति पकड़ सकता है। जिसका नाम 'महद्यशः' (सर्वत्र कीर्तिमान्) है, उसकी कोई उपमा (समानता करने वाला) भी नहीं है॥ १९॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २०॥

इस परमात्मा का कोई रूप दृष्टि के सामने नहीं ठहर पाता, उसे कोई इन आँखों से नहीं देख सकता। जो साधक अपने हृदय में अवस्थित परमात्मा को भावपूर्ण हृदय और निर्मल मन से जान लेते हैं, वे अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं॥२०॥

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रतिपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥ २१॥

हे रुद्रदेव (संहारक देव)! आप जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हैं, ऐसा जानकर कोई भीरु (मृत्यु के भय से डरने वाला मेरे जैसा) आपके आश्रय में आता है, (और कहता है कि) आप अपने कल्याणकारी रूप (दक्षिणमुख) से मेरी सर्वदा रक्षा करें (तो निश्चय ही आपको वैसा ही करना चाहिए)॥ २१॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥ २२॥

हे रुद्रदेव! हम विविध हविष्यान्न लेकर सदैव आपका आवाहन (यजन) करते हैं। आप कुपित होकर हमारे वीर पुरुषों का नाश न करें। न हमारे पुत्रों में, न पौत्रों में, न हमारी आयु में, न हमारी गौओं में और न हमारे अश्वों में कोई कमी करें॥ २२॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ १॥

(कार्य) ब्रह्म से भी उत्कृष्ट, वह अनन्त सत्ता अविनाशी है, जिसमें विद्या और अविद्या दोनों निहित हैं और जो प्राणियों की हृदय गुहा में निहित है। क्षरणशील (नश्वर तो) 'अविद्या' है और अविनाशी (जीवात्मा) 'विद्या' है। जो विद्या और अविद्या दोनों पर शासन करता है,वह इन दोनों से भिन्न सत्ता है॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥ २॥

जो अद्वितीय परमात्मा प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जो सम्पूर्ण (चौरासी लाख) योनियों को विभिन्न रूप प्रदान करता है। जिसने सबसे पहले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को विशिष्ट ज्ञान-सम्पदा से सम्पन्न किया तथा उन्हें उत्पन्न होते हुए देखा था (वही विद्या-अविद्या से परे परमतत्त्व है)॥ २॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥ ३॥

यह प्रकाश स्वरूप परमात्मा सृष्टि काल में इस जगत् क्षेत्र में एक-एक जाल (कर्मफल बन्धन) को अनेक प्रकार से विभक्त कर स्थापित करता हुआ प्रलयकाल में उसका संहार कर देता है। वह परमेश्वर (कल्पान्तर के आरम्भ में) प्रजापतियों की सृष्टि करके उन सब पर अपना आधिपत्य रखता है॥ ३॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः॥ ४॥

जिस प्रकार सूर्यदेव अकेले ही ऊपर-नीचे और इधर-उधर की सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुए देदीप्यमान होते हैं, उसी प्रकार वह परम पुरुष भगवान् प्रकाशस्वरूप और वरणीय होकर अकेले ही समस्त उत्पत्तिकारक शक्तियों पर अपना आधिपत्य रखता है॥ ४॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः॥ ५॥

जो परमात्मा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारणभूत है, जो समस्त तत्त्वों के स्वभाव को परिपक्व करता है, जो समस्त पकाये गये (अथवा परिवर्तनशील) पदार्थों को विविध रूपों में परिणत करता है, जो सम्पूर्ण गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) को उनके अनुरूप कार्यों में नियुक्त करता है, जो सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है (वह परब्रह्म है)॥ ५॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥ ६॥

वह परमात्मा वेदों के गुह्य सारभूत उपनिषदों में निहित है, वेद के उत्पन्नकर्ता उस परमात्मा को ब्रह्मा जानते थे। जो पुरातन देवगण और ऋषिगण उसे (परमात्मतत्त्व को) जानते थे, वे निश्चित ही उसमें तन्मय होकर अमृतस्वरूप हो गये थे॥ ६॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव न चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥ ७॥

जो गुणों से युक्त, फलप्राप्ति के उद्देश्य से कर्म करने वाला और अपने किये गये कर्म के फल का उपभोग करने वाला जीवात्मा है, वह विभिन्न रूपों को धारण करता हुआ तीन गुणों (सत्, रज, तम) से युक्त होकर तीन मार्गों (देवयान, पितृयान तथा लौकिक योनियों या धर्म, अधर्म तथा ज्ञान मार्ग) से गमन करता है। वह प्राणों का अधिपति जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में गमन करता है॥ ७॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः॥ ८॥

जो अंगुष्ठ मात्र परिमाणवाला, सूर्य सदृश प्रकाशस्वरूप और सङ्कल्प तथा अहङ्कार से युक्त है, जो बुद्धि और आत्मा के विशिष्ट गुणों से युक्त है, यह आरे (लकड़ी चीरने का यन्त्र) की नोंक सदृश सूक्ष्म, परमात्मा से भिन्न अस्तित्व वाला (जीवात्मा) योगियों द्वारा देखा गया है॥ ८॥

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ ९॥

एक बाल की नोंक के सौवें भाग के पुनः सौ भागों में विभक्त करने पर, जो कल्पित भाग होता है, जीव का स्वरूप उसी के बराबर (अतिसूक्ष्म) समझना चाहिए, परन्तु वही अनन्त रूपों में विस्तृत भी हो जाता है॥ ९॥

[चेतना की सूक्ष्म इकाई की सूक्ष्मता का अनुमान कराने के लिए ऋषि ने यह उदाहरण दिया है।]

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥ १०॥

यह जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक है। यह जिस - जिस शरीर को ग्रहण करता है, उसी-उसी से सम्बद्ध हो जाता है॥ १०॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासांबुवृष्ट्यात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥ ११॥

अन्न और जल के सेवन से जिस प्रकार शरीर परिपुष्ट होता है (उसकी वृद्धि होती है), उसी प्रकार सङ्कल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह से जीवात्मा का जन्म और विस्तार (अनेक योनियों में) होता है। जीवात्मा अपने किये हुए कर्मों के फल के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न शारीरिक रूपों को बार-बार धारण करता है॥ ११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥ १२॥

जीवात्मा अपने आन्तरिक गुणों (ममता, अहंता, आकांक्षा आदि) के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म बहुत से रूप धारण करता है। अपने क्रियात्मक गुणों (संस्कारों) तथा चेतनात्मक गुणों (चिन्तन, मनन, सङ्कल्प आदि) के अनुरूप शरीर धारण कराने वाला हेतु कोई दूसरा (परमर्षि परमात्मा) भी देखा (जाना) गया है॥ १२॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

इस घोर संसार (भवसागर) में उस अनादि, अनन्त, विश्व सृजेता, अनेक रूपों वाले, सम्पूर्ण विश्व को अकेले ही अपनी सत्ता से आवृत करने वाले (परमात्म) देव को जानकर साधक समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्। कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥

श्रद्धा भाव से प्राप्त होने वाले अशरीरी सृष्टि (भाव) एवं प्रलय (अभाव) करने वाले, कल्याणकारी स्वरूप वाले, कलाओं की रचना करने वाले, उस देव (परमात्मा) को जो साधक जान लेता है, वह शरीर बन्धन (आवागमन चक्र) को त्यागकर मुक्त हो जाता है॥ १४॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा नु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १॥

कुछ विद्वान् मनुष्य के स्वभाव को जन्म चक्र का कारण बताते हैं, दूसरे कुछ लोग काल को इसका कारण बताते हैं, परन्तु ये लोग यथार्थता से बहुत दूर मोहग्रस्त स्थिति में हैं। वास्तव में यह परमात्म देव की ही महिमा है, जिसके द्वारा इस लोक में यह ब्रह्मरूप (सृष्टि)चक्र घुमाया जाता है॥ १॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २॥

जिसके द्वारा यह समस्त जगत् सदैव व्याप्त रहता है, जो ज्ञानस्वरूप, काल का भी काल, सर्वगुणसम्पन्न और सर्वज्ञ है, उसके ही अनुशासन में यह सम्पूर्ण कर्म चक्र घूम रहा है। पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश- इन पञ्च तत्त्वों का चक्र भी उसी के हाथ में है- ऐसा चिन्तन करते रहना चाहिए॥ २॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥ ३॥

उस परमात्मा ने कर्म चक्र चला कर, उसका अवलोकन कर आगे चेतन तत्त्व से जड़ तत्त्व का संयोग कराके जगत् की रचना की, अथवा एक (अविद्या), दो (धर्म और अधर्म), तीन (सत्, रज, तम गुण), आठ (मन, बुद्धि, अहंकार सहित पञ्चतत्त्वों) प्राकृतिक भेदों से तथा काल एवं सूक्ष्म आन्तरिक गुणों (ममता, अहन्ता, इच्छा, आसक्ति आदि) के संयोग से इस जगत् की रचना की॥ ३॥

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ ४॥

जो साधक तीनों गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके उन्हें तथा उनके भावों को परमात्मा को अर्पित कर देता है, (ऐसा करने से) उन कर्मों का अभाव हो जाता है तथा पूर्वकृत कर्मों का भी नाश हो जाता है। ऐसा होने पर जीवात्मा जड़-जगत् से भिन्न सत्ता (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परिस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥ ५॥

वह आदि पुरुष परमात्मा, (प्रकृति का जीव से)संयोग कराने वाले निमित्त के रूप में जाना (देखा) गया है। यह तीनों कालों तथा सोलह कलाओं से परे है। अपने अन्तःकरण में अधिष्ठित उस सर्वरूप और संसार रूप में प्रकट तथा स्तुत्य पुरातन परमात्म देव की उपासना करनी चाहिए॥ ५॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम॥ ६॥

जिससे यह जगत् प्रपञ्च में प्रवृत्त होता है, वह (परमात्मा)जगत् वृक्ष (चक्र), काल तथा आकार से परे तथा उससे भिन्न है। धर्म के विस्तारक, पाप का नाश करने वाले, उस ऐश्वर्य के स्वामी को जानकर साधक आत्मा में स्थित उस विश्वाधार विराट् परमात्मा तथा उसके अमृतस्वरूप को प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ ७॥

ईश्वरों (प्रभुता-सम्पन्नों) के भी परम महेश्वर, देवताओं के परम देव, पतियों (पालकों) के भी परमपति, अव्यक्त (प्रकृति आदि) से भी परे, सम्पूर्ण लोक-ब्रह्माण्ड के अधिपति, स्तुति करने योग्य वह परमात्म देव सबसे परे हैं, (ऐसे) परमात्म देव को हम जानते हैं॥ ७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ ८॥

उस (निराकार परमेश्वर) के शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे बड़ा भी कोई नहीं है, उसकी पराशक्ति (अदृश्य-दिव्य शक्ति) विविध प्रकार की सुनी जाती है और वह स्वभाव जन्य ज्ञान क्रिया (सम्पूर्ण विषयों के ज्ञान की प्रवृत्ति) और बल क्रिया (अपने प्रभाव से सबको अभिभूत करने की शक्ति) वाला है॥ ८॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ ९॥

इस जगत् में कोई उसका स्वामी नहीं है, उसका कोई शासक नहीं है एवं उसका कोई लिंग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) भी नहीं है। वह सबका कारण है और इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवों का अधिपति है। उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न ही कोई अधिपति है॥ ९॥

यस्तूर्णपनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्॥ १०॥

तन्तुओं द्वारा मकड़ी के समान उस एक परमदेव (परमात्मा) ने स्वयं ही अपनी प्रधान शक्ति (प्रकृति) से (उत्पन्न अनन्त कार्यों से) अपने को आवृत कर लिया है। वह परमात्मा हमें अपने ब्रह्मस्वरूप से एकत्व प्रदान करे॥ १०॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ११॥

सम्पूर्ण प्राणियों में वह एक देव (परमात्मा) स्थित है। वह सर्वव्यापक, सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा, सबके कर्मों का अधीश्वर, सब प्राणियों में बसा हुआ (सबके अन्दर विद्यमान), सबका साक्षी, पूर्ण चैतन्य, विशुद्धरूप और निर्गुणरूप है॥ ११॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

जो अद्वितीय परमात्मा सबका अधीश्वर है, जो बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक रूपों में परिणत कर देता है, उस हृदय गुहा में अवस्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष (अनुभूतिजन्य दृष्टि से) देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं॥ १२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

जो परमेश्वर नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन है और एक अकेला ही सम्पूर्ण प्राणियों को उनके कर्मों का भोग प्रदान करता है, उस सांख्य एवं योग (ज्ञानयोग एवं कर्मयोग) द्वारा अनुभूतिगम्य, सबके कारणरूप देव- परमात्मा को जो साधक जान लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १४॥

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा अथवा तारों का समूह, न ये बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं, तो यह अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है। उस (परमात्मा) के प्रकाशित (विद्यमान) होने से ही (सूर्यादि) सभी प्रकाशित होते हैं। उसके प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित है॥ १४॥

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

इस लोक के मध्य में एक ही हंस (परमात्मा) है, वह जल में सन्निहित अग्नि के समान अगोचर है। उसे जानकर साधक मृत्युरूप बन्धनों को पार कर जाता है। इससे भिन्न मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है॥

[जल की उत्पत्ति अग्नि से होती है (अग्नेरापः) और अग्नि जल में समाविष्ट है 'बड़वानल' के रूप में, यह सिद्धान्त विज्ञान सम्मत है (हाइड्रोजन+ऑक्सीजन+ताप=पानी।)]

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६॥

जो ज्ञानस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का रचयिता, सर्वज्ञ, स्वयं ही जगत् की उत्पत्ति का केन्द्र, काल का भी काल, गुणों का समुच्चय और सर्वविद्यावान् है। वह पुरुष और प्रकृति का प्रमुख अधिपति, सम्पूर्ण गुणों का नियन्ता, संसार चक्र के बन्धन, स्थिति और मुक्ति का कारण है॥ १६॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय॥ १७॥

वह तन्मय (विश्वरूप अथवा सर्वप्रकाशक परमात्मा), अमृतस्वरूप ईश्वर (नियामक) रूप में स्थित, ज्ञानसम्पन्न, सर्वगत (सबमें चैतन्य रूप से स्थित) और इस लोक का रक्षक है, (वही) इस सम्पूर्ण जगत् का सर्वदा नियामक है; क्योंकि इस जगत् का नियन्त्रण करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है॥ १७॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ १८॥

जो परमात्मा सर्वप्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उन्हें वेदों का ज्ञान प्रदान करता है। मैं मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से बुद्धि को प्रकाशित करने वाले उन देव की शरण ग्रहण करता हूँ॥ १८॥

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ १९॥

जो कलाओं तथा क्रियाओं से रहित, सदा शान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृतत्व का श्रेष्ठ सेतुरूप, (धूम्ररहित) प्रदीप्त अग्नि के समान देदीप्यमान है (हम उसकी शरण ग्रहण करते हैं)॥ १९॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ २०॥

जब मनुष्यगण आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे (जब कि यह असम्भव है); तब उस देव (परमात्मा) को जाने बिना भी दुःखों का अन्त हो सकेगा (यह भी असम्भव है)॥ २०॥

[वस्तुतः दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति परमतत्त्व को जानकर ही हो सकती है।]

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्॥ २१॥

श्वेताश्वतर ऋषि ने तप के प्रभाव से और परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जाना तथा ऋषियों द्वारा सेवित उस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्व का उन्होंने आश्रम के सुपात्रों को उपदेश दिया॥ २१॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥ २२॥

उपनिषदों (वेदान्त) में इस परम गुह्य ब्रह्मविद्या का पूर्वकल्प में उपदेश किया गया था। जिसका अन्तःकरण रागादि से शान्त न हुआ हो, उस साधक को तथा जो अपना पुत्र या शिष्य न हो (अर्थात् आचार्य के प्रति श्रद्धाभाव न रखता हो), उसे यह गुह्य ज्ञान नहीं देना चाहिए॥ २२॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता
ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति॥ २३॥

जिस साधक की परमात्मा में अत्यन्त भक्ति है तथा जैसी परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में भी है, उस महान् आत्मा के हृदय में ही ये बताये गये गूढ़ ज्ञान प्रकाशित होते हैं, ऐसे महात्मा में ही (यह उपनिषद्) ज्ञान प्रकाशित होते हैं॥ २३॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति। शान्तिः॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषत्समाप्ता॥

॥ सर्वसारोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् में बन्धन-मोक्ष, विद्या-अविद्या, चार अवस्थाएँ, पाँच कोश, जीव, क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा-परमात्मा, माया आदि के सन्दर्भ में प्रश्न उठाकर उनको सूत्र रूप मेंस्पष्ट किया गया है। अंत में 'स्व' को जन्म-मरण, कर्त्ता-भोक्ता, नाम-रूप, इन्द्रिय तत्त्वादि से परे अनुभव करते हुए शोक-मोह, बन्धन- मोक्षादि की कामना से भी अछूता कहा गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अमृतनादोपनिषद्)

कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या काऽविद्येति। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयं च कथम्। अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशाः कथम्। कर्ता जीवः पञ्चवर्गः क्षेत्रज्ञः साक्षी कूटस्थोऽन्तर्यामी कथम्। प्रत्यगात्मा परात्मा माया चेति कथम्॥ १ ॥

बन्धन क्या है ? मुक्ति क्या है ? विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ? जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार अवस्थाएँ क्या हैं ? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों का परिचय क्या है ? कर्त्ता, जीव, पञ्चवर्ग, क्षेत्रज्ञ, साक्षी, कूटस्थ और अन्तर्यामी क्या है ? प्रत्यगात्मा क्या है ? परमात्मा क्या है और यह माया क्या है ? ॥ १ ॥

आत्मेश्वरजीवोऽनात्मनां देहादीनामात्मत्वेनाभिमन्यतेसोऽभिमान आत्मनो बन्धः। तन्निवृत्तिर्मोक्षः ॥ २ ॥

आत्मा ही ईश्वर और जीव स्वरूप है, वही अनात्मा शरीर में अहंभाव जाग्रत् कर लेता है ('मैं शरीर हूँ' ऐसा मानने लगता है), यही बन्धन है। शरीर के प्रति इस अहंभाव से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है ॥ २ ॥

या तदभिमानं कारयति सा अविद्या। सोऽभिमानो यया निवर्तते सा विद्या ॥

इस अहंभाव की जन्मदात्री अविद्या है, जिसके द्वारा अहंभाव समाप्त हो जाये, वही विद्या है ॥ ३ ॥

मनआदिचतुर्दशकरणैःपुष्कलैरादित्याद्यनुगृहीतैः शब्दादीन्विषयान्स्थूलान्यदोपलभते तदात्मनो जागरणम्। तद्वासनासहितैश्चतुर्दशकरणैः शब्दाद्यभावेऽपि वासनामयाञ्छब्दादीन्यदोपलभते तदात्मनःस्वप्नम्। चतुर्दशकरणोपरमाद्विशेषविज्ञानाभावाद्यदा शब्दादीन्नोपलभते तदात्मनः सुषुप्तम्। अवस्थात्रयभावाभावसाक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा तदा तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते॥ ४॥

देवों की शक्ति द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और दस इन्द्रियाँ-इन चौदह करणों द्वारा आत्मा जिस अवस्था में शब्द, स्पर्श, रूप आदि स्थूल विषयों को ग्रहण करती है, उसको आत्मा की जाग्रतावस्था कहते हैं। शब्द आदि स्थूल विषयों के न होने पर भी जाग्रत् स्थिति के समय बची रह गई वासना के कारण मन आदि चतुर्दश करणों के द्वारा शब्दादि विषयों को जब जीव ग्रहण करता है, उस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं। इन इन्द्रियों के शान्त हो जाने पर जब विशेष ज्ञान नहीं रहता और इन्द्रियाँ शब्द आदि विषयों को ग्रहण नहीं करतीं, तब आत्मा की उस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय का ज्ञाता और स्वयं उद्भव और विनाश से सदैव परे रहने वाला जो नित्य साक्षी भाव में स्थित चैतन्य है, उसी को तुरीय चैतन्य कहते हैं, उसकी इस अवस्था का नाम ही तुरीयावस्था है ॥ ४ ॥

अन्नकार्याणां कोशानां समूहोऽन्नमयः कोश इत्युच्यते। प्राणादिचतुर्दशवायुभेदा अन्नमयकोशे यदा वर्तन्ते तदा प्राणमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशद्वयसंसक्तं मनआदिचतुर्दशकरणैरात्मा शब्दादिविषयसंकल्पादीन्धर्मान्यदा करोति तदा मनोमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशत्रयसंसक्तं तद्गतविशेषज्ञो यदा भासते तदा विज्ञानमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशचतुष्टयं संसक्तं स्वकारणाज्ञाने वटकणिकायामिव वृक्षो यदा वर्तते तदानन्दमयः कोश इत्युच्यते॥ ५॥

अन्न से निर्मित होने वाले कोश समूह रूप शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। जब इस अन्नमय कोश रूप शरीर में प्राण आदि चौदह वायु संचरित होते हैं, तब उसे प्राणमय कोश कहा जाता है। अन्नमय और प्राणमय कोशों के अन्दर रहने वाले मन आदि चतुर्दश करणों (इन्द्रियों) द्वारा आत्मा जब शब्दादि विषयों पर चिन्तन करता है, तब उसे मनोमय कोश कहते हैं। तीनों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय) कोशों से संयुक्त होकर जब वह (आत्मा) बुद्धि द्वारा चिन्तन करता है, तब उसके बुद्धियुक्त स्वरूप को विज्ञानमय कोश कहते हैं। इन चार (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय) कोशों के साथ आत्मा जब वट वृक्ष के (मूलकारण) वृक्षबीज के समान अपने कारण स्वरूप को न जानता हुआ निवास करता है, तब उसके उस स्वरूप को आनन्दमय कोश कहते हैं॥ ५॥

सुखदुःखबुद्ध्या श्रेयोऽन्तः कर्ता यदा तदा इष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिरनिष्टविषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सुखदुःखहेतवः। पुण्यपापकर्मानुसारी भूत्वा प्राप्तशरीरसंयोगमप्राप्त-शरीरसंयोगमिव कुर्वाणो यदा दृश्यते तदोपहितजीव इत्युच्यते॥

सुख की भावना से मन में वस्तु विशेष के प्रति जो रुचि उत्पन्न होती है, वह सुख बुद्धि कहलाती है और वस्तु विशेष के प्रति जो अरुचि उत्पन्न होती है, वह दुःख बुद्धि कहलाती है। सुख प्राप्त करने और दुःख का परित्याग करने के लिए जीव जिन क्रियाओं को करता है,उन्हीं के कारण वह कर्त्ता कहलाता है। सुख-दुःख के कारणभूत ये पञ्च विषय-शब्द, स्पर्श, रूप,रस,गन्ध हैं। जब पुण्य-पाप का अनुसरण करता हुआ आत्मा इस मिले हुए शरीर को अप्राप्त की तरह मानता है,तब वह उपाधियुक्त जीव कहलाता है॥ ६॥

मन आदिश्च प्राणादिश्चेच्छादिश्च सत्त्वादिश्च पुण्यादिश्चैते पञ्चवर्गा इत्येतेषां पञ्चवर्गाणां धर्मीभूतात्मज्ञानादृते न विनश्यत्यात्मसन्निधौ नित्यत्वेन प्रतीयमान आत्मोपाधिर्यस्तल्लिङ्गशरीरं हृद्ग्रन्थिरित्युच्यते ॥ ७॥

मन आदि (अन्तःचतुष्टय), प्राण आदि (चौदह प्राण), इच्छा आदि (इच्छा-द्वेष), सत्त्व आदि (सत्, रज, तम) और पुण्य आदि (पाप-पुण्य) इन पाँचों को पञ्च वर्ग कहा जाता है। इनका धर्मी (धारक) बनकर जीवात्मा ज्ञानरहित होकर इनसे मुक्ति नहीं पा सकता। मन आदि जो सूक्ष्म तत्त्व हैं, इनकी उपाधि सदैव आत्मा के साथ लगी प्रतीत होती है, जिसे लिङ्ग शरीर कहते हैं, वही हृदय की ग्रन्थि है॥ ७॥

तत्र यत्प्रकाशते चैतन्यं स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते॥ ८॥

उस लिङ्ग शरीर में जो चैतन्य है, उसी को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं॥ ८॥

ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमाविर्भावतिरोभावरहितः स्वयंज्योतिः साक्षीत्युच्यते॥ ९॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के उद्भव और विलय को जानकर भी जो स्वयं उत्पत्ति और विनाश से परे है, वह आत्मा साक्षी कहलाता है॥ ९॥

ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिष्ववशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणि-बुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते॥ १०॥

ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका (चींटी) पर्यन्त समस्त जीवों की बुद्धि में वास करने वाला और स्थूल आदि शरीरों के विनष्ट हो जाने पर भी जो अवशिष्ट दिखाई देता है, उसे 'कूटस्थ' कहते हैं॥ १०॥

कूटस्थोपहितभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणे सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा काश्यते आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते॥ ११॥

कूटस्थ आदि उपाधियों के भेदों में स्वरूप (प्राप्त करने के) लाभ के निमित्त जो आत्मा समस्त शरीरों में, माला (के मनकों) में धागे की तरह पिरोया हुआ प्रतीत होता है,उसे अन्तर्यामी कहते हैं॥ ११॥

सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं कटकमुकुटाद्युपाधिरहितसुवर्णघन-वद्विज्ञानचिन्मात्रस्वभावात्मा यदा भासते तदा त्वंपदार्थःप्रत्यगात्मेत्युच्यते। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। सत्यमविनाशि। अविनाशि नाम देशकालवस्तुनिमित्तेषु विनश्यत्सु यन्न विनश्यति तदविनाशि। ज्ञानं नामोत्पत्तिविनाशरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं ज्ञानमित्युच्यते। अनन्तं नाम मृद्विकारेषु मृदिव स्वर्णविकारेषु स्वर्णमिव तन्तुविकारेषु तन्तुरिवाव्यक्तादि-सृष्टिप्रपञ्चेषु पूर्णं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते। आनन्दं नाम सुखचैतन्यस्वरूपोऽपरिमिता-नन्दसमुद्रोऽवशिष्टसुखस्वरूपश्चानन्द इत्युच्यते॥ १२॥

सत्य, ज्ञान और अनन्त आनन्द स्वरूप तथा समस्त उपाधियों से रहित, कटक (कड़ा), मुकुट आदि उपाधियों से विहीन एक मात्र स्वर्ण के समान ज्ञानघन और चैतन्य स्वरूप आत्मा जब भासित (अनुभूत) होता है, उस समय उसे 'त्वं' नाम से सम्बोधित किया जाता है। ब्रह्म को सत्य, अनन्त और ज्ञानस्वरूप कहा गया है। अविनाशी ही सत्य है। देश, काल और वस्तु आदि जो निमित्त हैं, उनके विनष्ट हो जाने पर भी जिसका विनाश नहीं होता, वही अविनाशी तत्त्व है। उद्भव और विनाश से परे नित्य चैतन्य तत्त्व को 'ज्ञान' कहा जाता है। मृत्तिका से निर्मित पात्रों- वस्तुओं में मृत्तिका के समान, स्वर्ण निर्मित आभूषणों में स्वर्णवत्, सूत निर्मित वस्त्रों में सूत्रवत् विद्यमान वह चैतन्य सत्ता जो समस्त सृष्टि में पूर्णतः व्याप्त है,उसे 'अनन्त' कहते हैं। जो सुख स्वरूप, चैतन्य स्वरूप, अपरिमित आनन्द का सागर है और अवशिष्ट सुख का स्वरूप है, उसे 'आनन्द' कहते हैं॥ १२॥

एतद्वस्तुचतुष्टयं यस्य लक्षणं देशकालवस्तुनिमित्तेष्वव्यभिचारी तत्पदार्थः परमात्मेत्युच्यते ॥ १३॥

ये चार (सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द) वस्तु बोधक पद जिसके लक्षण हैं तथा देश, काल, वस्तु आदि निमित्तों के रहते भी जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, उसको 'तत्' पदार्थ अथवा 'परमात्मा' ऐसा कहते हैं॥

[गायत्री महामन्त्र में तत् सम्बोधन का भाव यहाँ द्रष्टव्य है।]

त्वंपदार्थादौपाधिकात्तत्पदार्थादौपाधिकभेदाद्विलक्षणमाकाशवत्सूक्ष्मं केवलं सत्तामात्रस्वभावं परं ब्रह्मेत्युच्यते॥ १४॥

'तत्' और 'त्वं' ये दोनों ही पदार्थ उपाधियुक्त भेदों से भिन्न, अन्तरिक्ष की तरह सूक्ष्म, केवल सत्तामात्र स्वभाव वाला होने से परब्रह्म कहा जाता हैं॥ १४॥

[ईशोपनिषद् के अन्तिम मन्त्र के पद 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु' में सम्भवतः इसी 'तत्' और 'त्वं' को अनावृत करने की प्रार्थना की गयी है।]

माया नाम अनादिरन्तवती प्रमाणाऽप्रमाणसाधारणा न सती नासती न सदसती स्वयमधिका विकाररहिता निरूप्यमाणा सतीतरलक्षणशून्या सा मायेत्युच्यते। अज्ञानं तुच्छाप्यसती कालत्रयेऽपि पामराणां वास्तवी च सत्त्वबुद्धिर्लौकिकानामिदमित्य-निर्वचनीया वक्तुं न शक्यते॥ १५॥

जो अनादि है, विनष्टप्राय है, जो न सत् है और न असत्। जो स्वयं ही सबसे अधिक विकाररहित प्रतीत होती है तथा अन्य लक्षणों से शून्य है, उस शक्ति को 'माया' कहते हैं। उसका वर्णन किसी अन्य प्रकार से नहीं किया जा सकता। यह माया शक्ति तुच्छ, अज्ञान स्वरूप और मिथ्या है, परन्तु पामरों (मूढ़ पुरुषों) को यह त्रिकाल में (तीनों कालों में सदैव) वास्तविक प्रतीत होती है, इसीलिए सुनिश्चित रूप से 'यह इस प्रकार की है', ऐसा इसका रूप समझना-बतलाना सम्भव नहीं है॥ १५॥

नाहं भवाम्यहं देवो नेन्द्रियाणि दशैव तु। न बुद्धिर्न मनः शश्वन्नाहंकारस्तथैव च। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो बुद्ध्यादीनां हि सर्वदा। साक्ष्यहं सर्वदा नित्यश्चिन्मात्रोऽहं न संशयः। नाहं कर्ता नैव भोक्ता प्रकृतेः साक्षिरूपकः। मत्सान्निध्यात्प्रवर्तन्ते देहाद्या अजडा इव। स्थाणुर्नित्यः सदानन्दः शुद्धो ज्ञानमयोऽमलः। आत्माहं सर्वभूतानां विभुः साक्षी न संशयः॥

मेरा कभी जन्म नहीं होता, मैं दस इन्द्रियाँ भी नहीं हूँ। मैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी नहीं हूँ। मैं सदा प्राण और मन के बिना ही शुद्ध स्वरूप हूँ। मैं सदैव बुद्धि के बिना ही साक्षी हूँ और सदैव चित्त (चैतन्य) स्वरूप में अवस्थित हूँ। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। मैं कर्त्ता और भोक्ता भी नहीं हूँ, वरन् केवल प्रकृति का साक्षी हूँ तथा मेरी समीपता के कारण देह आदि सचेतन की तरह व्यवहार करते हैं। मैं स्थिर, नित्य, आनन्द और ज्ञान के विशुद्ध स्वरूप में स्थित निर्मल आत्मा हूँ। समस्त प्राणियों के अन्दर मैं साक्षी रूप से संव्याप्त हूँ, इसमें कोई संशय नहीं है॥ १६-१९॥

ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्तवेद्यं नाहं वेद्यं व्योमवातादिरूपम्।
रूपं नाहं नाम नाहं न कर्म ब्रह्मैवाहं सच्चिदानन्दरूपम्॥ २०॥

समस्त वेदान्त के द्वारा जिसे जाना जाता है, मैं वही ब्रह्म हूँ। मैं आकाश, वायु आदि नामों से जाना जाने वाला नहीं हूँ। मैं नाम, रूप और कर्म भी नहीं हूँ, बल्कि मात्र सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ॥ २०॥

नाहं देहो जन्ममृत्यू कुतो मे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे।
नाहं चेतः शोकमोहौ कुतो मे नाहं कर्ता बन्धमोक्षौ कुतो म इत्युपनिषत्॥ २१॥

मैं शरीर नहीं हूँ, तो फिर मेरा जन्म-मरण कैसे हो सकता है? मैं प्राण नहीं हूँ, तो मुझे क्षुधा-पिपासा क्यों सताये? मैं मन नहीं हूँ, तो मुझे शोक-मोहादि क्यों हो? मैं कर्त्ता भी नहीं हूँ, फिर मेरी मुक्ति और बन्धन किस तरह हो? इस प्रकार इस (सर्वसारोपनिषद्) का यही रहस्य है॥ २१॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः॥

॥ स्कन्दोपनिषद् ॥

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में केवल १५ मंत्र हैं। इसमें विष्णु एवं शिव तथा शिव एवं जीव में अभेद दर्शाया गया है। शरीर को शिव मंदिर कहकर उसकी उपेक्षा न करके मंदिर की तरह स्वच्छ-सुन्दर रखने का संकेत किया गया है। भेद रहित दृष्टि को 'ज्ञान', मन का निर्विषय होना 'ध्यान', मन का मैल हटाना 'स्नान' तथा इन्द्रिय निग्रह को 'शौच' कहकर ऋषि ने अध्यात्म दर्शन को व्यावहारिक बनाने की दिशा दी है। अन्त में उपनिषद् की शिक्षा को आत्मसात् करने का महत्त्व दर्शाया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सहनाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अमृतनादोपनिषद्)

अच्युतोऽस्मि महादेव तव कारुण्यलेशतः ।

विज्ञानघन एवास्मि शिवोऽस्मि किमतः परम्॥ १ ॥

हे महादेव! आपकी लेश मात्र कृपा प्राप्त होने से मैं अच्युत (पतित या विचलित न होने वाला) विशिष्ट ज्ञान-पुञ्ज एवं शिव (कल्याणकारी) स्वरूप बन गया हूँ, इससे अधिक और क्या चाहिए? ॥१ ॥

न निजं निजवद्भात्यन्तःकरणजृम्भणात्। अन्तःकरणनाशेन संविन्मात्रस्थितो हरिः ॥

जब साधक अपने पार्थिव स्वरूप को भूलकर अपने अन्तःकरण का विकास करते हुए सबको अपने समान प्रकाशमान मानता है, तब उसका अपना अन्तःकरण (मन,बुद्धि, चित्त, अहंकार) समाप्त होकर वहाँ एक मात्र परमेश्वर का अस्तित्व रहता है॥ २॥

संविन्मात्रस्थितश्चाहमजोऽस्मि किमतः परम्। व्यतिरिक्तं जडं सर्वं स्वप्नवच्च विनश्यति।

इससे अधिक क्या होगा कि मैं आत्मरूप में स्थित हूँ और अजन्मा अनुभव करता हूँ। इसके अतिरिक्त यह सम्पूर्ण जड़-जगत् स्वप्नवत् नाशवान् है॥ ३॥

चिज्जडानां तु यो द्रष्टा सोऽच्युतो ज्ञानविग्रहः। स एव हि महादेवः स एव हि महाहरिः ॥

जो जड़-चेतन सबका द्रष्टारूप है, वही अच्युत (अटल) और ज्ञान स्वरूप है,वही महादेव और वही महाहरि (महान् पापहारक) है॥ ४॥

स एव ज्योतिषां ज्योतिः स एव परमेश्वरः । स एव हि परब्रह्म तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥

वही सभी ज्योतियों की मूल ज्योति है, वही परमेश्वर है, परब्रह्म है, मैं भी वही हूँ, इसमें संशय नहीं है।

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः।

तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात्तुषाभावेन तण्डुलः॥ ६ ॥

जीव ही शिव है और शिव ही जीव है। वह जीव विशुद्ध शिव ही है। (जीव-शिव) उसी प्रकार है, जैसे धान का छिलका लगे रहने पर व्रीहि और छिलका दूर हो जाने पर उसे चावल कहा जाता है॥ ६ ॥

[जीव विशुद्ध शिव ही है, केवल उस पर एक (अज्ञानजन्य) आवरण चढ़ा हुआ है।]

एवं बद्धस्तथा जीवः कर्मनाशे सदाशिवः। पाशबद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥

इस प्रकार बन्धन में बँधा हुआ (चैतन्य तत्त्व) जीव होता है और वही (प्रारब्ध) कर्मों के नष्ट होने पर सदाशिव हो जाता है अथवा दूसरे शब्दों में पाश में बँधा जीव 'जीव' कहलाता है और पाशमुक्त हो जाने पर सदाशिव हो जाता है॥ ७॥

शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे । शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ॥

भगवान् शिव ही भगवान् विष्णुरूप हैं और भगवान् विष्णु भगवान् शिवरूप हैं। भगवान् शिव के हृदय में भगवान् विष्णु का निवास है और भगवान् विष्णु के हृदय में भगवान् शिव विराजमान हैं॥ ८॥

यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः । यथान्तरं न पश्यामि तथा मे स्वस्तिरायुषि।

यथान्तरं न भेदाः स्युः शिवकेशवयोस्तथा॥ ९॥

जिस प्रकार विष्णुदेव शिवमय हैं, उसी प्रकार देव शिव विष्णुमय हैं। जब मुझे इनमें कोई अन्तर नहीं दिखता,तो मैं इस शरीर में ही कल्याणरूप हो जाता हूँ। 'शिव'और 'केशव' में भी कोई भेद नहीं है॥

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः । त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥

तत्त्वदर्शियों द्वारा इस देह को ही देवालय कहा गया है और उसमें जीव केवल शिवरूप है। जब मनुष्य अज्ञानरूप कल्मष का परित्याग कर दे, तब वह सोऽहं भाव से उनका (शिव का) पूजन करे॥ १०॥

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः । स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥

सभी प्राणियों में ब्रह्म का अभेदरूप से दर्शन करना यथार्थ ज्ञान है और मन का विषयों से आसक्ति रहित होना-यह यथार्थ ध्यान है। मन के विकारों का त्याग करना-यह यथार्थ स्नान है और इन्द्रियों को अपने वश में रखना-यह यथार्थ शौच (पवित्र होना) है॥ ११॥

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे । वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते।

इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात्॥ १२॥

ब्रह्मज्ञान रूपी अमृत का पान करे, शरीर रक्षा मात्र के लिए उपार्जन (भोजन ग्रहण) करे, एक परमात्मा में लीन होकर द्वैतभाव छोड़कर एकान्त ग्रहण करे। जो धीर पुरुष इस प्रकार का आचरण करता है, वही मुक्ति को प्राप्त करता है॥ १२॥

श्रीपरमधाम्ने स्वस्ति चिरायुष्योन्नम इति। विरिञ्चिनारायणशंकरात्मकं नृसिंह देवेश तव प्रसादतः। अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमव्ययं वेदात्मकं ब्रह्म निजं विजानते ॥ १३॥

श्री परमधाम वाले (ब्रह्मा, विष्णु, शिव देव) को नमस्कार है, (हमारा) कल्याण हो, दीर्घायुष्य की प्राप्ति हो। हे विरञ्चि, नारायण एवं शंकर रूप नृसिंह देव! आपकी कृपा से उस अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अविनाशी, वेद स्वरूप ब्रह्म को हम अपने आत्म स्वरूप में जानने लगे हैं॥ १३॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥ १४॥

ऐसे ब्रह्मवेत्ता उस भगवान् विष्णु के परम पद को सदा ही (ध्यान मग्न होकर) देखते हैं, अपने चक्षुओं में उस दिव्यता को समाहित किये रहते हैं॥ १४॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदमित्येतन्निर्वाणा-नुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनमित्युपनिषत्॥ १५॥

विद्वज्जन ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर जो भगवान् विष्णु का परमपद है, उसी में लीन हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण निर्वाण सम्बन्धी अनुशासन है, यह वेद का अनुशासन है। इस प्रकार यह उपनिषद् (रहस्य ज्ञान) है॥ १५॥

ॐ सहनाववतु.....इति शान्तिः॥

परिशिष्ट-१

परिभाषा कोश-१०८ उपनिषद् (ज्ञानखण्ड)

१. **अक्षर ब्रह्म**— वेदान्त दर्शन में 'ब्रह्म' की अवधारणा उस परमसत्ता के रूप में है, जो सर्वातिशायी, सर्वसमर्थ, सर्वत्र विद्यमान रहने वाली सर्वोच्च शक्ति है। उस 'परब्रह्म' को अनेक नामों से अभिहित किया गया है- परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म, भूमा, परमचैतन्य, अक्षरब्रह्म (ओंकार) इत्यादि। परब्रह्म का अक्षरात्मक स्वरूप 'ओंकार' 'प्रणव' के रूप में उपनिषदादिक आर्ष ग्रन्थों में सर्वत्र प्राप्त होता है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो 'ब्रह्म' अक्षर ही है, **'न क्षरति इति अक्षरः'** जिसका क्षरण-विनाश नहीं होता है, वह 'अक्षर' है। इस दृष्टि से 'अक्षर' शब्द ब्रह्म की विशिष्टता का बोधक हुआ। वैसे अक्षरात्मक-वर्णात्मक ब्रह्म के रूप में 'ॐ' प्रणव को स्वीकार किया जाता है, जैसे- **अक्षरं परमं पदम्** (महाना० ११.१), **अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरंजनम्** (१ यो०शि० ३.१६), **अक्षरं ब्रह्मपरमं** (गी० ८.३), **अक्षरोऽहमोङ्कारोऽमरोऽभयोऽअमृतो ब्रह्माभयं हि वै** (गो० उ० ४०)। इन उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि अक्षर ब्रह्म-ओंकार-प्रणव-आत्मा आदि सभी एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं। अक्षर ब्रह्म का विशद विवेचन माण्डूक्य उपनिषद् तथा गौड़पादकृत माण्डूक्य कारिका में उपलब्ध है।

२. **अग्नि**— वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में देवतारूप में अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह तीनों लोकों में प्रमुखतः तीन रूपों में है- आकाश में सूर्य, अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथ्वी पर साधारण अग्नि। ऋग्वेद में सबसे अधिक सूक्त अग्नि देवता की स्तुति में ही संगृहीत हैं। अग्नि को गृहपति कहा गया है और परिवार के सभी सदस्यों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है (ऋ० २.१.९)। अग्नि को दिव्य पुरोहित भी कहा गया है- **अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋ० १.१.१)। अग्नि सर्वदर्शी है, वह मनुष्य के सब कर्मों को देखता है- (ऋ० १०.७९.५)। अग्नि को प्रमुख रूप से तीन रूपों में अभिहित किया गया है- १. गार्हपत्य २. दक्षिणाग्नि ३. आहवनीय। मीमांसा सूत्र में जैमिनि ने अग्नि के छः रूप वर्णित किये हैं- गार्हपत्य २. आहवनीय, ३. दक्षिणाग्नि ४. सभ्य ५. आवसथ्य और ६. औपासन। अग्नि और आदित्य दोनों को भर्ग भी कहा गया है-**अग्निर्वै भर्गः। आदित्यो वै भर्गः** (जैमि० ४.२८.२)।

३. **अङ्गिरस्** —द्र० - अथर्वा ।

४. **अङ्गुष्ठमात्र**— मनुष्य की हृदय गुहा में वह परमात्मा आत्मा रूप में अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला या अँगूठे जैसा समाविष्ट है। यही तथ्य उपनिषद् से भी प्रमाणित होता है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः** (कठ० २.३.१७), **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति** (कठ० २.१.१२)। यह परमात्मा हृदय में अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाली धूमरहित ज्योति के रूप में है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** (कठ० २.१.१३)। यह ज्योति सूर्य के समान प्रकाशमय और सङ्कल्प तथा अहंकार से युक्त है-**अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकारसमन्वितो यः** (श्वेता० ५.८)।

५. **अज**— अज का शब्दार्थ है - जिसका जन्म न हो, जन्म के बन्धन से रहित। अजन्मा, स्वयंभू , ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वर और कामदेव को भी अज कहकर निरूपित किया जाता है। मानस में ब्रह्म को अज कहा गया है- ब्रह्म जो व्यापक विरज, अज, अकल, अनीह, अभेद (रा०मा० १.५०)। जीव तथा माया को भी 'अज' रूप में माना गया है। महाभारत में अज के विषय में कहा गया है-**नहि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन। क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः॥** (महा० शान्ति० ३४२. ७४) अर्थात् मैं न उत्पन्न हुआ हूँ, न होता हूँ और न होऊँगा। सब प्राणियों का मैं क्षेत्रज्ञ हूँ, इसीलिए लोग मुझे अज कहते हैं। अनादि प्रकृति को भी अज कहा गया है। उपनिषद् के अनुसार बहुत से प्राणियों को त्रिगुणात्मक रचने वाली लाल, कृष्ण, सफेद रंग की एक अजन्मा प्रकृति को एक अज (अज्ञानी जीव) आसक्त होकर भोगता है और दूसरा अज (ज्ञानी पुरुष)भुक्त प्रकृति को त्याग देता है-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ (श्वेता० ४.५)।

६. **अज्ञान** — द्र० - अविद्या ।

७. **अणु**— पदार्थ के अतिसूक्ष्म कण को अणु कहा गया है, यह पदार्थ का इन्द्रिय-अग्राह्य सूक्ष्मकण होता है, जो पदार्थ के मौलिक गुण को अपने में धारण किये रहता है। एक अणु, दो या अनेक परमाणुओं के संयोग से बनता है। अणु को विश्व प्रपंच का कारण मानने वाला सिद्धान्त अणुवाद कहलाया। वैशेषिक दर्शन का यह प्रमुख अङ्ग है। जैन मतानुसार अणु स्थूल या सूक्ष्म रूप में रह सकता है। जब यह सूक्ष्म रूप में रहता है, तो अगणित अणु एक स्थूल अणु को घेरे रहते हैं। अणु अपने अन्दर इतनी गति का विकास कर सकता है कि एक क्षण में वह विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सके। उपनिषद् में यह प्रतिपादन है कि आत्म तत्त्व के विषय में अन्य ज्ञानी पुरुष के उपदेश न करने पर मनुष्य का प्रवेश नहीं होता, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म अणु से भी अधिक सूक्ष्म है; अतः तर्क से परे है- **अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्** (कठ० १.२.८)। वह आत्मतत्त्व सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म और महान् से अति महान् है- **अणोरणीयान्महतो महीयान्** (कठ० १.२.२०)।

८. **अथर्वा-अङ्गिरा**— अथर्वा अथर्ववेद के द्रष्टा ऋषि हुए हैं। सम्भवतः इन्हीं के नाम से अथर्ववेद नाम एक वेद का पड़ा। ब्रह्माजी के प्रमुखतः दो पुत्र हुए हैं- एक अथर्वा, दूसरे अङ्गिरा। मुण्डकोपनिषद् के प्रथम श्लोक में देव ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में ये अभिप्रेत हैं। ब्रह्माजी ने सब विद्याओं में आधारभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश सर्वप्रथम अथर्वा को किया। अथर्वा ने इस विद्या का उपदेश अङ्गिर् ऋषि को किया- **अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्** (मुण्ड० १.१.२)। अथर्वा के गोत्रज अथर्वाणः या 'आथर्वणः' कहलाये और अङ्गिरा के गोत्रज 'आङ्गिरस' कहलाये। महाभारत में अथर्वा का उल्लेख अथर्वन् के रूप में मिलता है, जिन्होंने समुद्र में छिपे हुए अग्नि का पता लगाया था (महा०वनपर्व २२२)। अङ्गिरा का उल्लेख अङ्गिरस् नाम से ब्रह्मादेव के छः मानस पुत्रों में से एक पुत्र के रूप में मिलता है (महा० आदिपर्व ६५.१०)। अथर्वा और अङ्गिरा का संयुक्तरूप से उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। अथर्ववेद के मन्त्र अथर्वा और अङ्गिरा द्वारा दृष्ट होने के कारण उन्हें 'अथर्वाङ्गिरसः' कहकर निरूपित किया गया है- **तस्य यजुरेव शिरः। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा** (तैत्ति०२.३.१)।

९. **अद्वैत**— वेदान्त दर्शन का प्रमुख सिद्धांत 'अद्वैत' है। आद्य शंकराचार्य ने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। इसलिए यह उनके सिद्धांत का पर्याय बन गया है। शंकराचार्य ने एकमात्र सत्ता 'परब्रह्म' की स्वीकार की है। उनके अनुसार पारमार्थिकी (भूत-वर्तमान-भविष्यत्) सत्ता 'परब्रह्म' की है। वही नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला निर्गुण, अविकारी, कूटस्थ है, उसके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है। **एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म** (त्रि०म०३.३, पैंग० १.१), **एकमेव परं ब्रह्म विभाति** (ब्रह्म० २), **एकमेवाद्वितीयम्** (छान्दो० ६.२.१) जैसे श्रुति वचन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व स्वीकार करता है, इसलिए उसे 'द्वैत' दर्शन कहते हैं। कोई-कोई ईश्वर, जीव, प्रकृति तीन तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे त्रैत दर्शन कहलाते हैं। शंकराचार्य ने एक तत्त्व को ही स्वीकार किया-**न द्वैतः इति अद्वैतः**, जहाँ दो तत्त्व नहीं हैं, वह अद्वैत है। शंकराचार्य जी का कहना है कि वही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला एक परमतत्त्व-परब्रह्म, माया विशिष्ट होकर सगुण ब्रह्म-अपरब्रह्म बन जाता है और जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण बनता है। दूसरे शब्दों में 'ब्रह्म' तो एक ही है, परन्तु माया की उपाधि से कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म -दो हो जाता है। कार्य ब्रह्म की केवल प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता केवल कारण ब्रह्म की है। इसी एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर यह सिद्धांत 'अद्वैत' कहलाता है।

१०. **अधिष्ठान**— अधिष्ठान शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- वासस्थान, रहने का स्थान, स्थिति, मुकाम, आधार, अधिकार आदि। अधिष्ठान से सम्बद्ध अधिष्ठाता शब्द बना है, जिसका अर्थ है- अधिकारी, अध्यक्ष, मुखिया, नियन्ता, देखभाल करने वाला। अधिष्ठान शब्द की व्युत्पत्ति अधि+स्था-अधिकरणे ल्युट् की गयी है। इसके पर्याय हलायुधकोश में नगर, चक्र, प्रभाव, अध्यासन, अवस्थान आदि दिये गये हैं। उपनिषद् के अनुसार पाँच रूपों के त्यागने और अपने स्वरूप में स्थित होने से जो सत्ता (अधिष्ठान) शेष रहती है, उसे परम तत्त्व कहते हैं- **पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणतः। अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत्** (बह्व० ६)।

११. **अनन्त**— उस व्यापक-विराट् सृष्टि की रचना करने वाले परमात्मा को अनन्त कहा गया है। यह समूची सृष्टि अन्तहीन, अपरिमित, अप्रमेय या अनन्त है, इसकी रचना करने वाला परमात्मा भी अनन्त ही है। उपनिषद् में यह

तथ्य प्रतिपादित है कि उसे अनन्त इसलिए कहा जाता है कि उसका उच्चारण करते समय नीचे, ऊपर और तिर्यक् कहीं भी अन्त देखने में नहीं आता-**यस्मादुच्चार्यमाण एवाद्यन्तं नोपलभ्यते तिर्यगूर्ध्वमधस्तात् तस्मादुच्यते अनन्तः** (अ०शिर० ४८)। दिशा को तथा साम को अनन्त कहकर निरूपित किया गया है-**अनन्ता हि दिशः** (बृह० ४.१.५)। **अनन्तं साम** (जैमि० १.३५.८)। वह अनन्त परमात्मा व्यक्त-अव्यक्त सृष्टि प्रपञ्च में पूर्ण व्यापक और चैतन्यरूप है-**अव्यक्तादि सृष्टिप्रपञ्चेषु पूर्णं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते** (स०सा० १२)।

१२. अन्तःकरण चतुष्टय— शरीर के अंग-अवयव जिस शक्ति से अपना कार्य-व्यापार सम्पन्न करते हैं, उसे 'इन्द्रियशक्ति' कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शरीरस्थ चैतन्य अंश (जीवात्मा) जिनके माध्यम से कर्त्ता-भोक्ता की भूमिका सम्पन्न करता है, वे इन्द्रियाँ (करण)-साधन कहलाते हैं। ये मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं-१. अन्तरिन्द्रिय, २. बाह्येन्द्रिय। अन्तरिन्द्रिय, जो शरीर के अन्दर सक्रिय होती है, बाहर से उसका कुछ भी स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। इनकी संख्या ४ मानी गयी है। दूसरे शब्दों में इन्हें अन्तःकरण (अन्तरिन्द्रिय) चतुष्टय कहा जाता है। वे हैं- मन, बुद्धि,चित्त और अहंकार। आचार्य शंकर ने अपने विवेक चूड़ामणि में लिखा है-**निगद्यतेऽन्तःकरणं मनो धीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः** (वि० चू० ९५)। अर्थात् अपनी वृत्तियों के कारण अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-इन चार नामों से कहा जाता है। वस्तुतः अन्तःकरण-अन्तरिन्द्रिय एक ही है-मन, वह अपनी वृत्तियों-कार्यों के आधार पर चार रूपों वाला हो जाता है। संकल्प-विकल्प के कारण मन, पदार्थ का विवेकपूर्वक निश्चय करने के कारण बुद्धि, अपना इष्ट चिन्तन करने के कारण चित्त तथा अहं-अहं (मैं-मैं) ऐसा स्वानुभूतिजन्य अभिमान करने के कारण अहंकार कहलाता है-**मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः॥ अत्राभिमानादहमित्यहंकृतिः स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम्॥** (वि० चू० ९६)।

बाह्येन्द्रिय वह होती है, जिसका स्वरूप बाहर से भी प्रकट होता है। यह पुनः दो प्रकार की होती है-१. ज्ञान प्राप्ति की हेतुभूता, २. कर्म सम्पादन की हेतुभूता। ज्ञान प्राप्ति की कारणभूता इन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय कहलाती है। इसकी संख्या पाँच है-श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा। कर्म सम्पादन समर्था इन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय कहलाती है, इसकी संख्या भी पाँच है-वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ। इन दसों इन्द्रियों का आचार्य शंकर ने इस प्रकार उल्लेख किया है-**बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि, घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात्। वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थः कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु॥** (वि० चू० ९४)अर्थात् श्रवण (सुनने की शक्ति), त्वचा (स्पर्शज्ञान की शक्ति), नेत्र (देखने की शक्ति), घ्राण (सूँघने की शक्ति) और जिह्वा (स्वादानुभूति की शक्ति)-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनसे विषय का ज्ञान होता है तथा वाक् (वाणी),पाणि(हाथ),पाद (पैर),गुदा (मल विसर्जन अंग) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)-ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनका कर्मों की ओर झुकाव होता है। इस प्रकार कुल इन्द्रियाँ (मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय मिलकर) ग्यारह हो जाती हैं।

१३. अन्तर्मुख-बहिर्मुख— जिस साधक की वृत्ति आन्तरिक हो, अर्थात् अन्तःकरण की ओर प्रवृत्त होती हो, जो अपने ही विचारों और भावनाओं में तल्लीन रहता हो, वह अन्तर्मुख या आत्मरत कहा जाता है। अन्तर्मुख पुरुष अपनी इन्द्रियों और मन को हठात् आन्तरिक उत्थान में नियोजित कर आत्मशक्ति संचय करता और आत्म उत्कर्ष में लगा रहता है। अन्त में आत्मा में ही विराट् परमात्म चेतना से सम्बद्ध हो जाता है। बहिर्मुख व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और शब्द के सुखों में लगाता हुआ आन्तरिक शक्ति और मानसिक शक्ति को खोता चला जाता है। आत्मज्ञानी साधक बाह्य व्यवहार करता हुआ भी अन्तर्मुख रहता है और सदा थके हुए के समान सोता सा दिखाई देता है-**अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन्। परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते** (अक्षि० २.३६)। वह सुषुप्त अथवा बुद्ध अवस्था में भी अन्तर्मुख रहता है-**अन्तर्मुखतया नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन्पठन्** ॥ (अ०पू० १.३४)

१४. अन्तर्यामी-साक्षी— उस व्यापक परमात्मा के विभिन्न विशेषणों का निरूपण किया जाता है। वह व्यापक देव घट-घट व्यापी होने से अन्तर्यामी कहा गया है। वह सब कुछ देखने और जानने वाला होने से साक्षी भी कहा गया है। अन्तः-स्थित चैतन्य पुरुष को ही कूटस्थ, क्षेत्रज्ञ, अन्तर्यामी और साक्षी कहते हैं। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से परे रहने वाला जो नित्य

साक्षी-चैतन्य है, वही तुरीय चैतन्य है-**अवस्थात्रयभावाभाव साक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा तदा तत्तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते** (स०सा० ४)। ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की उत्पत्ति तथा लय को जानने वाला, फिर भी स्वयं उत्पत्ति और लय से रहित आत्मा साक्षी कहलाता है- **ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमाविर्भावतिरोभावरहितः स्वयंज्योतिः साक्षीत्युच्यते** (स०सा० ९)। इन कूटस्थ आदि उपाधि के भेदों में से स्वरूप लाभ के लिए जो आत्मा समस्त शरीर से माला के धागे की तरह पिरोया हुआ है, वह अन्तर्यामी कहलाता है-**कूटस्थोपहितभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणे सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा काश्यते आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते** (स०सा० ११)। जो साधक मोहरहित होकर साक्षी के समान जीवन व्यतीत करता है और बिना किसी फल की इच्छा से कर्म करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है (महो० १.५१)।

१५. **अपराविद्या— द्र०- पराविद्या।**

१६. **अपरिग्रह—** अनिवार्य आवश्यकता से अधिक का त्याग अपरिग्रह कहलाता है। योगदर्शन में यम के पाँच भेद वर्णित हैं- १. सत्य, २. अहिंसा, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह। जैन शास्त्र के अनुसार मोह का त्याग अपरिग्रह है। विषय वस्तुओं को अस्वीकार करना भी अपरिग्रह माना जाता है। महर्षि व्यास ने कहा है कि विषयों के उपभोग में विविध दोष देखकर उन्हें ग्रहण न करने का नाम अपरिग्रह है- **विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोष दर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः** (साङ्ग्योगदर्शन-व्यास भाष्य)। स्वामी रामतीर्थ यति ने लिखा है कि समाधि के अनुष्ठान में अनुपयुक्त वस्तु का संग्रह न करना अपरिग्रह है। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि अपरिग्रह के स्थिर हो जाने पर साधक को जन्म-जन्मान्तरों के विषय में सम्यक् बोध हो जाता है- **अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः**। (यो० द० २.३९)

१७. **अप्सरा—** अप्सराओं की उत्पत्ति जल (अप्) से मानी जाती है। **'अप्सु जायन्ते इति अप्सराः'** - इस व्युत्पत्ति के आधार पर अप्सरा शब्द से जल में या जल से उत्पन्न वनस्पतियों का बोध होता है। वनस्पतियाँ ही प्रारम्भिक तौर पर प्राणदायिनी, सुख-सुविधा (वस्त्र, आवास, भोजन आदि) प्रदान करने वाली थीं। आगे चलकर इन्हीं विशेषताओं से युक्त देवलोक की सुन्दरियों को अप्सरा कहा जाने लगा। अत्यधिक आनन्ददायी होने के कारण कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को आत्मज्ञान के बदले अप्सराएँ प्रदान करने की पेशकश की थी, परन्तु नचिकेता ने किसी भी प्रकार इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि जिस प्रकार दुनिया के हर सुख-आनन्द नश्वर हैं, उसी प्रकार देवलोक की इन अप्सराओं से प्राप्त होने वाला सुख और आनन्द भी नश्वर होगा। अतः मुझे अप्सरा नहीं आत्मज्ञान चाहिए। कठोपनिषद् में यह कथा बड़े विस्तार से व्याख्यायित है।

कहा जाता है कि देवराज इन्द्र इन अप्सराओं के माध्यम से उन लोगों को पथभ्रष्ट कर देते हैं, जो जप-तप द्वारा इन्द्रपद का अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते हैं। देवलोक की प्रमुख अप्सराओं के नाम हैं- मेनका, रम्भा, उर्वशी, घृताची, तिलोत्तमा आदि।

१८. **अभ्युदय-निःश्रेयस—** अध्यात्म मार्ग लोगों द्वारा प्रायः पलायनवादी मार्ग माना जाता है। अधिकांश लोगों का मानना है कि 'धर्म-अध्यात्म' घर-द्वार छोड़कर अपनाया जा सकता है अथवा धर्म-अध्यात्म मार्ग पर चलने वालों के घर-द्वार छूट जाते हैं, व्यक्ति एकाकी-अकिंचन स्थिति में रह जाता है, जबकि यथार्थता इससे भिन्न है। इसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास की समस्त सम्भावनाएँ सन्निहित हैं। वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा बताई है- **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः** (वै०द०१.१.२) अर्थात् धर्म वह है, जो अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) तथा निःश्रेयस (परम कल्याण-आध्यात्मिक उन्नति) को सिद्ध करने वाला है। ऋषियों की थाती वेदज्ञान के रूप में विद्यमान है। वेदों में ज्ञान (आध्यात्मिक) और विज्ञान (भौतिक) दोनों विद्यमान हैं। उसमें ज्ञान के अन्तर्गत दर्शन, मनोविज्ञान, रहस्यवाद आदि गूढ़ विषय तो हैं ही, उसके साथ ही विज्ञान भी है। विज्ञान के अन्तर्गत तन्त्र प्रयोग, खगोल विज्ञान, ज्योतिष् विज्ञान, औषधि एवं चिकित्सा विज्ञान जैसे विषय समाहित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय धर्म-अध्यात्म में अभ्युदय-भौतिक उन्नति एवं निःश्रेयस-आध्यात्मिक उन्नति दोनों तत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। जीवन की सार्थकता एवं सर्वतोमुखी विकास के लिए दोनों की उपयोगिता सुनिश्चित रूप से है।

१९. **अमृत-मृत्यु—** ईशावास्योपनिषद् में विद्या और अविद्या दोनों की महत्ता इस तरह प्रतिपादित है कि अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके (रहस्य जानकर) विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति की जा सकती है-**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते** (ईश०११)। उपनिषद् में मृत्यु से अमृत (अमरत्व) की ओर ले चलने का भाव अभिव्यक्त हुआ है-**मृत्योर्माऽमृतं गमय** (बृह०१.३.२८)। इसी मन्त्र में असत् और तमस् को मृत्यु का प्रतीक और सत् और ज्योति को अमृत का प्रतीक निरूपित किया गया है। ब्रह्म को ही अमृत स्वरूप माना गया है-**यद्ब्रह्म तदमृतम्** (जैमि० १.२५.१०)। कठोपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य के हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं, तो मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है (कठ०२.३.१४-१५)। गीता में भगवान् कहते हैं कि सुख-दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये ऐन्द्रिय विषय व्याकुल नहीं करते, वह अमृतत्व का अधिकारी होता है-**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते** (गी०२.१५)। उपनिषद् के अनुसार बालबुद्धि ही बाह्य भोगों का अनुगमन कर मृत्यु के भयंकर पाशों में फँसते हैं, किन्तु विवेकवान् पुरुष अमरता को अटल जानकर जगत् के अनित्य पदार्थों की कामना नहीं करते-**पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते** (कठ०२.१.२)। मृत्यु इस जगत् का अटल नियम है। गीता में कहा गया है-जन्मने वाले की मृत्यु सुनिश्चित है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है-**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गी०२.२७)।

२०. **अर्वा —द्र० - अश्व।**

२१. **अवधूत— द्र० - संन्यासी।**

२२. **अविद्या,माया,अज्ञान—**'अविद्या' को समझने के लिए विद्या को समझना आवश्यक है।'विद्या' वह शक्तिधारा है, जिसके द्वारा यथार्थ (जो जैसा है, उसको वैसा ही जानना) का बोध (स्वानुभूति) हो। 'अविद्या' विद्या का विरोधी भाव है-**अविद्या तत्त्वविद्या विरोधिनी** (वाच०)।'अविद्या' द्वारा यथार्थ का बोध नहीं हो पाता। झाड़ी को भूत, रस्सी को साँप और सीपी को चाँदी की प्रतीति कराने वाली अविद्या ही है। वेदान्त दर्शन में इसके अनेक पर्याय मिलते हैं, यथा-अज्ञान, माया, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, अव्याकृत प्रधान, प्रकृति, अध्यास, शक्ति, उपाधि आदि। आचार्य शंकर ने इसे माया कहते हुए, इसके गुणों को प्रकट करते हुए लिखा है-**अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया, यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते** (वि०चू० ११०)।

वस्तुतः माया और अविद्या में थोड़ा सा अन्तर है, वह यह कि 'अविद्या' चैतन्य तत्त्व को अपने वशवर्ती बना कर रखती है। इस प्रकार अविद्योपहित चैतन्य 'जीव' कहलाता है, किन्तु जब यही चैतन्य के वशवर्ती होकर उसकी आज्ञानुवर्ती बन जाती है, तो 'माया' कहलाती है और माया को वशवर्ती बनाने वाला चैतन्य 'ईश्वर' कहा जाता है। अविद्या ही चैतन्य-आत्मतत्त्व को अपने प्रभाव से आवृत कर लेती है (**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**-श्वेता० १.३) और उसे कर्म-बन्धनों में आबद्ध संसारी जीव की स्थिति प्रदान कर देती है, जबकि वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चैतन्य (परमात्मा) रूप है। इसके इसी विशेष प्रभाव के कारण इसे 'अनिर्वचनीय' संज्ञा प्रदान की गई है। यह सत् भी है, असत् भी है। इसके द्वारा रस्सी में सर्प का भान होता है, ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। ज्ञान होने पर सर्प के स्थान पर रस्सी तथा जगत् के स्थान पर ब्रह्म का बोध होने से यह अस्तित्वहीन (असत्) हो जाती है। इसकी इसी विचित्रता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं-**सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो। सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा** (वि० चू० १११)। इसी माया के प्रभाव से सभी प्राणी संसार सागर में डूबते-उतराते रहते हैं, इस सागर से पार नहीं जा पाते, तभी तो महात्मा कबीर ने कहा था- **माया महाठगिनी मैं जानी**। शास्त्र कहते हैं कि समर्पण भाव से परमात्मा के प्रति भक्ति भाव रखने वाले पर इस माया का प्रभाव नहीं हो पाता। वे परमात्मा को सब कुछ समर्पित करके कर्त्ता-भोक्ता भाव से मुक्त होकर इस माया पर विजय पा लेते हैं, अर्थात् भवसागर-भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं-**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते** (गी० ७.१४)।

२३. **अश्व—** पशुओं में पराक्रमवान्, बलिष्ठ और गतिमान् पशु अश्व है। इसके पर्यायवाची शब्दों में अर्वन्, अर्वा, हय, वाजी इत्यादि शब्द हैं। अश्व शक्ति, बलिष्ठता, चंचलता और गतिशीलता का भी प्रतीक माना गया है। बलिष्ठता के

लिए यह विशेष प्रसिद्ध है- **अश्वः पशूनामोजिष्ठो बलिष्ठः** (तै० ब्रा० ३.८.७.१), **तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः** (ऐत० ब्रा० ५.१)। चंचल तथा अग्रगामी ज्वालाओं से अग्नि को भी अश्व कहकर निरूपित किया गया है- **अग्निर्वा अश्वः श्वेतः** (शत० ब्रा० ३.६.२.५)। **सोऽग्निरश्वो भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय** (गो० ब्रा० २.४.११)। यज्ञ की चञ्चल अग्नि को यज्ञाश्व संज्ञा से निरूपित किया जाता है। विराट् यज्ञ की कल्पना भी अश्वरूप में बृहदारण्यक उपनिषद् में की गयी है- **उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः** (बृह० १.१.१)। यह अश्व हय होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्यों को वहन करता है-**हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्** (बृह० १.१.२)। इन्द्रियों का वश में न रह पाना दुष्ट अश्वों की भाँति माना गया है-**तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः** (कठ०१.३.५)।

२४. **अश्वमेध** — अश्वमेध यज्ञ एक विशिष्ट वैदिक यज्ञ है। इसका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र में सांस्कृतिक एकता स्थापित करना था। इसका अन्य उद्देश्य था- राष्ट्र के पराक्रम को मेधा बुद्धि से संयुक्त करना, जिससे कि अश्व रूपी पाशविक या चञ्चल प्रवृत्तियों का मेध (मर्दन) हो सके। मध्य युग में राजनैतिक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से अश्व छोड़कर यह विशिष्ट यज्ञानुष्ठान प्रारंभ किया जाता था। अश्वमेध को सभी यज्ञों का राजा कहा गया है- **राजा वाऽएष यज्ञानां यदश्वमेधः** (शत० ब्रा० १३.२.२.१)। अश्वमेध सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए राष्ट्र के पराक्रम, मेधा, सम्पदा और राष्ट्रीयता के विस्तार के उद्देश्य से ही सम्पन्न किया जाता था, अतः ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है- **राष्ट्रं वा अश्वमेधः** (तै० ब्रा० ३.८.९.४)। सूर्य तपता है और उसी से पराक्रम, सामर्थ्य और मेधा क्षरित होती है, अतः सूर्य को भी अश्वमेध संज्ञा से निरूपित किया गया है-**एष ह वा अश्वमेधो य एष (सूर्यः) तपति** (बृह० १.२.७)।

२५. **असम्भूति-सम्भूति** — ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति और असम्भूति शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है-**सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः, तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या**। सम्भवन (उत्पन्न होने) का नाम सम्भूति है, वह जिसके कार्य का धर्म है, उसे 'सम्भूति' कहते हैं। उससे अन्य असम्भूति-प्रकृति-कारण अथवा अव्याकृत नाम की अविद्या है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मूल प्रकृति जो दृश्यमान जगत् की आदि कारण है, 'असम्भूति' है और यह दृश्यमान जगत् 'सम्भूति' है। यह दिखायी देने वाला विश्व ब्रह्माण्ड जिसे दर्शन की भाषा में कार्य ब्रह्म भी कहा जाता है- सम्भूति है और इस ब्रह्माण्ड का आदि कारण अव्याकृत - अप्रकट रूप में विद्यमान जिसे दर्शन की भाषा में 'प्रकृति' कहा जाता है- असम्भूति है।

ब्रह्माण्ड की तरह पिण्ड में 'सम्भूति-असम्भूति' की स्थिति है। पिण्ड (शरीर) में भी दो स्वरूप का अनुभव होता है -एक तो हाथ-पैर आदि अंग-अवयवों से शारीरिक कार्य करता हुआ-मन मस्तिष्क से सोच-विचार करता हुआ, दूसरा उसका कारण स्वरूप जो दृश्यमान नहीं होता, किन्तु दृश्यमान का कारण अवश्य है। दर्शन की भाषा में दृश्यमान को स्थूल-सूक्ष्म शरीर तथा अदृश्य को कारण शरीर कहा जाता है। यही कारण शरीर 'असम्भूति' तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर 'सम्भूति' की श्रेणी में आता है। उपनिषद् का मानना है कि 'मूल प्रकृति' को-कारण शरीर को - असम्भूति को सब कुछ मानकर उपासना करने वाला तथा दृश्यमान जगत् को स्थूल-सूक्ष्म शरीर को-सम्भूति को सब कुछ मानकर उपासना करने वाला घोर अन्धकार में पड़ने की तरह कल्याण की प्राप्ति नहीं कर पाता, क्योंकि ये दोनों अतिवादी दृष्टिकोण हैं। वस्तुतः मनुष्य को करना क्या चाहिए- इसका स्पष्ट निर्देश उपनिषद्कार ने ईशावास्योपनिषद् के चौदहवें मन्त्र में दिया है-**सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥**'जो व्यक्ति सम्भूति (दृश्यमान जगत्) और विनाश (नाशरहित मूलकारण-प्रकृति)को साथ-साथ जानता है (उपासना करता है),वह विनाश-अव्याकृत प्रकृति से मृत्यु को पार करके, सम्भूति-दृश्यमान जगत्-कार्यब्रह्म-से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। समन्वयवादी दृष्टिकोण यही है।

२६. **असुर-राक्षस**—शास्त्रों में मनुष्य मात्र को पाँच वर्गों में रखा गया है। चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पंचम निषाद। उसी प्रकार सूक्ष्म लोक या अन्तरिक्ष लोक में पाँच वर्ग या श्रेणियों का वर्णन मिलता है- गन्धर्व, पितर, देवगण, असुर और राक्षस। यज्ञ की सामग्री भी यही ग्रहण करते हैं। इसकी पुष्टि निरुक्त शास्त्र में होती है- **पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् । गन्धर्वाःपितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः** (निरु० ३.८)। असुरों को दैत्यों, दानवों या राक्षसों की श्रेणी में गिना जाता है। इन्हें पवित्र यज्ञादि

कार्यों में विघ्नकारी तथा कुमार्गगामी माना गया है। राक्षसों को कुबेर के धनकोश का रक्षक भी माना गया है। असु का अर्थ प्राण होने से असुर शब्द प्राणवान् या शक्तिमान् का भी बोधक है। असुरों के गुरु भृगुपुत्र शुक्राचार्य माने गये हैं। देवों, मनुष्यों एवं असुरों तीनों को प्रजापति की संतान कहकर स्वीकार किया गया है- **त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः** (बृह० ५.२.१)।

२७. **आकाश** — पृथ्वी से ऊपर-नीचे विस्तृत अनंत आकाश (रिक्त स्थान) है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व के सब पदार्थ ग्रह-उपग्रह, नक्षत्र, तारे, चन्द्र, सूर्य आदि स्थित हैं, आकाश कहलाता है। पृथ्वी के निकटवर्त्ती आकाश का वह भाग, जिसमें वायु और मेघ होते हैं, अन्तरिक्ष लोक कहा जाने लगा। पञ्चतत्त्वों में से एक तत्त्व आकाश है, जिसका गुण 'शब्द' है और उससे श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति मानी गयी है। द्यौः, द्यु, अभ्र, व्योम, पुष्कर, अम्बर, गगन, नभ, अनन्त, स्वर्ग, खं आदि आकाश के पर्यायवाची शब्द हैं। पृथ्वी के ऊपर के आकाश (स्वर्ग) में तथा नीचे के आकाश (पाताल) में सात-सात लोकों के अस्तित्व का उल्लेख भी मिलता है। याज्ञवल्क्य ने गार्गी से आकाश के विस्तार का वर्णन किया है- जो द्युलोक से ऊपर, पृथ्वी से नीचे और जो द्युलोक एवं पृथ्वी के मध्य में है और द्युलोक एवं पृथ्वी तथा भूत,वर्तमान, भविष्यत्- ये सब आकाश में ओत-प्रोत हैं- **यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतञ्च प्रोतञ्चेति** (बृह० ३.८.४)। यह सम्पूर्ण विश्व आकाश में ही है- **सर्वमित्याकाशे** (तैत्ति० ३.१०.३)।

२८. **आत्मा-जीवात्मा**— वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' ही है। वेदान्त ग्रन्थों में 'आत्मा' के दो स्वरूप परिलक्षित होते हैं- एक शुद्ध-बुद्ध-निर्विकार स्वरूप, जिस पर अविद्या-अज्ञान का, कषाय-कल्मष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, इसीलिए इसे 'परमात्मा' के समकक्ष माना जाता है- **अयमात्मा ब्रह्म** (नृ०उ० १.२, रा० उ० २.९), **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** (ऐत० १.१.१), **आत्मैवेदं सर्वम्** (नृ०उ० ७.४) इत्यादि औपनिषदिक वचन इसके प्रमाण हैं। आत्मा का दूसरा रूप वह है, जो अविद्या-अज्ञान आदि से आवृत होता है, इसे जीव की - जीवात्मा की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसी का संसार में बारम्बार आवागमन होता है-**अतति सन्ततभावेन जाग्रदादिसर्वावस्थासु अनुवर्त्तते। अत् सातत्यगमने+मनिन्=जीवः** (हला०को०)। हलायुध कोश के इस निर्वचन से स्पष्ट है कि जो निरन्तर गतिमान् रहता है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में शरीर का अनुवर्तन करता है, वह जीव है-**एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥** (ब्र०बि० १२) **एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु** (ब्र०बि० ११), **वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥** (कठो० २.२.१०) इत्यादि उपनिषद् वाक्य इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त का मानना है कि इस 'आत्मतत्त्व' का आनुभूतिक ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति (जीव) आवागमन से मुक्त हो जाता है- दुःखों से-शोक से मुक्त होकर परमशान्ति का अधिकारी बन जाता है- **एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥** (कठ० २.२.१२)

वेदान्त के महान् तत्त्वज्ञ महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी उद्देश्य से अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी को आत्मानुसन्धान का निर्देश दिया था- **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्** (बृह० २.४.५) अर्थात् हे मैत्रेयि! आत्मा ही दर्शन करने, श्रवण करने, मनन करने एवं निदिध्यासन (अनुभव) करने योग्य है। आत्मतत्त्व के दर्शन (साक्षात्कार) से, श्रवण से तथा बुद्धि द्वारा विशेष रूप से जानने (अनुभव करने) से सब कुछ ज्ञान हो जाता है। आत्मज्ञान के अभाव में मुक्ति प्राप्ति सम्भव नहीं- **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** । अतएव समय रहते जीवन के चरम लक्ष्य-आत्मज्ञान की प्राप्ति का परम पुरुषार्थ करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेना मानव जीवन का उद्देश्य कहा गया है।

२९. **आदेश**— आदेश शब्द के पर्याय आज्ञा, उपदेश, संकेत, विवरण, भविष्य कथन, विधिवाक्य आदि बताये गये हैं। उस मनोमय पुरुष का सिर यजुर्वेद है। ऋक् तथा साम क्रमशः दक्षिण और उत्तर भाग है। आदेश (विधि वचन) आत्मा (शरीर का मुख्य केन्द्र) है-**तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा** (तैत्ति० २.३.१)। यह उस परम पुरुष का आदेश (संकेत) है, जो बिजली का चमकना है, वह उसके नेत्रों के झपकने के समान है- **तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा३ इतीन्न्यमीमिषदा३इत्यधिदैवतम्** (केन०४.४)।

३०. **आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक** — सम्पूर्ण विषयों या ज्ञान को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है- १. आधिभौतिक २. आधिदैविक ३. आध्यात्मिक। अन्यान्य प्राणियों के शरीरों अथवा स्थूल भौतिक तत्त्वों से सम्बन्धित विषय आधिभौतिक कहलाते हैं। दैवीय गुणों या देव सम्बन्धी विषयों को आधिदैविक कहा गया है। मन अथवा आत्म तत्त्व से सम्बन्धित विषय आध्यात्मिक कहलाते हैं। केनोपनिषद् में आध्यात्मिक तथ्य (उदाहरण) इस प्रकार है कि हमारा मन ब्रह्म के समीप जाता हुआ प्रतीत होता है, उस ब्रह्म का निरन्तर तीव्रता से स्मरण करता है, इसी मन के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का संकल्प लेता है- **अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णः सङ्कल्पः** (केन० ४.५)।

३१. **आनन्द-परमानन्द** —आनन्द का शाब्दिक अर्थ है- सम्यक् रूप से प्रसन्नता (आ+नन्द)। यह आत्मा अथवा परमात्मा के तीन अनिवार्य गुणों (सत्+चित्+आनन्द) में से एक है। अतः यह आत्मतत्त्व से सम्बन्धित है। आत्मा पञ्चकोशों के आवरण में आबद्ध है- जिनमें अन्तिम पंचमकोश आनन्दमय कोश है। यह विशिष्ट आध्यात्मिक सुख है। उपनिषद् के अनुसार आनन्द से ही सभी भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं- **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति** (तैत्ति० ३.६)। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आत्मा के आनन्दस्वरूप होने का उल्लेख मिलता है- **आनन्दरूपममृतं यद्विभाति** (मुण्ड०२.२.७), **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** (तैत्ति० ३.६.१), **आनन्द आत्मा** (तैत्ति०२.५.१)। आत्मा को परमानन्द स्वरूप भी कहा गया है। इसका तात्पर्य निरतिशय सुखस्वरूप अथवा सर्वोच्च आनन्द स्वरूप से है। ब्रह्म की आनन्दरूपता को '**रसो वै सः**' (तैत्ति० २. ७) के द्वारा भी प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म अपार अथवा अनन्त आनंद का सागर है।

३२. **आपः**— आपः शब्द विशेषतया 'जल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए बादल के लिए आपधर और समुद्र के लिए आपनिधि शब्द प्रयुक्त हुआ है। जल के प्रवाह या आकाश के लिए भी आपः शब्द का उपयोग किया जाता है। आकाश में सतत संचरणशील प्रवाह या आकाशीय ईथर तत्त्व से भी इसकी संगति बिठाई गयी है। संभवतः प्राणरूप होने के कारण आपः की तुलना अन्न से की गयी है- **आपो वा अन्नम्** (तैत्ति० ३.८.१)। आपः (जल) में तेज प्रतिष्ठित है और तेज में आपः-**अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः** (तैति०३.८.१)। वैदिक संहिताओं में आपः देवता की कई सूक्तों में स्तुति की गयी है, यहाँ इसका भावार्थ प्रायः सूक्ष्म आकाशीय तत्त्वों (सृष्टि संरचना की मूलभूत इकाई) के रूप में लिया गया है। आपः को प्राणरूप में भी निरूपित किया गया है- **प्राणो ह्यापः** (जैमि० ३.१०. ९)। वरुणदेव जल में प्रतिष्ठित हैं- **स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। अप्स्विति** (बृह०३.९.२२)। सम्पूर्ण देवगणों को भी आपः से सम्बद्ध बताया गया है-**आपो वै सर्वा देवताः** (ना०प०३.७९)।

३३. **आयतन**— आयतन शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- स्थान, मंदिर, विश्रामालय आदि। पुराणों में पवित्र स्थान , मंदिर आदि अर्थ में आयतन शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसे- देवायतन, शिवायतन आदि। विष्णु भगवान् को मङ्गल का आयतन कहकर निरूपित किया गया है- **मङ्गलं भगवान् विष्णुः मङ्गलं गरुडध्वजः। मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः॥** छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन मिलता है कि जो आयतन को जानता है, वह अपने बन्धु-बान्धवों का आयतन (आश्रय) होता है। निश्चय ही मन (सम्पूर्ण इन्द्रियों का) आयतन है- **यो ह वा आयतनं वेदायतनः ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम्** (छान्दो० ५.१.५)। प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन- यह चतुष्कल पाद ब्रह्म का आयतनवान् नाम वाला है-**प्राणः कला। चक्षुः कला। श्रोत्रं कला। मनः कला। एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम** (छान्दो० ४.८.३)।

३४. **आवागमन-चक्र** — बार-बार जन्म लेना और मरना, भूतल पर आना और जाना, जीवात्मा का विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करना आवागमन-चक्र कहलाता है। सभी हिन्दू दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि जब तक जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं होता, वह आवागमन-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। अच्छे-बुरे कर्मों के आधार पर उसे ८४ लाख योनियों में से किस योनि में पुनर्जन्म होगा, इसका निर्धारण होता है। आवागमन-चक्र को भव-बन्धन , संसार चक्र या जन्म-मरण चक्र भी कहते हैं। गीता में कहा गया है कि प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला और पापों को धो डालने वाला अनेक जन्मों के बाद सिद्ध होकर फिर परमगति (मुक्ति) को प्राप्त करता है-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (गी० ६.४५) जो आकाश में स्थित निष्कल तत्त्व का ध्यान करता है, वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है-**नभस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात्** (ब्र०बि०२०)।

३५. **आशा**— किसी अप्राप्त के पाने की इच्छा को आशा कहते हैं। अभिलषित वस्तुओं के लिए भी आशा शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋषि कहते हैं, पितृगण के लिए स्वधा, मनुष्यों के लिए आशा (इष्ट वस्तुएँ), पशुओं के लिए तृण और जल का आगान करूँ-**आशां मनुष्येभ्यः (आगायानि)** (छान्दो० २.२२.२)। देवगण निश्चय ही सम्पूर्ण विश्व की आशाओं का प्रतिरक्षण करते हैं- **एता ह वै देवता विश्वा आशाः प्रतिरक्षन्ति** (जैमि० १.३४.११)। जगत् में सर्वप्रथम आशा ही थी, भविष्य में भी वही है, तब सर्वप्रथम अप् तत्त्व संव्याप्त हुआ-**आशा वा इदमग्र आसीद् भविष्यदेव। तदभवत् । ता आपोऽभवन्** (जैमि० ४. २२. १)। उपनिषद् में आशा को पिशाचिनी कहा गया है, जो अन्तःकरण में पाये जाने वाले आनन्द के आश्रय में रहती है-**आनन्दमंतर्निजमाश्रयन्तमाशापिशाचीमवमानयन्तम्** (मैत्रे० १.१२)। मनुष्य अपनी पत्नी की तरह सम्पूर्ण जीवन भर 'आशा' की पूर्ति के लिए अपनी शक्तियों का व्यय करता रहता है, अतः उपनिषद् में निर्देश है कि आशारूप पत्नी को त्यागने वाला तत्काल ही मुक्ति को प्राप्त होता है- **आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः** (मैत्रे० २.१२)।

३६. **आसक्ति** —द्र०- मोह।

३७. **आस्तिकता** — वेद, परमेश्वर और परलोक इत्यादि में विश्वास करने वाला अथवा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने वाला अथवा ईश्वर की सर्वव्यापकता और न्यायकारिता का अनुभव करने वाला आस्तिक और उनका यह गुण आस्तिकता कहलाता है। दर्शन ग्रन्थों में ईश्वर या वेद के प्रति विश्वास दृष्टिगोचर होता है। ईश्वर सर्वव्यापी और न्यायकारी है, ईश्वर की इस सत्ता पर विश्वास ही आस्तिकता है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष और वेद में श्रद्धा रखना ही आस्तिकता है। मनुस्मृति में भगवान् मनु ने कहा है-**नास्तिको वेद निन्दकः** अर्थात् वेद का निन्दक ही नास्तिक है। विद्वानों ने नास्तिक की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या इस प्रकार की है-**नास्ति (परलोक) इति मतिर्यस्य स नास्तिकः** (अष्टा० ४.४.६० की वृत्ति) 'जिसकी मति परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं रखती, वह नास्तिक है'।

३८. **इन्द्रिय दमन** — शरीर के वे अंग जिनकी शक्ति हमें विषयों का ज्ञान या बोध कराती है 'इन्द्रियाँ ' कहे जाते हैं। संस्कारों के प्रभाववश मनुष्य प्रायः इन्द्रियों के माध्यम से अपनी जीवनीशक्ति विषयभोग और कायिक लिप्साओं में गँवाता जाता है। इन्द्रियों की तुष्टि के लिए वह प्रायः फुलझड़ी की तरह अपना बहुमूल्य जीवन रस जलाता रहता है। साधक को योग पथ पर सर्वप्रथम इन्द्रियों को दबाना या बलपूर्वक शान्त करना पड़ता है। इन्द्रियों के नियंत्रण या निरोध की इस प्रक्रिया को इन्द्रिय दमन या इन्द्रिय निग्रह कहते हैं। इसी के द्वारा साधक शक्ति संचय करता हुआ ईश्वर या ब्रह्म से योग प्राप्त करने की स्थिति में हो पाता है। गीता के अनुसार जिसकी इन्दियाँ वश में होती हैं, उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है-**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** (गी०२.६१)। उपनिषद् में इन्द्रिय निग्रह को ही शौच (शुचिता) कहकर निरूपित किया गया है-**शौचम् इन्द्रियनिग्रहः** (मैत्रे०२.३)। प्रजापति ने देवों को उपदेश किया था-हे भोग प्रधान देवो! इन्द्रियों का दमन करो (बृह०५.२.३)।

३९. **इन्द्रियाँ** —द्र० - अन्तःकरण चतुष्टय।

४०. **इष्टापूर्त** — वेद का पठन-पाठन, अग्निहोत्र और अतिथि सत्कार इष्ट कहलाते हैं और कुआँ, तालाब खुदवाना, देवमंदिर बनवाना, बगीचा लगाना आदि कर्म पूर्त कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में यज्ञ-यागादि अदृश्य फल वाले कर्मों को इष्ट कहते हैं और लोकहितकारी दृश्य फल वाले कर्मों को पूर्त कहते हैं अर्थात् लोक-परलोक के हितकारी सभी कर्मों को इष्टापूर्त कहते हैं। आत्मज्ञान को प्रधान मानने वाली उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि इष्टापूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले विमूढ़ लोग उससे भिन्न यथार्थ श्रेय को नहीं जानते-**इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः** (मुण्ड० १.२.१०)। कठोपनिषद् में वर्णन है कि ब्राह्मण का सत्कार न करने वाले के उत्तमवाणी के फल और इष्टापूर्त कर्मों के फल का नाश हो जाता है (कठ०१.१.८)। मनुष्यों में जो लोग इष्टापूर्त कर्मों को ही करने योग्य कर्म मानकर उनकी उपासना करते हैं, वे चन्द्रमा के लोक को ही जीतते हैं- **तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते** (प्रश्न०१.९)।

४१. **ईश्वर-जीव** — अद्वैत वेदान्त में '**एकमेवाद्वितीयम्**' जैसे श्रुति वचनों द्वारा जिस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, कूटस्थ, निष्क्रिय, अविकारी आदि विशेषणों से विभूषित परम चैतन्य का प्रतिपादन है, उसी को 'ब्रह्म' कहा गया है। 'ब्रह्म' के दो रूपों की परिकल्पना वेदान्त ग्रन्थों में प्राप्त होती है-प्रथम-परब्रह्म, द्वितीय-अपरब्रह्म। 'परब्रह्म' वह है, जो **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**.....अर्थात् शब्दस्पर्शादिरहित, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला है। यह अविकारी और कूटस्थ है। यही 'ब्रह्म' जब सृष्टि-सृजन हेतु संकल्पवान् होता है, तो माया की शक्ति से समन्वित हो जाता है, इसे 'अपरब्रह्म' या 'सगुणब्रह्म' कहते हैं। इसी अपरब्रह्म को 'ईश्वर' भी कहा जाता है। 'माया' से परिच्छिन्न होने पर ही ब्रह्म का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगत् कारणत्व आदि सिद्ध होता है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामी ने लिखा है- **तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्** (पंच०३.४०)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि माया की उपाधि से अवच्छिन्न (संयुक्त) ब्रह्म ही ईश्वर है। माया ईश्वर के अधीन होती है और जब माया (अविद्या) चैतन्य को अपने वशीभूत कर लेती है, तो वह अविद्याग्रस्त चैतन्य 'जीव' कहा जाता है। माया से संयुक्त, किन्तु माया को अपना वशवर्ती बनाने वाला चैतन्य ईश्वर और माया का वशवर्ती बना चैतन्य 'जीव' कहा जाता है, वस्तुतः ये दोनों उस परब्रह्म के ही रूप हैं।

'ईश्वर' को जगत् का निमित्त कारण माना जाता है। जैसे कुम्भकार घड़ा बनाता है, तो घड़े का निमित्त कारण कुम्भकार हुआ, किन्तु घड़ा बनता है मिट्टी से, इसलिए मिट्टी 'उपादान' कारण है, परन्तु जगत् के निर्माण में ईश्वर निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी, क्योंकि वही विविध नाम रूपात्मक जगत् के रूप में परिणत हो जाता है, जैसे मकड़ी जाला बनाती है, तो जाला बनाने की योग्यता के कारण वह निमित्त कारण होती है और जाला बनाने का पदार्थ भी अपने भीतर शरीर से ही निःसृत करती है, इसलिए वही उपादान कारण भी होती है। आवरण और विक्षेप शक्ति के आधार पर ईश्वर की उपादान कारणता सिद्ध होती है। जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति। आवरण शक्ति से 'रस्सी' का स्वरूप ढँक जाता है और विक्षेप शक्ति से 'रस्सी' के स्थान पर सर्प की प्रतीति होने लगती है। इसी तरह से आवरण शक्ति से ईश्वर का स्वरूप ढँक जाता है और विक्षेप द्वारा ईश्वर जगत् के रूप में दिखने लगता है। इस प्रकार 'ईश्वर' जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। जैसा कि डॉ० राधाकृष्णन् जी ने लिखा है-'ईश्वर' बिना साधनों से सृष्टि रचना करता है। अपनी महान् शक्तियों के द्वारा वह अपने को अनेक कार्यरूपों में परिणत कर लेने में समर्थ है।

४२. **उद्गीथ**— उद्गीथ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- उद्+गै+थक्। अमरकोश के अनुसार इसका अर्थ है- **प्रणवः सामवेद ध्वनिः इत्यरुणः** (५.१९ वृत्ति)। उद्गीथ एक प्रकार का सामगान है। प्रणव अथवा ओंकार को भी उद्गीथ कहा गया है। ॐ यह अक्षर उद्गीथ का प्रतीक है- **ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः** (छान्दो०१.१.५)। साम के भेद या विभाग इस प्रकार किये गये हैं- हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। यहाँ प्राण को उद्गीथ रूप वर्णित किया गया है- **मन एव हिंकारो वाक् प्रस्तावः प्राण उद्गीथः** (जैमि०१.३३.३)। उद्गीथ को देवों के लिए अमृत कहा गया है-**उद्गीथं देवेभ्योऽमृतम्** (जैमि० १.११.८)। जो उद्गीथ है, वही प्रणव अक्षर है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। विचरणशील सूर्य भी उद्गीथ ही है- **अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथः** (छान्दो०१.५.१)। वाणी का रस ऋचा है, ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है- **वाचः ऋग्रसः ऋचः सामरसः साम्नः उद्गीथो रसः** (छान्दो०१.१.२)।

४३. **उपनिषद्** — 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति में सद् '**षदलृ विशरणगत्यवसादनेषु**' धातु के पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्त में 'क्विप्' प्रत्यय लगता है। जिसका भावार्थ है-गुरु के निकट गूढ़ धर्म एवं रहस्यमय ज्ञान प्राप्ति के लिए बैठना। अमरकोश में उपनिषद् शब्द का अर्थ (**धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्**) गूढ़ धर्म एवं रहस्य लिया गया है। उपनिषद् में जीवन और जगत् के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन, निरूपण तथा विवेचन है।

वैदिक साहित्य के चार भाग किये गये हैं-१. संहिता, २. ब्राह्मण, ३. आरण्यक तथा ४. उपनिषद्। वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् का प्रमुख विषय ब्रह्म का निरूपण होने से इन्हें ब्रह्मविद्या भी कहा गया है। उपनिषदों में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है- १. परा और २. अपरा। पराविद्या ब्रह्मविद्या है, जिसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। अपरा विद्या के अन्तर्गत संहिताओं, ब्राह्मणों तथा

वेदाङ्गों का विवेचन दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों को कालक्रम के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-१. प्राचीन उपनिषद्, २. परवर्ती उपनिषद्। प्राचीन उपनिषद् वैदिक शाखाओं पर आधारित हैं। परवर्ती उपनिषद् मध्ययुग के धार्मिक सम्प्रदायों की देन हैं। उस ब्रह्म विषयक (ब्राह्मी) उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) का विवरण केनोपनिषद् में मिलता है। उस ब्रह्मविद्या के तीन आधार हैं- तप, दमन (इन्द्रिय-निग्रह) और निष्काम कर्म। सम्पूर्ण वेद उसी के अङ्ग हैं और सत्यरूप परमात्मा ही उसका अधिष्ठाता है-**ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति। तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्** (केन०४.७-८)। साधक यथार्थ तत्त्व को प्रकट करने वाली (उपनिषद्) विद्या के द्वारा जो कुछ भी श्रद्धापूर्वक करता है, वही अधिकाधिक सामर्थ्ययुक्त होता है-**यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति** (छान्दो०१.१.१०)।

४४. **उपप्राण**— द्र० - प्राण।

४५. **उपाधि**—जो वस्तु जिस विशेष रूप में दिखाई देती है, उस विशेष रूप को उस वस्तु की उपाधि कहते हैं अथवा जिसके संयोग से कोई वस्तु किसी विशेष रूप में दिखाई देती है, उसे उस वस्तु की उपाधि कहते हैं। जैसे साधारण वस्त्र जब किसी रंग विशेष में रँग दिया जाता है, तो वह उसी रंग का-लाल, नीला हो जाता है। यह लाल, नीला रंग उस वस्त्र की उपाधि कहलाता है। वेदान्त दर्शन में माया के संयोग या असंयोग से ब्रह्म के दो भेद निरूपित किये गये हैं- सोपाधि ब्रह्म (जीव) और निरुपाधि ब्रह्म। सोपाधि ब्रह्म को ब्रह्म का सगुणरूप तथा निरुपाधि ब्रह्म को ब्रह्म का निर्गुण रूप स्वीकार किया गया है। वह परब्रह्म त्वं और तत् आदि उपाधियों से भी परे है। मन आदि सूक्ष्म तत्त्वों की उपाधि जो आत्मा के साथ संयुक्त रहती है, उसे लिङ्ग शरीर कहते हैं।

४६. **उपासना**— जीव अपने इष्ट से एकाकार होने का अभ्यास जिस प्रक्रिया से करता है, उसे उपासना कहते हैं। इसमें भक्त भगवान् के प्रति समर्पण का अभ्यास करता है और शनैः-शनैः तद्रूप होने लगता है। उपासना का अर्थ पास बैठना (उप=समीप+आसन=बैठना) अथवा सेवा के रूप में विशेष रूप से लिया जाता है। कहीं-कहीं इसका अर्थ उपवास करना भी लिया गया है। उपनिषद् में कहा गया है जो केवल अविद्या (पदार्थपरक विद्या) की उपासना करते हैं, वे घोर अंधकार में फँस जाते हैं और जो केवल विद्या (चेतनापरक) की उपासना करते हैं, वे भी घोर अंधकार में फँस जाते हैं (ईश०९)। उपासना को ब्रह्म साक्षात्कार का साधन स्वीकार किया गया है। उपासना से साधक का चित्त एकाग्र हो जाता है। यह चित्त की एकाग्रता निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार कराने में समर्थ है-**सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्य द्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः** (वे०परि०)।

४७. **ऋत-सत्य**— प्रिय भाषण या सत्य वचन के अर्थ में सामान्यतः ऋत शब्द का प्रयोग होता है। इसके अन्य पर्यायवाची शब्द हैं- मोक्ष, जल, कर्मफल, यज्ञ, सूर्य, ब्रह्म, प्राकृतिक नियम, ईश्वरीय नियम, अनुकूल वचन। ऋत शब्द का प्रयोग अनुकूल वचन के अर्थ में इस प्रकार हुआ है- **ऋतं वदिष्यामि** (तै०आ०७.१.१)। **ऋतं च सत्यं च वदत** (तै०सं०३.२.७.१)। यज्ञ को भी ऋत कहा गया है- **एष वा ऋतस्य पन्था यद्यज्ञः** (मै०ब्रा०४.८.२), **यज्ञो वाऽ ऋतस्य योनिः** (शत०ब्रा०१.३.४.१६)। ॐ तथा ब्रह्म को भी ऋत से सम्बद्ध किया गया है-**ओमित्येतदेवाक्षरममृतम्** (जैमि०३.३६.५), **ब्रह्म वा ऋतम्** (शत०ब्रा०४.१.४.१०)। मन को भी ऋत कहकर निरूपित किया गया है-**मनो वा ऋतम्** (जैमि०३.३६.५)।

वस्तुतः शाश्वत अटल नियम को ऋत कहते हैं और देश, काल के अनुसार बदल जाने वाले नियम को 'सत्य' कहते हैं। जल का नीचे की ओर प्रवाहित होना, अग्नि की लपटों का ऊपर की ओर उठना, सूर्य का उदय पूर्व दिशा में होना इत्यादि शाश्वत नियमों को 'ऋत' कहेंगे और ठण्डक के दिनों में भारत में दिन का छोटा होना, रात्रि का बड़ा होना, गर्मी में दिन का बड़ा होना, रात्रि का छोटा होना जैसे नियम देश, काल के अनुसार बदलते हैं, सर्दी-गर्मी का मौसम बदलता रहता है। यह सत्य है, किन्तु ऋत नहीं।

४८. **ऋत्विज्**— यज्ञ कराने वाले-याज्ञिक को ऋत्विज् कहा गया है। ऋत्विजों में चार प्रमुख होते हैं-ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता और उद्गाता। कहीं-कहीं प्रमुख ऋत्विजों की संख्या सात मानी गई है- होता, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। ब्रह्मा यज्ञ की देखरेख मौन रहकर करता था। अध्वर्यु यज्ञ में व्यावहारिक कार्य-निर्देश एवं व्याख्या करता था। होता ऋचाओं का-यज्ञमंत्रों का उच्चारण तथा देवस्तुति करता था। उद्गाता का सम्बन्ध यज्ञ में

गायन (सामगान आदि) से होता था। बड़े यज्ञों में इन चारों ऋत्विजों के तीन-तीन अन्य सहयोगी भी होते थे। इस प्रकार यज्ञ में सोलह ऋत्विज् वरण किये जाते थे-**षोडशर्त्विजो ब्रह्मोद्गातृ होत्रध्वर्यु.....** (का०श्रौ० ७.१.७)। **चत्वारस्त्रिपुरुषाः। तस्य तस्योत्तरे त्रयः** (आ०श्रौ०४.१.४-५)। ब्रह्मा के सहयोगी ऋत्विज्-ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता, अध्वर्यु के सहयोगी ऋत्विज्-प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता, होता के सहयोगी ऋत्विज्-मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत् एवं उद्गाता के सहयोगी ऋत्विज्-प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य होते थे।

४९. ऋद्धि-सिद्धि —ऋद्धि भौतिक समृद्धि का द्योतक है और सिद्धि आध्यात्मिक विभूति या सफलता आदि का द्योतक है। दूसरे शब्दों में ऋद्धि-सिद्धि समृद्धि और सफलता का बोधक है। ऋद्धि को लौकिक सुख-सम्पदा से तथा सिद्धि को अलौकिक शक्ति या विभूति से सम्बद्ध किया जाता है। योग की अष्टसिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं- अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। भगवान् ने गीता में कहा है कि मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ तू सिद्धि को प्राप्त होगा-**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि** (गी० १२.१०)।

५०. ऋषि— वेद मन्त्रों का द्रष्टा या उनका साक्षात्कार करने वाला या आध्यात्मिक तत्त्वों का द्रष्टा और प्रयोक्ता ऋषि कहलाता है। वेद मन्त्रों का अनुभूतिजन्य तत्त्वदर्शन समझने वाले, त्रिकालज्ञ, दिव्यदृष्टि सम्पन्न परोक्ष द्रष्टा को भी ऋषि कहते हैं। रत्नकोष के अनुसार ऋषि सात प्रकार के हैं-ब्रह्मर्षि, देवर्षि, महर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि। भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों में भिन्न-भिन्न ऋषि हुए हैं। इस वैवस्वत मन्वन्तर के सप्तर्षि ये हैं-कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज। अपाला, विश्ववारा, घोषा, सूर्या आदि महिलाओं ने भी वैदिक काल में ऋषित्व को प्राप्त किया था। उपनिषद् में वर्णन है कि ऋषिगण जो आसक्ति से परे विशुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त और परम शान्त हो जाते हैं- **संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः** (मुंड० ३.२.५)। गीता में भी वर्णन मिलता है कि निष्पाप, छल, कपटरहित संयत आत्मा वाले सब प्राणियों के हित में रत रहने वाले, ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं-**लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः** (गी० ५.२५)।

५१. एकत्व-ऐक्य— उपनिषदों में जीव और ब्रह्म में-आत्मा और परमात्मा में एकत्व-ऐक्य (एक होने का भाव) प्रतिपादित किया गया है। **जीवो ब्रह्मैव नापरः; एकमेवाऽद्वितीयम्** (छान्दो० ६.२.१)। ब्रह्म ही अज्ञान की उपाधि से संयुक्त होकर जीव कहलाता है। एक ही ईश्वर (इन्द्र) माया से संयुक्त होकर विविध रूपों को प्राप्त होता है-**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (ऋ० ६.४७.१८)। एक ही परमात्मा प्रत्येक प्राणी में अवस्थित होकर उसी प्रकार विविध रूपों में दिखाई दे रहा है, जैसे चन्द्रमा एक होते हुए विभिन्न जलों में विविध रूपों में दिखाई देता है- **एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥** (ब्र० बि० ११) गीता में श्रीकृष्ण का कथन है कि कुछ ज्ञानयज्ञ द्वारा एकत्व (अद्वैत) भाव से और पृथकत्व (द्वैत) भाव से विराट् पुरुष की उपासना करते हैं-**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्** (गी० ९.१५)।

५२. एकर्षि अग्नि— मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है कि जो निष्काम कर्मनिष्ठ, श्रुतिज्ञान के ज्ञाता और ब्रह्म के उपासक एकर्षि नामक अग्नि में श्रद्धापूर्वक हविष्यान्न अर्पित करते हैं, उन्हीं को विधिपूर्वक ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिए-**क्रियावन्त श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्** (मुण्ड० ३.२.१०)। एकर्षि अग्नि का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। कुछ विद्वज्जन एकर्षि अग्नि की संगति आत्मज्योति रूप अग्नि से बिठाते हैं। कहीं इसे प्राणाग्नि अथवा आत्माग्नि के रूप में स्वीकार किया गया है। कुछ विद्वानों ने एकर्षि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है-**एक एव ऋषति गच्छति** अर्थात् जो एक (अकेला) गतिमान् रहता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सभी देवताओं में जो अग्नि विद्यमान रहती है, उसी अग्नि में ही वे सभी आहुतियों को ग्रहण या धारण करते हैं, उसे ही एकर्षि अग्नि कहा जाता है।

५३. एकादशद्वार-एकादश अक्ष— मनुष्य शरीर को एकादश द्वारों वाला अथवा एकादश अक्ष कहा गया है। यह शरीर दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और उपस्थ इन ग्यारह द्वारों वाला है। वह विशुद्ध अजन्मा परमेश्वर एकादश द्वारों वाले मनुष्य शरीर में रहता है, उसका ध्यान-अनुष्ठान करके मनुष्य कभी शोक नहीं करता और जीवनमुक्त होकर बन्धनों से मुक्त हो जाता है- **पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।**

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते (कठ० २.२.१)। उपनिषद् में ही मनुष्य शरीर को नवद्वार (दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा, एक उपस्थ) वाला भी स्वीकार किया गया है-**नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः** (श्वेता० ३.१८)।

५४. **एषणा त्रय**— एषणा का शाब्दिक अर्थ इच्छा, चाह, प्रार्थना, याचना आदि है। सामान्य मनुष्य त्रय एषणा के बन्धन में फँसा होता है। ये एषणाएँ हैं-पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। उपनिषद् में वर्णन है कि त्यागी पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊँचे उठकर भिक्षाचर्या करते थे- **ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति** (बृह० ४.४.२२)। ब्राह्मण पुरुष भी आत्मा को जानकर त्रय एषणाओं से ऊँचे उठ जाते हैं (बृह०३.५.१)। परिव्राजक के लिए तीनों एषणाओं, तीनों वासनाओं, ममता एवं अहंकार का परित्याग करने का निर्देश है-**एषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्** (प०प० २)।

५५. **ओङ्कार**— ओङ्कार अथवा प्रणव परमात्मा का ही नाम अथवा प्रतीक है। ॐकार-यह अकार, उकार तथा मकार तीन वर्णों से बना हुआ है। ये तीनों अक्षर तीन शक्तियों-त्रिदेवों का बोध कराते हैं-**अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः। मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥** इस प्रकार ॐ को ही ब्रह्म और सब कुछ स्वीकार किया गया है-**ओमिति ब्रह्म। ओमितीदंसर्वम्** (तैत्ति० १.८.१)। ओम् ही सभी मुमुक्षुओं का ध्येय है- **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वं मुमुक्षुभिः** (ध्या०बि० ९)। ओम् ही उपास्य है, यही अपरिमित तेजरूप अग्नि आदित्य और प्राण है-**तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताऽपरिमितं तेजः। तत् त्रेधाऽभिहितमग्नावादित्ये प्राणे** (मैत्रा० ६.३७)। तीन अक्षरों के प्रणव के उच्चारण से योगी संसार के जन्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं-.....**त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्** (आ०बो०१)। ॐ अक्षर को जानकर जो जैसा चाहता है, वह वैसा पाता है-**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्** (कठ०१.२.१६)।

५६. **कर्म**— कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया अथवा गति से है। दर्शन में इसे आध्यात्मिक तत्त्व कहा गया है, जिसे आत्मा संसार में वहन करता है। संसार में कर्मचक्र सुनिश्चित तथ्य है। निखिल ब्रह्माण्ड में देव, ग्रह, नक्षत्र तथा सभी चराचर अपने-अपने कर्म के कारण स्थित और गतिमान् हैं। उपनिषद् में इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो 'मैं करता हूँ', इस प्रकार की अध्यात्म निष्ठा से किया गया हो-**कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म** (निरा० ११)। गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के कहे गये हैं-सात्त्विक, राजसी, तामसी। वेदों में तीन प्रकार के कर्मों का विधान है-नित्य, नैमित्तिक और काम्य। गीता के अनुसार सभी प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अनुसार वशीभूत हुए कर्म करते हैं- **कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः** (गी० ३.५)। गीता में नियत कर्म करने का आदेश है, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है-**नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः** (गी० ३.८)। यज्ञ के लिए किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों से यह लोक कर्म बन्धन में फँसता है, अतः आसक्ति रहित होकर यज्ञ के लिए कर्म करने का निर्देश आगे है-**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर** (गी० ३.९)। कर्म की गति अत्यन्त गूढ़ है-**गहना कर्मणो गतिः** (गी०४.१७)। उपनिषद् कर्म करते हुए सौ वर्ष जीवित रहने की बात कहते हैं और यह भी कहते हैं कि इसके अतिरिक्त मनुष्य के कल्याण का और कोई मार्ग भी नहीं है- **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे** (ईशा०२)।

५७. **कर्मफल**— मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु कर्मफल भोगने में पराधीन है। उसे किये हुए कर्मों का फल अवश्य मिलता है। **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्** (ना०पु० ३१.७०)। पिछले जन्मों का कर्मफल ही हमारा भाग्य या प्रारब्ध कहलाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- कर्म करने में आपका अधिकार है, फल प्राप्ति में कभी नहीं। कर्मों के फल की इच्छा मत करो, कर्म न करने में भी आसक्ति न रखो-**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (गी० २.४७)। कर्मफल को त्यागकर युक्त पुरुष निष्ठा से भरी शान्ति को प्राप्त होता है- **युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्** (गी० ५.१२)। ध्यान से भी कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, त्याग से शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है, जैसा कि भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है-**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्** (गी० १२.१२)।

५८. कवि-मनीषी— कवि शब्द के अर्थ कोश ग्रन्थों में सर्वज्ञ, विचारवान्, प्रतिभाशाली, प्रशंसनीय, दूरदर्शी विद्वान्, त्रिकालज्ञ पुरुष, मनीषी आदि दिये गये हैं। मनीषी शब्द के अर्थ पंडित, विद्वान्, बुद्धिमान्, मेधावी, स्तोता आदि दिये गये हैं। उपनिषदों में उस परब्रह्म परमात्मा को ही कवि-मनीषी कहकर प्रतिपादित किया गया है- **कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतो** (ईश० ८)। गीता में कहा गया है कि क्या कर्म है और क्या अकर्म, इसमें कविगण (बुद्धिमान्) भी मोहित हो जाते हैं- **किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः** (गी० ४.१६)। गीता ८.९ में परमेश्वर को कवि कहा गया है। कवि त्रिकालदर्शी एवं सर्वज्ञ होता है। परमेश्वर कवि है, तो सृष्टि उसकी कविता, निर्माता होने के कारण भी उसे कवि कहते हैं। उस पुराण पुरुष, सर्वेश्वर, सब देवों के उपास्य देव को कवि कहकर उपन्यस्त किया गया है-**कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्** (महो० ४.७१)।

५९. कामधेनु— यह मान्यता है कि समुद्र मंथन के चौदह रत्नों में एक रत्न कामधेनु भी थी, जिससें जो माँगा जाय, उसकी पूर्ति हो जाती थी। सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाली इस धेनु (गाय) को कामधेनु कहा गया। वसिष्ठ ऋषि के पास भी ऐसी ही एक कामधेनु थी, जिसे शबला या नंदिनी नाम से जाना जाता था। जमदग्नि ऋषि के पास भी एक कामधेनु थी, जिसके बल पर उन्होंने हैहयराज का भव्य स्वागत किया था।

६०. कूटस्थ— 'कूटस्थ' शब्द के अर्थ हैं- सर्वोच्च स्थित, गूढ़ स्थित अथवा गुप्त रूप में स्थित, अन्तर्व्याप्त, अन्तर्यामी, परमेश्वर, जीवात्मा, सर्वोपरि स्थित, अचल, अविनाशी। न्याय दर्शन में परमेश्वर को कूटस्थ कहा गया है, जो जन्म-गुण से रहित है। सांख्य दर्शन की मान्यता के अनुसार कूटस्थ आत्मा-पुरुष है, जो परिमाणरहित है तथा जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक समान है, निर्लिप्त और द्रष्टा मात्र है। शाक्त परम्परा के अनुसार सर्वोच्च अन्तिम अवस्था में विष्णु या शिव एक ही परमात्मा है। केवल सृष्टिकाल में ये भिन्न होते हैं। कूटस्थ पुरुष जीवात्माओं का समष्टिगत रूप है। अव्यक्त पुरुष को भी कूटस्थ कहा गया है। जड़ प्रकृति के संसर्ग से परे अपने स्वरूप में स्थित मुक्त आत्मा कूटस्थ है। गीता के अनुसार इस लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार के पुरुष हैं। सब प्राणियों के शरीर तो क्षर हैं और कूटस्थ (आत्मा-पुरुष) अक्षर कहा जाता है-**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च/क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते** (गी० १५.१६)। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब प्राणियों की बुद्धि में रहने वाला और उनके स्थूल-सूक्ष्म आदि देहों का नाश होने पर जो शेष रहा दिखाई देता है, वह कूटस्थ कहा जाता है-**ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिष्वविशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते** (स०सा० १०)।

६१. क्रतु— क्रतु शब्द के पर्याय कोश ग्रन्थों में यज्ञ, अश्वमेध, विवेक, प्रज्ञा, संकल्प, इच्छा आदि मिलते हैं। वह परम पुरुष क्रतुमय (संकल्पमय) ही है- **अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः** (छान्दो० ३.१४.१)। उपनिषद् में लिखा है- छन्द, यज्ञ, क्रतु, (अग्निष्टोम आदि विशिष्ट यज्ञ कर्म), व्रत जो भी वेद वर्णित हैं, उनका अधिष्ठाता वह मायावी पुरुष है- **छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः** (श्वेता० ४.९)। वह परम पुरुष सम्पूर्ण क्रतुओं द्वारा यजन किया जाता है-
स सर्वैः क्रतुभिर्यजते (अव्यक्तो० ७.१)।

६२. क्षेत्रज्ञ— शरीर रूपी क्षेत्र का ज्ञाता, सर्वसाक्षी अथवा जीवात्मा के अर्थ में क्षेत्रज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। शरीर के अधिष्ठाता, आत्मा अथवा परमात्मा के पर्याय रूप में भी क्षेत्रज्ञ प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् के अनुसार शरीर में जो प्रकाशमान चैतन्य स्वरूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है- **तत्र यत् प्रकाशते चैतन्यं स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते** (स०सा० ८) उस परमात्मा का अंश ही सब चेतन, प्राणियों में जीवात्मा बना है। वही प्रत्येक शरीर में क्षेत्रज्ञ रूप में विद्यमान है- **अस्यांशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः** (मैत्रा० २.५)। यही क्षेत्रज्ञ लिङ्ग शरीर में संकल्प, अभिमान तथा अध्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित है। यह विशुद्ध, नित्य, मुक्त, असंग तथा प्रजापति रूप है। गीता में भगवान् कहते हैं- यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है, इसे जानने वाले को तत्त्वज्ञाता, विद्वान्, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब क्षेत्रों का मुझे ही क्षेत्रज्ञ जान। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के भेद का जो ज्ञान है, वही यथार्थ ज्ञान है-**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम** (गी० १३.१-२)। शरीर रूपी क्षेत्र का पूरा-पूरा ज्ञान रखने वाला तथा इसका अधिकारी ही क्षेत्रज्ञ है।

६३. **गन्धर्व—** देवों के एक भेद अथवा अर्धदेवों के रूप में गन्धर्वों को स्वीकार किया गया है। निरुक्त के अनुसार 'गा' या 'गो' को धारण करने वाला होने से इन्हें गन्धर्व कहा गया है। यहाँ 'गा' या 'गो' का भावार्थ पृथ्वी, किरण, वाणी इत्यादि ग्रहण किया जाता है। ऐसी मान्यता है कि ये देवों के पास गाने वाले हैं, अतः वाणी या कण्ठ को धारण करने वाले हैं। वेदों में दो प्रकार के गन्धर्वों का उल्लेख हुआ है- एक द्युस्थानीय, दूसरे अन्तरिक्ष स्थानीय। द्युस्थानीय गन्धर्वों को दिव्य गन्धर्व कहा गया है। ये सोम के रक्षक, रोगों के चिकित्सक, सूर्य अश्वों के वाहक तथा स्वर्गीय ज्ञान प्रकाशक माने गये हैं। अन्तरिक्ष स्थानीय गन्धर्व नक्षत्रों के प्रवर्त्तक और सोम के रक्षक माने गये हैं। उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में गन्धर्वों के दो भेद उल्लिखित हैं- देव गन्धर्व और मनुष्य गन्धर्व। शब्दार्थ चिन्तामणि में गन्धर्वों के दो भेद-दिव्य तथा मर्त्य वर्णित हुए हैं। अग्निपुराण में गन्धर्वों के बारह गण माने गये हैं- अभ्राज्य, अंघारि, रंभारि, सूर्यवर्चा, कृधु, हस्त, सुहस्त, स्वन्, मूर्धवान्, महामना, विश्वावसु और कृशानु। गंधर्वों का लोक गुह्यक लोक के ऊपर और विद्याधर लोक के नीचे वर्णित हुआ है।

६४. **गायत्री—** उपनिषद् के अनुसार **तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाꣳस्तत्रे तस्माद्गायत्री** (बृह० ५.१४.४); अर्थात् इसने प्राणों का त्राण किया, इसी से यह गायत्री है। **'गयान् (प्राणान्) त्रायते इति गायत्री'** व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणों का त्राण करने वाली शक्ति को गायत्री कहा गया है। इसीलिए गायत्री को प्राणोपासना भी कहा गया है। गायत्री को प्राणरूप में स्वीकार किया गया है- **गायत्री वै प्राणः** (शत०ब्रा० १.३.५.१५)। गायत्री को अग्नि,तेज और ब्रह्मवर्चस भी कहकर उपन्यस्त किया गया है- **गायत्री वाऽग्निः** (शत०ब्रा० १.८.२.१३), **तेजो वै गायत्री** (तै०सं० ३.२.९.३), **गायत्री ब्रह्मवर्चसम्** (मै०ब्रा० ४.३.१)। आठ-आठ अक्षरों के तीन पदों वाले छन्द को गायत्री छन्द कहा गया है। गायत्री को छन्दों में सर्वोत्तम माना गया है- **गायत्री वै छन्दसामग्रं ज्यैष्ठ्यम्** (जै०ब्रा० २.२२७)। त्रिकाल संध्या में इसी मंत्र के जप का विधान रहा है। गायत्री को ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों शक्तियों का रूप कहकर प्रतिपादित किया गया है- **गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः। गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः** (स्कं० पु०काशी खं०पू०४.९.५८)। उपनिषद् का वर्णन है कि यह जो भी कुछ है, वस्तुतः वह गायत्री ही है- **गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच** (छान्दो० ३.१२.१) यह सम्पूर्ण पृथ्वी भी गायत्री ही है, जिसमें समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं- **या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिवी। अस्याꣳ हीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम्** (छान्दो० ३.१२.२)। गायत्री को वेदमाता, देवमाता तथा विश्वमाता कहा गया है। इनकी उपासना से व्यक्ति आयु, प्राण, प्रजा (सन्तान), पशु, कीर्ति, धन एवं ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है-

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् (अथर्व० १९.७१.१)।

६५. **गुरु-शिष्य—** गायत्री मंत्र का उपदेष्टा गुरु कहलाता है। अध्यात्म विद्या या ब्रह्म विद्या प्रदान करने वाले आचार्य भी गुरु कहलाते हैं। गुरु जिस पुरुष को गायत्री या अन्य मन्त्र की दीक्षा देता है, वह शिष्य कहा जाता है। गुरु शिष्य परम्परा भारतवर्ष में अनादि काल से रही है। जिसका कोई गुरु नहीं होता था, उसे 'निगुरा' कहकर तिरस्कृत किया जाता था। गुरु सामान्य मनुष्यों के गृहस्थान से बहुत दूर एकान्त स्थान में जहाँ विद्यार्थियों को पढ़ाते थे- वह स्थान गुरुकुल कहा जाता था। गुरु तप-तितिक्षा द्वारा अपने व्यक्तित्व में प्रखरता-भारीपन या गुरुता के कारण यह प्रतिष्ठा पाता था। मनुस्मृति के अनुसार जो विप्र निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों को यथाविधि कराता है और अन्न से पोषण करता है, वह गुरु कहलाता है- **निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।** (म०स्मृ०२.१४२) इस परिभाषा से माता-पिता पहले गुरु हैं, फिर पुरोहित आदि। युक्तिकल्पतरु में अच्छे गुरु के अनेक लक्षण वर्णित हैं। चाणक्यनीति के अनुसार द्विजातियों के गुरु अग्नि, वर्णों के गुरु ब्राह्मण, स्त्रियों के गुरु पति और अतिथि सबके गुरु हैं- **गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वेषामतिथिर्गुरुः** (चा०नी०)। एक शिष्य के अन्दर सच्चे गुरु की प्राप्ति की जितनी उत्कंठा होती है, उससे कहीं अधिक एक गुरु के अन्दर सच्चे शिष्य की तलाश की व्याकुलता रहती है। अतः शिष्य को निरन्तर अपनी पात्रता के विकास का उद्यम करते रहना चाहिए। गुरु ग्रन्थ साहिब के अनुसार चाहे सौ चाँद चढ़ आयें, चाहे सहस्र सूर्यों का उदय हो जाये, तो भी गुरु के बिना अँधेरा ही रहता है। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार समस्त

शरीरों में स्थित चैतन्य ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला गुरु ही उपास्य है और विद्या प्राप्त कर संसार के प्रपञ्चों का नाश होकर गम्भीर ज्ञानरूप जो ब्रह्म (अन्तर) में शेष रहे, वह शिष्य है- **सर्व शरीरस्थ चैतन्यब्रह्म प्रापको गुरुरुपास्यः। शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपञ्चावगाहित ज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः** (निरा० ३०-३१)

६६. **गृह्यसूत्र**— गृह्य का शाब्दिक अर्थ है- गृह संबंधी या गृहस्थी से संबंधित। अत्यन्त थोड़े अक्षर वाले, सारगर्भित, व्यापक, अस्तोभ तथा अनवद्य (वाक्य या वाक्यांश) सूत्र कहे जाते हैं- **स्वल्पाक्षरमसंदिग्ध सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोभनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥** गृह्यसूत्र वैदिक पद्धति के वे शास्त्र हैं, जिनमें गृहस्थों के लिए मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि षोडश संस्कारों के नियम-निर्देश और यज्ञादि कार्यों का वर्णन है-**गृह्यन्ते संगृह्यन्ते वेदविहितानि कर्मकाण्डानि यत्र।** गृह्यसूत्रों में प्रसिद्ध गृह्यसूत्र निम्न हैं-१. आश्वलायन, २. पारस्कर, ३. शांखायन, ४. मानव और ५. गोभिल। इनमें प्रतिपाद्य विषयों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-प्रथम भाग में छोटे पारिवारिक यज्ञों का वर्णन है। दूसरे में षोडश संस्कारों की विधि-व्यवस्था तथा तीसरे में श्राद्ध, पितृयज्ञ तथा गृहनिर्माण आदि का वर्णन है। वैदिक शाखाओं के उपलब्ध गृह्यसूत्रों का वर्णन इस प्रकार है-ऋक् सम्बन्धी- १. शाङ्खायन, २. शाम्बव्य, ३. आश्वलायन, साम सम्बन्धी- ४. गोभिल, ५. खादिर, ६. जैमिनि; शुक्ल यजुर्वेद सम्बन्धी- ७. पारस्कर; कृष्णयजुर्वेद सम्बन्धी- ८. आपस्तम्ब, ९. हिरण्यकेशी, १०. बौधायन, ११. भारद्वाज, १२. मानव, १३ वैखानस, १४. काठक, १५. वाराह; अथर्ववेद सम्बन्धी-१६. कौशिक।

६७. **ग्रह-नक्षत्र**— आकाशमण्डल के तारे जो अपने सौरमण्डल में सूर्य की परिक्रमा करते हैं, ग्रह कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में किसी निर्धारित कक्षा में किसी सूर्य की परिक्रमा लगाने वाले तारे ग्रह कहे जाते हैं। फलित ज्योतिष् के अनुसार अपने सौरमण्डल में नौ ग्रह हैं- सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। किसी-किसी बड़े ग्रह के साथ उपग्रह भी हैं, जो अपनी कक्षा में अपने ग्रह की परिक्रमा करते हैं।

नक्षत्र तारों के वे समूह या गुच्छक हैं, जो चन्द्रमा के पथ में (चन्द्रमा के सापेक्ष) किन्तु अपने सौरमण्डल से बहुत दूर दिखाई देते हैं। चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा २७-२८ दिनों में करता है, इस रीति से चन्द्रमा का पथ २७ नक्षत्रों में विभाजित किया गया है। चन्द्रमा के पथ की तरह सूर्य पंथ को १२ राशियों में विभक्त किया गया है। नक्षत्र या तारे ग्रहों की तरह छोटे-छोटे पिण्ड नहीं हैं, वे बड़े-बड़े सूर्य हैं, जो हमारे सूर्य से बहुत दूरी पर हैं।

६८. **चतुराश्रम**— ऋषियों ने मनुष्य जीवन के लिए चार आश्रम निर्धारित किये थे- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। मनुष्य के जीवनकाल को लगभग १०० वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम की अवधि २५ वर्ष रखी गयी थी। उपनयन के अनंतर २५ वर्ष आयु तक की अवधि बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरुकुल में वास करता था। यह अवधि वेद, वेदाङ्ग आदि सम्पूर्ण ज्ञान संचय और शक्ति संचय के लिए थी। गुरुकुल में ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करने पर घर में उसे गृहस्थ आश्रम में प्रवेश दिया जाता था। यह अवधि प्राप्त हुए ज्ञान का समाज में व्यावहारिक प्रयोग हेतु और सेवा-सत्कार द्वारा पुण्य संचय के लिए थी। तदनन्तर वानप्रस्थ आश्रम में, वनों में रहकर इन्द्रिय निग्रह तथा मानसिक पुरुषार्थ किया जाता था। यह अवधि कठोर आत्म साधना के लिए थी। वानप्रस्थ के २५ वर्ष पूरा करने के बाद व्यक्ति घर और स्वजनों को छोड़कर परिव्रज्या के लिए निकल पड़ता था। यह अवधि आत्म उत्कर्ष और मोक्ष प्राप्ति के प्रयासों के लिए थी और जीवन के व्यावहारिक अनुभवजन्य ज्ञान के द्वारा गृहस्थों के मार्गदर्शन के लिए थी। ये चारों आश्रम जीवन की चारों अवस्थाओं-बाल्यावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था से सम्बद्ध थे। आश्रमों का सम्बन्ध जीवन के चार उद्देश्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भी था। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध धर्म से था। गृहस्थ का अर्थ और काम से, वानप्रस्थ का उपराम और मोक्ष की तैयारी से और संन्यास का सम्बन्ध मोक्ष से था। आश्रमोपनिषद् में ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के चार-चार निम्न भेद वर्णित हैं- ब्रह्मचारी-गायत्री, ब्राह्मण, प्राजापत्य तथा बृहन्। गृहस्थ-वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। वानप्रस्थ-वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य और फेनप तथा संन्यासी-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस।

६९. **चतुर्युग**—सृष्टि के कालचक्र को चार युगों में विभक्त किया गया है- कृतयुग या सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग। इसमें कलियुग ४,३२०००, द्वापरयुग ८,६४,०००, त्रेतायुग १२,९६,००० एवं सतयुग १७,२८,००० वर्षों का माना जाता है। चारों युगों को मिलाकर ४३,२०,००० वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। एक हजार चतुर्युगी का

ब्रह्मा का एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात होती है। एक मान्यता यह भी है कि कलियुग १२०० वर्ष, द्वापरयुग २४०० वर्ष, त्रेतायुग ३६०० वर्ष और सतयुग ४८०० वर्षों का होता है। एक चतुर्युगी १२००० वर्षों की होती है। ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर तथा १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। सतयुग में धर्म का प्रायः पूर्णांश, त्रेतायुग में त्रिगुण चतुर्थांश, द्वापर युग में अर्धांश तथा कलियुग में चतुर्थांश ही रह जाता है। सतयुग में सत्त्वगुण की प्रधानता तथा कलियुग में तमोगुण की प्रधानता होती है। महाभारत के अनुसार कृतयुग में नारायण का वर्ण श्वेत होता है, त्रेता में पीत वर्ण, द्वापर में रक्तवर्ण तथा कलियुग में कृष्णवर्ण होता है।

७०. **चतुर्वर्ण**— मनुष्य मात्र को कर्म के अनुसार चार विभागों में बाँटा गया- १. समाज में ज्ञान बाँटने वाले- ब्राह्मण, २. समाज की रक्षा करने वाले-क्षत्रिय, ३. समाज में द्रव्य साधन की पूर्ति करने वाले-वैश्य, ४. समाज में अपनी शारीरिक सेवा देने वाले-शूद्र। इस विभाजन को वर्ण व्यवस्था कहा गया। शतपथ ब्राह्मण में भी इस तथ्य की पुष्टि होती है- **चत्वारो वै वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः** (शत०ब्रा० ५.५.४.९)। महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन है कि वर्णों में कोई ऊँच-नीच का भेद नहीं है, क्योंकि यह सारा संसार ब्रह्ममय है। ब्रह्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की और फिर कर्मों के अनुसार वर्ण बनते गये- **न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्** (१८८.१०)। गीता में भगवान् ने कहा है कि गुण-कर्म के विभाग के अनुसार मैंने चार वर्ण बनाये हैं- **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः** (गी०४.१३)।

७१. **चतुर्व्यूह**—चार पदार्थों या मनुष्यों का समूह चतुर्व्यूह कहलाता है। जैसे- १. राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न एवं २. कृष्ण, बलदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। पुराणों में वर्णन है कि ब्रह्मा ने सृष्टि कार्य हेतु वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इन चार रूपों में अवतार लिया था; अतः उन्हें चतुर्व्यूह कहते हैं। मुद्गलोपनिषद् में तीन मन्त्रों द्वारा चतुर्व्यूह भगवान् के स्वरूप का वर्णन है- **एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषिताः** (मुद्०१.४)।

७२. **चमस**—चमस सोमपान करने या सोम वितरण करने का एक यज्ञपात्र होता था, जो चम्मच के आकार का तथा पलाश, उदुम्बर, खदिर आदि लकड़ी का बनता था। यह घृताहुति देने में भी प्रयुक्त होता था। वाचस्पत्यम् में चमस को सोमपान पात्र के रूप में स्वीकार किया गया है- **पलाशादिकाष्ठ जाते यज्ञीयपात्रभेदे तल्लक्षणभेदादिकं यज्ञपार्श्वे। सोमपानपात्रभेदे च** (वाच०)। अच्छावाक्, उद्गाता तथा अध्वर्यु द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले चमस क्रमशः अच्छावाक् चमस, उद्गातृ चमस तथा चमसाध्वर्यु कहलाते हैं।

७३. **चातुर्मास्य-आग्रयण**— चार मासों में पूरा किया जाने वाला एक विशेष श्रौत याग चातुर्मास्य कहलाता था। वसन्त और शरद् ऋतुओं में नवीन अन्न की इष्टि की जाती है, यह आग्रयण यज्ञ कहलाता है। वैदिक कल्प के अनुसार चार मास के प्रमुख तीन मौसमों के आरम्भ में चातुर्मास्य यज्ञ किया जाता था। प्रथम वैश्वदेव फाल्गुनी पूर्णिमा को, द्वितीय वरुण प्रघास आषाढ़ी पूर्णिमा को तथा तृतीय साकमेध कार्त्तिकी पूर्णिमा को होता था। वर्ष भर सभी संधियों में यज्ञ द्वारा संधिकाल को ठीक किया जाता था। रात-दिन की संधियों में अग्निहोत्र, पूर्णमासी तथा अमावस्या की संधियों में दर्श-पूर्णमास और ऋतु के आरंभ की संधियों में चातुर्मास्य यज्ञ किया जाता था (शत०ब्रा०१.६.३.३६)। जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है, उसका पुण्य कभी नाश नहीं होता- **अक्षयः ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति** (शत० ब्रा०२.६.३.१)। जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है, वह परमधाम और परमगति को प्राप्त होता है- **स परममेव स्थानं परमां गतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजी** (शत०ब्रा०२.६.४.९)।

७४. **चित्त**— अन्तःकरण की चार वृत्तियों- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार में से एक वृत्ति, जो अनुसंधानात्मक कही गयी है, चित्त कहलाती है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार मन, बुद्धि और अहंकार तीनों से मिलकर चित्त बनता है। योग दर्शन के अनुसार चित्त की पाँच वृत्तियाँ होती हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ मानी गयी हैं- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध एवं एकाग्र। योग के लिए निरुद्ध एवं एकाग्रचित्त होना चाहिए। चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। मैत्रेय्युपनिषद् में चित्त की महत्ता वर्णित है कि चित्त ही संसार है, अतः उसे प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है, वह वैसा ही बन जाता है, यह सनातन रहस्य है। चित्त के शांत होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। चित्त जितना इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, उतना यदि परमेश्वर में हो जाय, तो बन्धन से कौन मुक्त न हो जाय (मैत्रा०४.३-५)। चित्त वृत्तियों के विनष्ट होने

पर चित्त अपने उत्पत्ति स्थान में स्वयमेव ही शान्त हो जाता है (मैत्रा०४.१)। बुद्धि विषय ग्रहण करने से, चित्त चेतना से, अहन्ता अहंकार से अद्भुत (विशिष्ट) है- **बुद्ध्या बुद्ध्यति। चित्तेन चेतयति। अहंकारेणाहंकरोति** (ना०प०६.३)। उपनिषद् में चित्तशुद्धि के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि राग-द्वेष आदि से युक्त चित्त ही संसाररूप है, उसकें दोषों से मुक्त हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है- **चित्तमेव ही संसारो रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते** (महो० ४. ६६)।

७५. **छन्द**— अक्षरों की गणना के अनुसार वैदिक वाक्यों का जो भेद किया गया है, वह छन्द कहलाता है। ऋषियों के अन्तःकरण में प्रस्फुटित मन्त्रों को मूर्त रूप देने का कार्य जिन वर्ण समूहों द्वारा सम्पन्न हुआ, वह छन्द कहलाया। वर्ण समूहों का यह निश्चित परिमाण ही छन्द है। इसके मुख्य सात भेद हैं- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। इनमें प्रत्येक के आठ-आठ भेद नियत किये गये हैं-आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची और ब्राह्मी। यजुर्वेद की कण्डिकाओं में सात मुख्य छन्द के अतिरिक्त भी कुछ छन्दों की परिगणना की गयी है- अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति और उत्कृति। इन वैदिक छन्दों का निर्धारण वर्ण गणना के आधार पर ही हुआ है, इसमें मात्रा अर्थात् लघु-गुरु का विचार नहीं किया गया है। आगे चलकर काव्य में प्रत्येक पाद में मात्राओं के आधार पर छन्दों की व्युत्पत्ति भी हुई है। इन भेदों के आधार पर संस्कृत और हिन्दी भाषा के अनेक छन्दों के अनेक भेदों का वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार एक समय देवताओं ने मृत्यु के भय से तीनों वेदों में प्रवेश किया और भिन्न-भिन्न छन्दों से अपने को आच्छादित किया। अतः जो आच्छादन करे, वही छन्द है, यही '**छन्दस्**' शब्द की व्युत्पत्ति है- **देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्रविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिराच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्** (छान्दो० १.४.२)।

७६. **जगत्**—परमात्मा की बनायी यह दुनिया अथवा यह संसार जगत् कहलाता है। यह दृश्य जगत् है, इससे परे अदृश्य जगत् उससे अनन्त गुना व्यापक है। परमात्मा को जगत् ईश, जगत् पति या जगत् पिता भी कहते हैं। जगत् का कारण भी वह ब्रह्म ही है। सूर्य को इस जगत् की आत्मा कहकर निरूपित किया गया है- **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (साम०६२९)। यह सब (जड़-चेतन) की आत्मा (शरीर) जगत् है- **सर्वं वा इदमात्मा जगत्** (शत०ब्रा०४.५.९.८)। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह जगत् मिथ्या और मायावी है- **ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या**। जब तक मनुष्य संसार में लिप्त है, तब तक संसार की सत्ता है। जब मोह नष्ट हो जाता है, तब संसार भी नष्ट हो जाता है। आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म का शरीर यह जगत् ही है। ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है। जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं है। दर्शन ग्रन्थ के अनुसार यह जगत् तीन गुणों (सत्, रज, तम) के संयोग का परिणाम है। इस जगत् को अग्रिषोमात्मक (अग्रि तथा सोम के संयोग से उत्पन्न) माना गया है- **अग्नीषोमात्मकं जगत्** (बृ०जा०२.७)। यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म है, इनसे भिन्न कुछ भी नहीं है- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन** (निरा० ९)।

७७. **जड़-चेतन**— जगत् में हलचल और वृद्धि करने वाले प्राणियों, जीवों आदि को चेतन कहा गया है। निर्जीव तथा निश्चेष्ट पड़े रहने वाले पदार्थों को अचेतन या जड़ कहा गया है। पञ्च भौतिक तत्त्वों से बनी इस सृष्टि को जड़ जगत् कहते हैं। जड़ पदार्थ चेतना विहीन होते हैं। वह परम पुरुष-परमात्मा चेतन है, उसके अंश आत्मा या जीवात्मा भी चेतन हैं। चैतन्यता इसका गुण है। भोजनादि की चेष्टा करने वाले चेतन प्राणियों को 'साशन' और जड़ को 'अनशन' कहा गया है। इन्हें ही जङ्गम और स्थावर कहा जाता है। अचल तथा अपने स्थान पर स्थित रहने वाले पदार्थ स्थावर कहे जाते हैं। इसका विपरीतार्थक जङ्गम है। जड़-चेतन को ही अचर और चर कहा जाता है। जड़ या अचर पदार्थों का एक गुण जड़त्व है, जिसके कारण वे जहाँ के तहाँ पड़े रहते हैं, हिल-डुल नहीं पाते।

७८. **जरा**— मनुष्य के जन्म के बाद शैशव अवस्था और यौवन अवस्था प्राप्त होती है। यौवन बीतने पर जरा (जीर्णता-शिथिलता) आने लगती है। तत्पश्चात् अन्त में मृत्यु के रूप में शरीर समाप्त होता है- **देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा** (गी०२.१३)। गीता में भगवान् कहते हैं कि जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि ये जीव के चार दुःख हैं, इनका तथा अपने दोषों का अनुदर्शन मनुष्य को करना चाहिए- **जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्** (गी०१३.८)।

जब मनुष्य के बाल सफेद होने लगते हैं, तो उसे जराबोध होने लगता है, परन्तु पुण्य कर्मों (यज्ञादिकों) के परिणाम स्वरूप प्राप्त स्वर्गलोक में किञ्चित् मात्र भी भय नहीं है, वहाँ मृत्यु या जरा का भय नहीं रहता - **स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति** (कठ०१.१.१२)।

७९. **जाग्रत्,स्वप्न,सुषुप्ति—** व्यक्ति का जीवन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति- इन तीन अवस्थाओं में होता हुआ व्यतीत होता है। व्यक्ति का अधिकांश समय जाग्रत् अवस्था में विविधविध कार्यों को सम्पन्न करते हुए व्यतीत होता है। वह जब जागरूक स्थिति में ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान आदि), कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर आदि) से कार्य करता हुआ, सुख-दुःख, कर्त्ता-भोक्ता की अनुभूति करता है, तो यही जाग्रत् अवस्था कहलाती है।

जाग्रत् अवस्था में कार्य करते हुए जब व्यक्ति थककर सो जाता है, उस स्थिति में बाह्य जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता; किन्तु अचेतन मन की सक्रियता से वह 'स्वप्न' लोक में विचरण करता है, तरह-तरह के स्वप्न देखता है- यह 'स्वप्नावस्था' है। स्वप्नावस्था में देखे गये दृश्य आदि की स्थिति जगने के बाद समाप्त हो जाती है। इस स्थिति में स्थूल शरीर सक्रिय नहीं होता; किन्तु सूक्ष्म शरीर सक्रिय रहता है, वही स्वप्नावस्था के भय-शोक-आनन्द आदि की अनुभूति करता है।

तीसरी अवस्था दोनों से भिन्न होती है। स्थूल शरीर की सक्रियता तो होती ही नहीं, सूक्ष्म शरीर भी सक्रिय नहीं होता-स्वप्न का अभाव होता है, उस स्थिति में प्रगाढ़ निद्रा रहती है, जिसमें स्वप्न आदि भी नहीं आते, परन्तु उठने के बाद तृप्ति की अनुभूति होती है, व्यक्ति की सहज अभिव्यक्ति होती है-आज खूब सोया, खूब आनन्द आया, कुछ भी ज्ञात न हुआ। कुछ न ज्ञात होने के बावजूद जो तृप्ति-आनन्द की अनुभूति होती है, यही 'सुषुप्ति' अवस्था है। इस समय कारण शरीर को आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की सक्रियता की स्थिति ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था है।

८०. **जातवेदा—**यह अग्नि का ही पर्याय है। कहीं-कहीं सूर्य के पर्याय में भी जातवेदा शब्द का प्रयोग हुआ है। अरणियों में जातवेदा अग्नि सन्निहित है- **अरण्योर्निहितो जातवेदाः** (कठो०२.१.८)। केनोपनिषद् में अग्निदेव को ही जातवेदा सम्बोधन प्रदान किया गया है-

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति (केन०३.३)।

८१. **जीवन्मुक्त—**भारतीय दर्शन जगत् में 'मोक्ष' को मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) माना गया है। वेदान्त दर्शन 'मोक्ष' को ज्ञान साध्य मानता है। ज्ञान (आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान) के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती- **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** । जीव द्वारा यथार्थरूप से अपने स्वरूप को जान लेना ही मोक्ष है। जब तक जीव माया-अविद्या की (आवरण-विक्षेप) शक्तियों से बँधकर अपने को संसारी समझता रहता है, तब तक इस भवसागर-संसार में इधर-उधर भटकता रहता है। जब श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा अपने आत्म स्वरूप-ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। ज्ञान के उदय और अज्ञान के विनाश का ही दूसरा नाम मोक्ष है।

वस्तुतः जीव (आत्मा) स्वभाव से ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप वाला होता है। मुक्ति की न उत्पत्ति होती है, न प्राप्ति। जब कोई सद्गुरु मिल जाता है और ज्ञान का उपदेश करता है, तो साधक का भ्रमात्मक अज्ञान दूर हो जाता है और विवेक-ज्ञान का उदय हो जाता है, यही मुक्ति की अवस्था है। वेदान्त ग्रन्थ में इसे **'ग्रेवेयकन्याय'** द्वारा समझाया गया है। गले में पड़ी सुवर्ण-जंजीर को भ्रमवश बाहर ढूँढ़-ढूँढ़कर परेशान हुए व्यक्ति को जब कोई बुद्धिमान् गले में होने का संकेत करता है, तो उसे ध्यान आता है और सुवर्ण-जंजीर पाकर बड़ा प्रसन्न होता है।

इस प्रकार 'मुक्ति' के आनन्द में डूबा हुआ साधक सांसारिक हर्ष-विषाद से ऊपर उठकर प्रसन्नतापूर्वक जीवन -यापन करता है, यही 'जीवन्मुक्त' की स्थिति है। दूसरों के देखने में वह सामान्य व्यक्तियों जैसा आचरण करता दिखता है; परन्तु वस्तुस्थिति उससे भिन्न होती है। वह कर्त्ता-भोक्ता के भाव से ऊपर उठ जाता है, उसके कर्म का पाप-पुण्य के रूप में कोई प्रतिफल नहीं होता, जो प्रारब्ध कर्म हैं, उन्हीं के अनुसार जीवनक्रम चलता रहता है। दग्ध बीज की तरह उनसे नये कर्म का अंकुरण नहीं होता। कुलाल चक्र (कुम्हार के चक्र) की तरह जीवन क्रम, पहले की गतिशीलता के क्रम में गतिशील रहता है। प्रारब्ध कर्मों के क्षीण हो जाने पर उसका हाड़-

मांस का शरीर अपने पंचतत्त्वों में विलीन हो जाता है और फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि पुनर्जन्म में जिस कर्म बीज की अनिवार्यता होती है, वह ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गया होता है।

इस प्रकार वह पूर्ण मुक्त होकर परब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है-यह अवस्था 'विदेह-मुक्त' कहलाती है। इस प्रकार मोक्ष (मुक्ति) के दो रूप होते हैं-१. जीवन-मुक्त तथा २. विदेह मुक्त।

८२. **ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग**—गीता में प्रमुखतः योग को तीन भागों में विभक्त किया है- १. ज्ञानयोग, २. भक्तियोग और ३. कर्मयोग। इस व्यापक, प्रकाशक, प्रेरक परमात्मा को पा लेना ही योग है। ज्ञान, भक्ति और कर्म ये योग के विविध साधन हैं। परमात्मा को न्यायकारी और सर्वव्यापी अनुभव करना ज्ञानयोग है। परमात्मा के प्रति श्रद्धा-विश्वास तथा प्रेम-आत्मीयता के सूत्रों से जुड़ना भक्तियोग है। फलाकांक्षा को त्यागकर परमात्मा की प्रसन्नता के निमित्त प्रत्येक कर्म को करते रहना कर्मयोग है। कर्मयोग की महत्ता गीता में इस प्रकार दी गई है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों निःश्रेयस प्रदान करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में कर्म-संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है- **संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥** (गी०५.२)

कुछ विद्वान् कर्म को बन्धन का कारण मानते हैं, परन्तु जो कर्म ज्ञानपूर्वक, भक्तिभाव पूर्वक तथा आसक्ति से रहित होकर किया जाता है, उसे बन्धन रूप नहीं माना गया है, वह तो मुक्ति का आधार स्वरूप है। श्रुति कहती है- **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।** (यजु०४०.२)

८३. **ज्ञान-विज्ञान**— मनुष्य में अनेक अपूर्णताएँ होती हैं, इन्द्रिय लिप्सा-लालसा, विषय-विकार आदि होते हैं, ज्ञान से विकारों, लालसाओं से निवृत्ति और पूर्णता की प्राप्ति होती है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। (**ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः**)। गुरु के प्रति श्रद्धा भाव और सेवा से तथा स्वयं के अध्यवसाय से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु कोई नहीं है, यह गीता का निर्देश है- **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** (गी० ४.३८)। सांसारिक वस्तुओं से सम्पन्न होने वाले यज्ञ से ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकार से श्रेष्ठ है- **श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप** (गी०४.३३)। ज्ञान की नौका द्वारा सारे पापों को पार किया जा सकता है- **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि** (गी०४.३६)। ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है- **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा** (गी०४.३७)। तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष श्रद्धावान् होकर ज्ञान को प्राप्त करता है-**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** (गी० ४.३९)।

विज्ञान से तात्पर्य विशिष्ट ज्ञान से है। किसी विशिष्ट विषय के तत्त्वों या सिद्धान्तों का क्रमबद्ध संगृहीत ज्ञान, विज्ञान कहलाता है। विषय ग्रहण के कारण को विज्ञान कहा गया है-**गृह्णन्ति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते।** आज जिसे हम 'विज्ञान' के नाम से जानते हैं, वह हमें विविधि विषयों का क्रमबद्ध कार्य- कारणता से युक्त ज्ञान कराता है, इसलिए 'विज्ञान' कहा जाता है। तर्क, तथ्य, प्रमाण की कसौटी पर खरा उतरने वाला ज्ञान 'विज्ञान' है।

८४. **तद्वन**—वेदान्त दर्शन का यह शब्द 'ब्रह्म और उसके प्रति कर्त्तव्य भाव' को प्रकट करता है। केनोपनिषद् खण्ड चार के छठें मन्त्र में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। आचार्य शंकर ने इस शब्द का भाष्य करते हुए लिखा है- **तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वनं वननीयं संभजनीयम्।** अर्थात् वह 'ब्रह्म' निश्चय ही 'तद्वन' नाम वाला है। उसका वन-तद्वन, यह उस प्राणि-समूह का प्रत्यगात्मस्वरूप होने के कारण वन- वननीय- है, भजनीय है। वस्तुतः जहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसके पूर्व यह बतलाया गया है कि साधारण लोग जिस ब्रह्म की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है, इससे लोग यह न समझें कि ब्रह्म की उपासना हो ही नहीं सकती; इस कारण ऋषि इस स्थल पर यह दिखलाते हैं कि उस परमब्रह्म परमात्मा को 'वन' रूप में समझा जाए अर्थात् वह ब्रह्म ऐसा है कि जिसका सम्यक् रूप से अच्छी तरह से भजन (अनुभव) किया जा सकता है। परमशान्ति देने वाला अर्थात् वननीय वही है।

'वन' का एक अर्थ जल भी है। जो गर्मी को - ताप को शान्त करता है, हृदय को शान्ति देता है- वह जल है, रस है- **'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'** (गी०७.८) अर्थात् जल में जो रस है, वह मैं हूँ। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म को रस रूप कहा गया है- **रसौ वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** (तैत्ति० २.७)। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उसी (दिव्य) रस को -आनन्द को-'वन' अर्थात् प्राप्त होने योग्य वस्तु रूप में कहा गया है।

८५. **तप**—विषयों से, राग से शरीर और मन को दृढ़ता पूर्वक मुक्तकर योग की स्थिति के लिए तैयार करना ही तप है। शरीर तथा मन की विविध विषयों में प्रयुक्त होने वाली शक्ति को संयमित करना और उनकी शक्ति को उद्दीप्त करना भी तप कहलाता है। तप के द्वारा मनुष्य असाधारण तेज सम्पन्न होता है। साधन की दृष्टि से तप को तीन प्रकार का माना गया है-१. शारीरिक, २. वाचिक, ३. मानसिक। महापुरुषों, देवगणों आदि की पूजा आराधना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा को शारीरिक तप माना गया है। वेद पठन, सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलना वाचिक तप है। मनो-निग्रह, वासनाओं का निरोध, मौन और भावशुद्धि को मानसिक तप कहा गया है।

फलाकांक्षा से रहित होकर श्रद्धापूर्वक किये गये ये तीनों तप सात्त्विक तप कहे गये हैं। भावों की दृष्टि से इस प्रकार भी तप के तीन भेद किये गये हैं- १. सात्त्विक, २. राजस और ३. तामस। तप से विद्या, योग, मन्त्र आदि की इष्ट सिद्धि मिलती है। उपनिषद् में तप और स्वाध्याय तथा उपदेश को मनुष्य के कर्त्तव्यों में अभिहित किया गया है- **तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च** (तैत्ति० १.९)। तप से ही ब्रह्म वृद्धि-विस्तार को प्राप्त होता है- **तपसा चीयते ब्रह्म** (मुण्ड० १.१.८)। तप से ही ब्रह्म को जानने की तीव्र इच्छा करें, तप ही ब्रह्म है- **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति** (तैत्ति०३.२)। तप के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने से 'मन' वश में आता है। मन वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा की प्राप्ति होने पर संसार से मुक्ति मिल जाती है-**तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः। मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तत इति** (मैत्रा० ४.३)। तप के प्रति एकनिष्ठ रहने वाले को तपोनिष्ठ तथा तप की विपुल पूँजी संचय करने वाले को तपोनिधि कहा गया है।

८६. **तुरीय-तुरीयातीत**— वेदान्त में प्राणियों की चार अवस्थाएँ वर्णित हैं- जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। तुरीय (चतुर्थ अवस्था) को मोक्ष की अवस्था भी कहा गया है। उक्त तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति- लय से परे रहने वाला जो नित्य साक्षी चैतन्य है- वह तुरीय चैतन्य है और यह अवस्था तुरीय है- **अवस्थात्रयभावाभावसाक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा-तदा तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते** (स० सा०४)। जाग्रत् अवस्था में वैश्वानर संज्ञक आत्मा नेत्र में रहता है, स्वप्नावस्था में तैजस आत्मा कण्ठ में रहता है, सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ संज्ञक आत्मा हृदय में रहता है और तुरीय (चतुर्थ- तीन अवस्थाओं से परे की) अवस्था का आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में रहता है-**नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्** (ना०प० ५.१)। तुरीय अवस्था को विजित करने वाले संन्यासियों की एक श्रेणी तुरीयातीत कहलाती है। उस जन्म-मरण, धर्म और मोक्ष की तुरीय अवस्था से परे उस विशुद्ध परमात्मा या परब्रह्म को भी तुरीयातीत कहा गया है।

उपनिषद् में सूर्य को भी तुरीय या दर्शत पद कहा गया है। जो (आदित्य) तपता है, जो चतुर्थ होता है, वही तुरीय या दर्शत पद है- **य (आदित्य) एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति** (बृह० ५.१४.३)। यह तुरीय दर्शत पद या परोरजा (सभी लोकों से परे) किसी के द्वारा प्राप्य नहीं है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कैसे कर सकता है- **एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात्** (बृह० ५.१४.६) यह निर्गुण ब्रह्म ही तुरीयातीत तत्त्व है, इसमें अवस्था-भेद नहीं है- **अवस्थाः न त्वेवं तुरीयातीतस्य निर्गुणस्य** (ना०प० ६.१)।

८७. **तैंतीस देवता**—निरुक्तकार यास्कमुनि के अनुसार देव शब्द की व्युत्पत्ति दान, दीपन, द्योतन आदि अर्थों में की गयी है। वास्तव में देव शब्द विश्व की प्रकाशक और कल्याणकारी शक्तियों का प्रतीक है। इन्हें तैंतीस कोटि (करोड़) या श्रेणियों का माना गया है। तैंतीस संख्यक देवों में अष्टवसु, एकादशरुद्र, द्वादश आदित्य, पृथ्वी और द्यौ को परिगणित किया गया है। इसकी पुष्टि शतपथ ब्राह्मण में होती है- **अष्टौ वसवः। एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमेऽएव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिꣳश्यौ त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः** (शत० ब्रा० ४.५.७.२)। निरुक्त (३.७.४) के अनुसार ये सब देवता एक ही अद्वय आत्मा के प्रत्यंगरूप हैं- **एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।**

८८. **तैजस**— यह वेदान्तदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। सृष्टि विकास क्रम में कारण रूप ईश्वर से उनकी इच्छानुसार सृष्टि सृजन के संकल्प के साथ ही सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसी क्रम में सूक्ष्म तन्मात्राएँ, पंचभूत, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चप्राणादिकों के प्रादुर्भाव का क्रम सम्पन्न होता है। पंचीकरण एवं त्रिवृत्करण सिद्धान्तों के आधार

पर सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयवों वाला है-पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण तथा मन और बुद्धि। दूसरे शब्दों में इसे विज्ञानमय कोश (पंचज्ञानेन्द्रियाँ तथा बुद्धि),मनोमय कोश (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन) तथा प्राणमय कोश (पंचकर्मेन्द्रियाँ तथा पंच प्राण) का समुच्चय कहा जा सकता है।

सूक्ष्म शरीर की दो स्थितियाँ होती हैं- एक समष्टिगत, दूसरी व्यष्टिगत। सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को 'हिरण्यगर्भ' तथा व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहा गया है। समष्टिभूत 'चैतन्य' हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त सूत्रात्मा प्राण, प्रजापति तथा ब्रह्मा आदि संज्ञाओं से भी अभिहित किया गया है। व्यष्टिभूत चैतन्य 'तैजस' है। दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि समष्टिभूत चैतन्य अपरिच्छिन्न (अनावृत-असीम) होता है और व्यष्टिभूत चैतन्य 'परिच्छिन्न' (आवृत-ससीम) होता है। यह सूक्ष्म देहाभिमानी 'तैजस' सूक्ष्मतर विषयों का ही आहार ग्रहण करने वाला होता है। यह स्थिति 'स्वप्नावस्था' में आती है। वेदान्त की मान्यतानुसार वन और वृक्ष की तरह हिरण्यगर्भ (वन) और तैजस (वृक्ष) में अभेद है।

८९. **त्रयताप-त्रिविध दुःख**—'दर्शन' जगत् में यह शब्द अति प्रसिद्ध है। दर्शन का एक प्रयोजन तीनों तापों-तीनों दुःखों से मुक्ति दिलाना माना गया है। सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल ने मानव जीवन का परम पुरुषार्थ त्रिविध दुःखों का अत्यन्ताभाव माना है-**अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः** (सां० १.१)। सभी प्राणी जिन अनेकानेक दुःखों-कष्टों से विनिवृत्ति चाहते हैं, उन्हें तीन वर्गों में बाँटा गया है- १. आध्यात्मिक २. आधिभौतिक ३. आधिदैविक। जो दुःख शरीर-मन से जुड़े होते हैं, उन्हें आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है, जैसे- रोग, शोक, लोभ- मोह, ईर्ष्या-द्वेष, आदि। जो दुःख अन्यान्य प्राणियों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं, उन्हें आधिभौतिक-दुःख कहा जाता है, जैसे-सर्प-बिच्छू, सिंह आदि हिंस्र जन्तुओं तथा मनुष्यों के लड़ाई-झगड़े से उत्पन्न दुःख। जो दुःख दैवी आपदाओं के रूप में प्राप्त होते हैं, उन्हें आधिदैविक दुःख कहा जाता है। जैसे- अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, विद्युत्पात आदि। दर्शन का प्रयोजन मुख्यतः इन्हीं त्रय तापों से मुक्ति प्रदान करने का है। इसी उद्देश्य से इनके अध्ययन, चिन्तन, मनन, की आवश्यकता होती है। त्रयतापों की निवृत्ति के बाद ही परमानन्द प्राप्ति का पथ-प्रशस्त होता है।

९०. **त्रय-शरीर** —शास्त्रों में मनुष्य शरीर के तीन भेद किये गये हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। दृश्यमान अंग-अवयवों या पञ्चभूतों से निर्मित शरीर स्थूल शरीर कहलाता है। स्थूल का शब्दार्थ भौतिक, मूर्त, अन्न तथा भोग्य से लिया जाता है। सूक्ष्म से तात्पर्य अभौतिक, अमूर्त, अग्नि, भोक्ता तथा अदृश्य से लिया जाता है। पञ्च तन्मात्राओं, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्चकर्मेन्द्रियों, मन, बुद्धि-इन सत्रह के समूह को सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर कहते हैं। भावनाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं से सम्बद्ध आन्तरिक शरीर को कारण शरीर कहा जाता है। ऐसा भी वर्णन आता है कि स्थूल शरीर स्वयं से विराट् सूक्ष्म शरीर में तथा सूक्ष्म शरीर स्वयं से विराट् कारण शरीर में समाया हुआ है। इन तीनों शरीरों को प्रेरित करने वाला वह परम पुरुष अर्थात् आत्मा इनसे भिन्न है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोश, सूक्ष्म शरीर को प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश तथा कारण शरीर को आनन्दमय कोश से सम्बद्ध माना जाता है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ईश्वर है, उनके साथ सब अवस्थाओं में एक ही साक्षी (ब्रह्म) स्थित है-**स्थूल सूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञेश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते** (ना०प० ६.१)।

९१. **दक्षिणा** —यज्ञ करने वाले पुरोहितों को दिये गये दान को दक्षिणा कहते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर शिष्य अपने आचार्य को गुरु दक्षिणा देता था। गृह्यसूत्रों में इसका विधान वर्णित है। प्रत्येक धार्मिक या माङ्गलिक कार्य की समाप्ति पर पुरोहितों, ऋत्विजों को दक्षिणा देना आवश्यक समझा जाता था। इसके बिना शुभ कार्य का सुफल नहीं मिल पाता। श्रुति के अनुसार दक्षिणादाता स्वर्ग में उच्चस्थ पदों पर प्रतिष्ठित होते हैं- **उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये** (ऋ० १०.१०७.२)। छान्दोग्य० के अनुसार जो तप,दान,आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन हैं- ये आत्मयज्ञ की दक्षिणारूप हैं -**यत्तपो दानमार्जवमहिꣳ सा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः** (छान्दो०३.१७.४)। याज्ञवल्क्य और शाकल्य संवाद में वर्णित है कि यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? दक्षिणा में। दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित् है ? श्रद्धा में; क्योंकि पुरुष में जब श्रद्धा होती है, तभी दक्षिणा देता है- **कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठत इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठित इति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति** (बृह०३.९.२१)।

९२. दमन — इन्द्रियों को वश में रखना और चित्त को दुष्प्रवृत्तियों से बचाना-यह दमन कहलाता है। दबाने अथवा रोकने की क्रिया को भी दमन कहा गया है। उपनिषद् के अनुसार प्रजापति के अनुशासन की दैवी वाणी मेघगर्जना के सदृश गूँजती रहती है- द,द,द। देवों के लिए दमन करो, मनुष्यों के लिए दान करो, असुरों के लिए दया करो। अतः दम, दान और दया इन तीनों को सीखें-**तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत्त्रयꣳशिक्षेद् दमं दानं दयामिति** (बृह० ५.२.३)। उपनिषद् में शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के साथ दमन को भी कर्त्तव्य निरूपित किया गया है- **दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च** (तैत्ति० १.९.१)।

९३. दर्श-पूर्णमास — अमावस्या-पूर्णिमा के दिन यज्ञ आदि द्वारा देवों का विशिष्ट पूजन किया जाता है। शास्त्रों में इसका माहात्म्य मिलता है कि जो विद्वान् दर्शपूर्णमास (अमावस्या-पूर्णिमा) में यजन करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है- **य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते परमामेव काष्ठां गच्छति** (तैत्ति०सं० १.६.९.३)। इसकी तुलना देवयान मार्ग से की गई है। जो विद्वान् इसका पूजन करता है, वह देवयान मार्ग पर आरोहण करता है-
एष वै देवयानः पन्था यद् दर्शपूर्णमासौ य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते य एव देवयानः पन्थास्तꣳ समारोहति (तैत्ति०सं०२.५.६.२)।

९४. दुःख-सुख — अप्रिय अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में जो मन में वेदना होती है, उसे दुःख कहा जाता है। इसके विपरीत अनुकूल परिस्थितियों में मन में उत्पन्न आह्लाद की अवस्था को सुख कहते हैं। इसके दो भेद माने गये हैं। स्वकीय और परकीय। सांख्य दर्शन में तीन प्रकार के दुःखों का वर्णन किया गया है-आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। इन्हें ही त्रयताप कहा गया है। इन्द्रियभोग ही दुःख-सुख के हेतु कहे गये हैं- **सुखदुःखबुद्ध्या श्रेयोऽन्तः कर्त्ता यदा तदा इष्टविषये बुद्धिः सुख बुद्धिरनिष्ट विषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सुखदुःखहेतवः** (स०सा०६)। इन्द्रियों के संयम में सुख तथा असंयम में दुःख भरा है। उपनिषदों में कहा गया है, जो अनित्य और नश्वर है, वह सब दुःख ही है, केवल नित्य और शाश्वत ही सुख स्वरूप है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान भाव से ग्रहण करना चाहिए- **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ** (गी० २.३८)। सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप बोध से जो आनन्द युक्त स्थिति होती है, उसे उपनिषद् में सुख कहा गया है और अनात्म रूप विषयों के सङ्कल्प की स्थिति को दुःख कहा गया है- **सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्। दुःखमिति अनात्मरूप विषय सङ्कल्प एव दुःखम्** (निरा० १५)।

९५. देवता—'देवता' शब्द देव का ही वाचक स्त्रीलिङ्ग है, हिन्दी में पुंल्लिंग में प्रयुक्त होता है। तीन देवता प्रधान माने गये हैं- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार के नियामक देव हैं। मूलतः ३३ देवता माने गये हैं-१२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, द्यावा और पृथिवी। इन देवों को परिवार क्रम से तीन भागों में विभाजित किया गया- १. द्वादश आदित्य, २. एकादश रुद्र, ३. अष्टवसु। आगे देवमण्डल का विस्तार ३३ करोड़ भी माना गया है। इन्हें स्थानक्रम से तीन भागों में विभाजित किया गया है- द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और पृथ्वी स्थानीय। यास्क प्रणीत निरुक्त में देव शब्द की व्युत्पत्ति दान, दीपन अथवा द्योतन आदि अर्थों में की गयी है। देव शब्द जगत् की प्रकाशमान और कल्याणकारी शक्तियों का प्रतीक है। निरुक्त (७.१.४) के अनुसार सभी देवताओं की उत्पत्ति आत्मा से ही मानी गयी है- **एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति** अर्थात् एक आत्मा के ही सब देवता प्रत्यङ्ग रूप हैं। एक ही परम देव सभी प्राणियों में व्याप्त हैं, सभी प्राणियों के अन्तरात्मा रूप हैं-**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेता०६.११)।

९६. देवयान-पितृयान मार्ग— जीवात्मा के शरीर से उत्क्रमण के बाद परलोक गमन के दो मार्गों में से एक मार्ग, जिससे वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, वह देवयान मार्ग और जिससे वह चन्द्रमा को प्राप्त होता है, वह पितृयान मार्ग कहलाता है। अन्य मतानुसार वह मार्ग जिससे जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होता है, देवयान मार्ग और वह मार्ग जिससे जाकर जीवात्मा स्वर्गादि सुख भोगकर पुनः संसार में लौटता है, पितृयान मार्ग कहलाता है। देवयान का सम्बन्ध उत्तरायण से और पितृयान का सम्बन्ध दक्षिणायन से है, इसीलिए उत्तरायण में मरना मोक्षदायक समझा जाता है। देवयान मार्ग में जाने वाले सर्वप्रथम अर्चि को पाते हैं। अर्चि से अह्न, अह्न से शुक्ल पक्ष, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण

के षण्मास, उत्तरायण से संवत्सर, संवत्सर से आदित्य, आदित्य से विद्युत् को प्राप्त होते हैं। पितृयान मार्ग से जाने वाले मनुष्य इसी प्रकार धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के षण्मास, फिर पितृलोक और वहाँ से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। स्वर्ग सुख भोगने के अनन्तर किसी योनि में पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। उपनिषद् के अनुसार जो पितृयान मार्ग है, वही यह रयि है- **एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः** (प्र०१.९)। देवयान मार्ग सत्य से परिपूर्ण है, जिससे आप्तकाम ऋषिगण गमन करते हैं, जहाँ उस सत्यस्वरूप परमेश्वर का परमधाम है- **सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्थाविततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्** (मुण्ड०३.१.६)।

९७. **धर्म-अधर्म**— धर्म शब्द 'धृ' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- धारण करना। दर्शन शास्त्र के अनुसार जिससे जीवन में अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, वह धर्म है-**यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (वै०द०१.१.२)। मीमांसा दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि के अनुसार 'वेदों द्वारा निर्दिष्ट कर्म ही व्यक्ति का धर्म है'- (मी०द०१.१.२)। न्यायदर्शन में २४ गुणों मे से एक गुण धर्म भी वर्णित है। गीता में चारों वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न धर्म निर्धारित हैं। धर्म के चार वर्गीकरण इस प्रकार भी प्रतिपादित हैं- नित्य, नैमित्तिक, काम्य और आपद् धर्म। स्मृति ग्रन्थ में धर्म के दस अङ्गों का वर्णन मिलता है- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। उपनिषद् में धर्म का आचरण करने और उसमें प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया है- **धर्मं चर। धर्मान्न प्रमदितव्यम्** (तैत्ति०१.११.१)। गीता में कहा गया है कि धर्म का थोड़ा आचरण भी महान् भय से मुक्त कर देता है- **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** (गी०२.४०)। धर्म ही प्रजा को धारण करता है-'**धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः**' (महा०कर्ण० ६९.५८)। इस प्रकार धर्म का जो प्रतिपादन हुआ, उससे विपरीत अधर्म है। व्यास जी ने संक्षेप में धर्म (पुण्य) और अधर्म (पाप) की परिभाषा बताते हुए लिखा है- **अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्**। परोपकार ही धर्म है, परपीड़ा (दूसरों को कष्ट देना) अधर्म है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है-

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

९८. **धर्मसूत्र**— वेदाङ्ग में 'कल्प' के अन्तर्गत सूत्र ग्रन्थ चार प्रकार के हैं- श्रौत, गृह्य, धर्म और ऐन्द्रजालिक (रचना सम्बन्धी)। ये मनुष्य के व्यावहारिक तथा धार्मिक जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्व के हैं। धर्मसूत्र वे ग्रन्थ हैं, जिनमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों, मर्यादाओं तथा आचरण, व्यवहार आदि का निर्देश है। ये धर्मसूत्र प्रमुख रूप से पाँच हैं- १.आपस्तम्ब, २. हिरण्यकेशी, ३.बौधायन, ४. गौतम और ५. वसिष्ठ। इनमें अपराध आदि के दण्डों के विधान तथा प्रायश्चित्त भी वर्णित हैं।

९९. **धाता**— द्र० - विधाता।

१००. **धारणा**— चित्तवृत्तियों को चारों ओर से हटाकर किसी एक स्थान या विषय में लगाना धारणा है। मन के विचारों-संकल्पों को आत्मा में लय करते रहना और आत्मा या परमात्मा के चिन्तन में स्थित रहना धारणा कहलाता है। मन की वह स्थिति जिसमें ब्रह्म चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई भाव या विचार नहीं ठहरता, धारणा कहलाती है। इसमें मन में वासना नहीं रह जाती। उपनिषद् के अनुसार मन को संकल्पात्मक मानकर उसे आत्मा में लय करते हुए उसे परमात्म चिन्तन में धारण करना 'धारणा' की स्थिति है- **मनः संकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्। धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता** (अमृ०१६)। योगसूत्र के अनुसार चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है- **देशबन्धः चित्तस्य धारणा** (यो०द०३.१)। प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोषों को तथा धारणा के द्वारा पापों को जलाते हैं-**प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्। किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत्** (अमृ०८)।

१०१. **ध्यान**— चित्त को चारों ओर से हटाकर किसी एक विषय पर सतत स्थिर करना ध्यान कहलाता है। बाह्य इन्द्रियों के बिना केवल मन में किसी विषय या व्यक्ति को लाना या बिठाना भी ध्यान है। ध्यान में ध्याता अपने चित्त को ध्येय में स्थिर या एकाग्र करता रहता है। यही ध्यान जब चरमावस्था को पहुँचता है, तब समाधि कहलाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार चित्त का राग से विमुक्त होना ही ध्यान है- **रागोपहितिर्ध्यानम्** (सां०द०३.३०)। इसी तथ्य को उपनिषद् कहता है कि मन का विषयों से मुक्त होना ही ध्यान है- **ध्यानं निर्विषयं मनः** (मैत्रे०२.३)। गीता में कहा

गया है कि कितने ही पुरुष ध्यान के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण से अपने में ही परमात्मा को देखते हैं- **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना** (गी०१३.२४)। ज्ञान से ध्यान की महत्ता अधिक मानी जाती है- **श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते** (गी० १२.१२)।

१०२. ध्रुव— ध्रुव शब्द के पर्याय इस प्रकार हैं- स्थिर, अचल, निश्चित, अटल, नित्य, शाश्वत। अनश्वर पदार्थों के लिए ध्रुव शब्द प्रयुक्त होता है। कहीं-कहीं परमात्मा के पर्याय रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। स्थिरता का प्रतीक होने के कारण हिन्दू विवाह के अवसर पर दाम्पत्य जीवन की स्थिरता के लिए वधू को ध्रुव (तारे) का दर्शन कराया जाता है। कठोपनिषद् का प्रतिपादन है कि कर्मफल रूपनिधि अनित्य है, क्योंकि अनित्य पदार्थों से ध्रुव (नित्य-परमात्मा) तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती- **जानाम्यह ँ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्** (कठ०१.२.१०)। ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार जो स्थिर है, जो प्रतिष्ठित (आकाश में) है, वही ध्रुव है- **यद्वै स्थिरं यत्प्रतिष्ठितं तद् ध्रुवम्** (शत०ब्रा०८.२.१.४)।

१०३. नाचिकेताग्नि— कठोपनिषद् की यम-नचिकेता की कथा विख्यात है। उस कथा में 'नचिकेता' ने यमराज से द्वितीय वर के रूप में उस अग्निविद्या को माँगा है, जो समस्त दुःखों को दूर करके स्वर्ग (परमसुख) प्रदान करने वाली है- **स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम्**- हे मृत्यो! आप स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को जानते हैं, सो मुझ श्रद्धालु के प्रति उसका वर्णन कीजिए (कठ०१.१.१३)।

यमराज ने विस्तारपूर्वक अग्निविद्या का रहस्य नचिकेता को बताया, तदुपरान्त नचिकेता ने यमराज द्वारा बताई गई अग्निविद्या को-उसकी इष्टिकाओं, उसके चयन की प्रक्रिया आदि को- यथावत् सुना दिया। उससे प्रसन्न होकर यमराज ने उस अग्निविद्या का नामकरण नचिकेता के नाम पर ही कर दिया-**तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भवतायमग्निः** ....(कठ० १.१.१६)। इस प्रकार वह अग्निविद्या 'नाचिकेताग्नि' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। यमराज ने इस नाचिकेताग्नि के चयन की फलश्रुति बताते हुए आगे कहा- **त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति** (कठ० १.१.१७)। अर्थात्- त्रिणाचिकेत अग्नि (तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाला अथवा ज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला) का तीन बार चयन करने वाला मनुष्य (माता-पिता और आचार्य-इन) तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त करके जन्म और मृत्यु को पार कर लेता है तथा ब्रह्म से उत्पन्न हुए ज्ञानवान् और स्तुति योग्य देवों को जानकर-साक्षात्कार करके परमशान्ति प्राप्त करता है।

१०४. नाद— नाद का सामान्य अर्थ है- शब्द या ध्वनि। संगीत शास्त्र के अनुसार आकाशस्थ अग्नि और मरुत् (वायु) के संयोग से नाद उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण जगत् नाद से भरा हुआ है। इसे 'नाद ब्रह्म' कहा गया है। नाद दो प्रकार का माना गया है- आहत और अनाहत। योगी योग साधना से ब्रह्म में अनवरत गुञ्जायमान अनाहत नाद का श्रवण करते और उसकी मस्ती में लीन रहते हैं। प्राणाग्नि के आघात से शरीर के अन्दर ध्यान स्थिर करने पर एक नाद सुनाई देता है। इसमें विविध ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। अभ्यास के प्रारम्भ में नाद बहुत जोर से और नानाविध सुनाई पड़ता है। अभ्यास के बढ़ जाने पर वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप में सुनायी पड़ता है- **श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्। वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः** (ना०बि० ३३)। जिस प्रकार पुष्परस का पान करता हुआ भ्रमर पुष्पगन्ध की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार नाद में सदा आसक्त रहने वाला चित्त विषयों की आकांक्षा नहीं करता **मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा। नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति** (ना०बि० ४२)। नाद मनरूपी मृग के बाँधने में जाल का कार्य करता है तथा मनरूपी तरङ्ग को रोकने में तट का काम करता है-**नियामन समर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः। नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते** (ना० बि०४५)।

१०५. नारायण— अनंत सृष्टि की स्थिति, स्थापक तथा पोषण कर्त्ता के रूप में नारायण भगवान् का स्मरण किया जाता है। पुरुष सूक्त में उसी विराट् नारायण पुरुष की महिमा का प्रतिपादन है। मुद्गलोपनिषद् में भी उनकी महिमा अभिव्यक्त हुई है। नारायण पुरुष तीनों कालों में अवस्थित रहते हैं। वे सभी महिमावानों से श्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे इन सब प्राणियों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाले हैं- **पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चासीत्। स च सर्वस्मान् महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान्** (मुद्ग० २.३)।

नारायण से ही समष्टिगत प्राण उत्पन्न हुआ है, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भी उन्हीं से प्रकट हुईं । आकाश, वायु, तेज, जल तथा सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति भी उन्हीं से हुई । ब्रह्मा और रुद्र भी नारायण से ही उत्पन्न होते हैं- **नारायणात्प्राणो जायते। मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। नारायणाद्ब्रह्मा जायते। नारायणाद्रुद्रो जायते** (नारा० १)। नारायण देव ही एकमात्र निष्कलङ्क, निरञ्जन, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय एवं विशुद्ध हैं, उनके सिवा दूसरा कोई नहीं है- **निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्** (नारा०२)। महोपनिषद् में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि आदि में एकमात्र नारायण ही थे, न ब्रह्मा, न रुद्र-**एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो** (महो०१.१)। आदि पुरुष भगवान् नारायण के नामोच्चारण मात्र से मनुष्य कलि के सब दोषों का नाश करता है- **भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवतीति** (कलिसं० १)।

१०६. निःश्रेयस —द्र०- अभ्युदय।

१०७. निःस्पृह—स्पृहा का तात्पर्य है - इच्छा, कामना, लालसा, अभिलाषा। जो कोई भी लौकिक इच्छा, कामना न रखता हो, उसे निःस्पृह कहते हैं। निःस्पृह व्यक्ति ही एकमात्र आध्यात्मिक उत्कर्ष की महत्त्वाकांक्षा को रखते और महिमावान् बनते हैं। ऐसे महामना अपने कर्त्तव्य पथ पर अविचल खड़े रहते हैं और प्रतिष्ठा एवं देव कृपा के सुयोग को पाते हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि रजोगुण के बढ़ने पर लोभ प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा (विषय भोगों की इच्छा)- ये सब बढ़ते हैं- **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ** (गी० १४.१२)। बन्धु-बान्धवों आदि को बढ़ाने की स्पृहा से दीनता के दोष की वृद्धि होती है- **दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा** (महो० ३.३६)। सब कामनाओं से निःस्पृह चित्त ही युक्त (नियंत्रित) कहा जाता है- **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा** (गी० ६.१८)।

१०८ ध्रुवा— कोश ग्रन्थों में ध्रुवा-नित्या का पर्याय पार्वती, मनसा देवी, एक शक्ति बताया गया है। नित्या का एक अर्थ ध्रुवा अर्थात् स्थिर है। ब्राह्मणग्रन्थों में पृथ्वी, आत्मा आदि को ध्रुवा कहकर उपन्यस्त किया गया है- **पृथिवी ध्रुवा** (तै० ब्रा० ३.३.१.२), **आत्मा ध्रुवा** (तै०ब्रा० ३.३.१.५)। ब्रह्माण्ड पुराण (४.१९.५९) में अविनाशी देवियों के एक समूह को नित्या कहा गया है। उपनिषद् में वर्णित है कि आहारशुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल (स्थिर) स्मृति प्राप्त होती है- **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः** (छान्दो० ७.२६.२)।

१०९. निर्गुण-सगुण— परब्रह्म के दो रूप माने गये हैं। निर्गुण और सगुण। उसके सगुण रूप से दृश्य जगत् की उत्पत्ति हुई है। अनन्त सृष्टि की रचना करने वाला वह परमेश्वर वास्तव में अनन्त और निर्गुण ही है। निर्गुण का तात्पर्य है- गुण रहित। परमात्मा की बनायी सृष्टि सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से युक्त है, लेकिन परमात्मा स्वयं इन तीनों गुणों से परे होने से निर्गुण कहा जाता है। निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त और केवल ज्ञान गम्य है। सगुण व्यक्त तथा गुणों से संयुक्त है। गीता के कथनानुसार निर्गुण की उपासना क्लिष्ट है और सगुणोपासना सरल है। आदि शंकराचार्य ने ब्रह्म को निराकार, निर्गुण, समस्त भेदों से रहित, सर्वोपाधि विनिर्मुक्त और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला स्वीकार किया है। उपनिषद् में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उस ब्रह्म को शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से रहित नित्य तथा अविनाशी स्वरूप वाला वर्णित किया गया है-**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्** (कठ० १.३.१५)। ब्रह्म के निराकार, निर्गुण स्वरूप को मुण्डकोपनिषद् में उपन्यस्त किया गया है। वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण तथा चक्षुः, श्रोत्र और हाथ-पैरों से रहित है-**यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्** (मुण्ड०१.१.६)। ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप अनिर्वचनीय है, अतः उपनिषदों में उसका निरूपण करते हुए **'नेति-नेति'** (बृह० २.३.६) कहा गया है। सगुण ब्रह्म को माया की उपाधि से युक्त माना गया है। सगुण उपासना में अवतारों की प्रधानता है। ईश्वर ही जब मायोपहित देह के द्वारा आविर्भूत होते हैं, तो उसे अवतार कहते हैं। यह दृश्यमान जगत् भी सगुण ब्रह्म का रूप माना जाता है।

११०. निर्विकल्पक — द्र०-समाधि।

१११. निष्काम कर्म — शास्त्रों में निष्काम कर्म की महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित हुई है। निष्काम कर्म का तात्पर्य

है- कामना रहित कर्म। श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्म का आदेश है। इसमें फल की इच्छा के बिना कर्म किया जाता है। अपने कर्म को अपने उपास्य के चरणों में अर्पित कर दिया जाता है। निष्काम कर्म करने वाले के हृदय में परमात्मा प्रवेश करता है तथा उसे भक्ति एवं मोक्ष प्रदान करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा होता है, पुरुष के ऊपर कर्म का आरोप मिथ्या है। जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता। मनुस्मृति के अनुसार संसार में कहीं भी कामना के बिना कोई क्रिया नहीं दिखाई देती। मनुष्य कामनाओं की प्रेरणा से ही कर्म करता है (मनु०स्मृ०२.४); परन्तु कामनाओं के पथ पर भटकते मनुष्य भगवत्प्राप्ति जैसे दिव्य उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर पाते, उसके लिए तो निष्काम कर्म ही प्रतिपादित किया गया है।

११२. पञ्चकोश— वेदान्त में मनुष्य शरीर के पाँच कोशों का वर्णन किया गया है- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश। स्थूल शरीर में अन्नमय कोश, सूक्ष्म शरीर में प्राणमय कोश, मनोमय एवं विज्ञानमय तथा कारण शरीर में आनन्दमयकोश अवस्थित है। मन के साथ पंच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से मनोमय कोश तथा बुद्धि के साथ पंच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से विज्ञानमय कोश बनता है। पाँच प्राणों तथा कर्मेन्द्रियों के मेल से प्राणमयकोश बनता है। प्राणमय कोश क्रियाशक्ति से सम्पन्न तथा कर्मरूप है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से सम्पन्न और कारण रूप है। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से सम्पन्न और कर्त्तृरूप है। आनन्दमयकोश में मनुष्य समाधि का अभ्यास करके अपने मूल स्वरूप में आ जाता है। सर्वसारोपनिषद् के अनुसार अन्न से बनने वाले कोशों के समूहरूपी शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। प्राण आदि चौदह प्रकार की वायु इस अन्नमय कोश में संचार करते हैं, तब उसे प्राणमय कोश कहते हैं। इन दो कोशों के भीतर मन आदि चौदह इन्द्रियों द्वारा जब आत्मा शब्दादि विषयों का विचार करता है, तब उसे मनोमय कोश कहते हैं। आत्मा इन तीनों कोशों के साथ संयुक्त होकर बुद्धि द्वारा जो कुछ जानता है, उसका बुद्धियुक्त स्वरूप विज्ञानमय कोश है। इन चारों कोशों के साथ आत्मा बरगद के बीज के वृक्ष की भाँति अपने कारण स्वरूप अज्ञान में रहता है, उसे आनन्दमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश को विकसित करने के उपाय १. उपवास, २. आसन, ३. तत्त्व शुद्धि और ४. तपश्चर्या मुख्य हैं। प्राणमय कोश के लिए १. बन्ध, २.मुद्रा तथा ३. प्राणायाम किया जाता है। मनोमय कोश की साधना हेतु १. ध्यान, २. त्राटक, ३. जप और ४. तन्मात्रा की साधना करते हैं। विज्ञानमय कोश की पुष्टि के लिए १. सोऽहम् साधना २. आत्मानुभूति, ३. स्वर-संयम और ४. ग्रन्थि भेदन करते हैं। आनन्दमय कोश के विकास के लिए १. सहज समाधि, २. नाद साधना, ३. बिन्दु साधना तथा ४. किरण या कला साधना का प्रयोग करते हैं।

११३. पञ्चप्राण— द्र० - प्राण।

११४. पञ्चविध मुक्ति— जीवात्मा जब इष्ट देव या ब्रह्म के लोक, रूप, योग, निकटता या एकत्व को प्राप्त करता है, तो यह मुक्ति की अवस्था कही जाती है। यह मुक्ति पञ्चविध मान्य है- सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य और कैवल्य। मुक्त जीव जब इष्टदेव के साथ एक लोक में वास करता है, इसे सालोक्य मुक्ति कहा गया है। उपासक जब अपने उपास्य के रूप में रहते हुए उसी के रूप को प्राप्त कर लेता है, इस समान रूप होने के भाव या सरूपता को सारूप्य मुक्ति कहते हैं। मुक्त जीव जब भगवान् के पास वास करता है, तो उस मुक्ति को सामीप्य कहा गया है और जिसमें जीव परमात्मा में लीन हो जाता है या योग को प्राप्त करता है, तो यह मुक्ति सायुज्य कही जाती है। अविद्या, त्रिविध दुःखों तथा अहंकार आदि से निवृत्ति की विशुद्ध स्थिति को कैवल्य मुक्ति कहा गया है। मुक्तिकोपनिषद् में भगवान् श्रीराम का कथन है कि दुराचार में लगा हुआ व्यक्ति भी मेरा नाम स्मरण करने से सालोक्य मुक्ति को प्राप्त होता है, वहाँ से वह अन्य लोकों में नहीं जाता- **दुराचाररतो वापि मन्नामभजनात्कपे। सालोक्य मुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्** (मुक्ति० १.१८-१९)। पाप समूह के नष्ट होने पर वह मेरे सारूप्य-समान रूप को प्राप्त होता है-**निर्धूताशेषपापौघो मत्सारूप्यं भजत्ययम्** (मुक्ति० १.२१)। जो द्विज सदाचार में रत रहकर नित्य अनन्य भाव से मेरा ध्यान करता है और सर्वात्म भाव से मेरा भजन करता है, वह मेरे सामीप्य को प्राप्त होता है- **सदाचाररतो भूत्वा द्विजो नित्यमनन्य धीः। मयि सर्वात्मके भावो मत्सामीप्यं भजत्ययम्** (मुक्ति०१.२२-२३)। वह द्विज जब भ्रमरकीट के समान सम्यक् रूप से मेरे सायुज्य को प्राप्त होता है, तब वह कल्याणकारी और ब्रह्मानंद को प्रदान करने वाली सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होता है- **मत्सायुज्यं द्विजः सम्यग्भजेद्भ्रमरकीटवत्। सैव सायुज्यमुक्तिः**

स्याद् ब्रह्मानन्दकरी शिवा। (मुक्ति० १.२४-२५)। कैवल्य मुक्ति पारमार्थिक रूप वाली है- **कैवल्य मुक्तिरेकैव पारमार्थिकरूपिणी** (मुक्ति० १.१८)।

११५. पञ्चाग्नि— अन्वाहार्यपचन, गार्हपत्य, आहवनीय, आवसथ्य और सभ्य संज्ञक ये अग्नियाँ पञ्चाग्नि कहलाती हैं। इनसे सम्बन्धित तत्त्वज्ञान को पञ्चाग्नि विद्या कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सूर्य, बादल, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री संबन्धी तात्त्विक ज्ञान पञ्चाग्नि विद्या है। वायु पुराण (१०६.४१-४२) के अनुसार दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य-ये पाँच अग्नियाँ हैं। मत्स्य पुराण (३५.१६) के अनुसार महाराजा ययाति ने पंच अग्नियों के बीच एक वर्ष तक तपस्या की थी। कठोपनिषद् (१.३.१) में पञ्चाग्नि सम्पन्न पुरुषों को 'पञ्चाग्नयः' कहकर सम्बोधित किया गया है। वह प्रसिद्ध तत्पुरुष वायुमंडल से संवृत, पञ्च अग्नियों से वेष्टित तथा मन्त्रशक्ति का नियामक है- **पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम्** (पं० ब्र० १०)।

११६. परब्रह्म —द्र०-ब्रह्म।

११७. परमगति— जब साधक आत्म तत्त्व या आत्मा में अवस्थित परमात्म तत्त्व की अनुभूति कर उसी में स्थिर हो जाता है, तो साधक की वह अवस्था परम गति कहलाती है। इसे मोक्ष या मुक्ति की अवस्था भी कहते हैं। कठोपनिषद् के अनुसार जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परमगति कहते हैं- **यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्** (कठ० २.३.१०)।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है- **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्** (गी० ८.१३)।

११८. परमपद— परम पद का शाब्दिक अर्थ है- सबसे श्रेष्ठ पद या सर्वोत्कृष्ट स्थान। इसे मोक्ष या मुक्ति के अर्थ में भी लिया जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व (४७.३७) में श्री कृष्ण भगवान् को ही 'परमपद' कहकर निरूपित किया गया है। परब्रह्म का निवास जहाँ माना गया , उसे 'परमपद' कहा गया है। मनुष्यों के अन्दर हृदयाकाश में परमात्मा का निवास है, अतः वह भी परमपद है- **लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे** (कठ० १.३.१)। परम पद वह पद है, जहाँ से जीवात्मा पुनः लौटकर जन्म नहीं लेता। विवेकशील संयत मन वाला पवित्र साधक ही उस पद को प्राप्त करता है- **यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते** (कठ० १.३.८)। गीता में भगवान् उपदेश करते हैं कि जिसे वेदविद् अक्षर कहते हैं, जिसमें रागमुक्त यति प्रवेश करते हैं, जिसको चाहने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, मैं उस परमपद का वर्णन करूँगा-**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये** (गी० ८.११)।

निरालम्ब उपनिषद् के अनुसार प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से भिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप और नित्य मुक्त ब्रह्म का स्थान 'परमपद' कहलाता है- **प्राणेन्द्रियाद्यन्तः करणगुणादेः परतरं सच्चिदानन्दमयं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम्** (निरा० ३६)।

११९. परमात्मा—वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। वह नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य संकल्प वाला है। वह सम्पूर्ण सृष्टि को चलाने वाला परमात्मा एक है, जबकि जीवात्मा अगणित हैं। सर्वोपरि या विशुद्ध आत्माओं के समूह को परमात्मा स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन के अनुसार जो सबका द्रष्टा, भोक्ता, सबको जानने वाला और सबके सुख-दुःख विषयादि का अनुभव करने वाला है, वह परमात्मा है- **सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी परमात्मा।**

महाभारत में वर्णन मिलता है कि जब आत्मा प्रकृति (शरीर) में बद्ध रहता है, तब उसे जीवात्मा कहते हैं और वही प्राकृत गुणों या शारीरिक गुणों से मुक्त होने पर परमात्मा कहलाता है- **आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः** (महा०)। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, उत्तम पुरुष तो अन्य है, जो परमात्मा कहलाता है, वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में संव्याप्त होकर (लोकों का) भरण-पोषण करता है- **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः** (गी०१५.१७)।

वह श्रेष्ठ पुरुष इस शरीर में उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी है- **उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः** (गी०१३.२२)।

१२०. परा-अपरा विद्या— परा का सामान्य अर्थ है- जो सबसे परे हो या श्रेष्ठ, उत्तम। परा विद्या- वह विद्या है जो अव्यक्त अगोचर का ज्ञान कराती है। उपनिषद् विद्या को भी परा विद्या कहा गया है। ब्रह्मवेत्ता कहते आये हैं कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं- परा विद्या और अपरा विद्या-**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च** (मुण्ड० १.१.४)। ऋक्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प आदि अपरा विद्या है और अविनाशी ब्रह्म से सम्बन्धित विद्या परा विद्या है- **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः ... परा यया तदक्षरमधिगम्यते** (मुण्ड० १.१.५)।

१२१. परिभू —द्र०- स्वयम्भू।

१२२. परिव्रज्या-परिव्राजक— धर्म प्रचार, विद्या विस्तार तथा जन-जागरण के विराट् उद्देश्य से परिभ्रमण करना परिव्रज्या कहलाता है। परिव्रज्या करने वाला वानप्रस्थी या संन्यासी या त्यागी पुरुष परिव्राजक या परिव्राट् कहलाता है। यह अपना समय ध्यान, चिन्तन, तप-तितिक्षा एवं लोक कल्याण में ही लगाता है। सादा जीवन और उच्च विचार इनका प्रमुख सिद्धांत रहा है। नारद को सब परिव्राजकों में श्रेष्ठ माना गया है, जो सब लोकों में भ्रमण करते थे- **अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचारं कुर्वन्** (ना०प० १.१)। परिव्रज्या का एक अर्थ संन्यास भी लिया जाता है। उपनिषद् में निर्देश है कि ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थी होना चाहिए; गृहस्थी होकर वानप्रस्थी होना चाहिए। वानप्रस्थी होकर परिव्राजक (संन्यासी) होना चाहिए; परन्तु अन्य प्रकार से (वैराग्य होने पर) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ किसी से भी परिव्राजक होना चाहिए- **ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा** (जाबा०४.१)। परिव्राजक चार प्रकार के होते हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस-**परिव्राजका अपि चतुर्विधा भवन्ति-कुटीचका बहूदका हंसाः परमहंसाश्चेति** (आश्र०४)।

१२३. पर्जन्य— सामान्यतया पर्जन्य का अर्थ मेघ, बादल या वर्षा से लिया जाता है। कहीं-कहीं इन्द्रदेव, सूर्यदेव या विष्णुदेव के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। पर्जन्य देव को वैदिक देवताओं में परिगणित किया गया है। ये एक अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं। पर्जन्य वर्षण की सभी लोग कामना करते हैं- **निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु** (तै०सं०७.५.१८.१)। पर्जन्य को अग्नि भी कहा गया है- **पर्जन्यो वा अग्निः** (शत०ब्रा०१४.९.१.१३)। प्रजापति ही पर्जन्य होकर प्रजाओं के पिता (पोषक) बने- **पर्जन्यो भूत्वा (प्रजापतिः) प्रजानां जनित्रमभवत्** (जै०ब्रा०१.३१४)।

१२४. पवमान— पवमान शब्द 'पवित्रकारक' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सोम 'पवित्रकारक' होने से 'पवमान' विशेषण से प्रायः निरूपित किया गया है। स्तोत्रादि का भी विशिष्ट अंश 'पवमान स्तोत्र' कहलाता है। प्रवाहित होने या प्रवहमान अर्थ में भी यह प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि प्रवहमान वायु को भी पवमान कहा गया है- **अयं वाव यः (वायुः) पवते स पवमानः** (काठ० सं०२२.१०), **अयं वायुः पवमानः** (शत०ब्रा०२.५.१.५)। अग्नि, वायु, आदित्य, सोम, प्राण और यज्ञ ये सब पवित्रकारक होने से पवमान कहे गये हैं- **त्रयो ह वा एते समुद्रायत् पवमानाः अग्निर्वायुरसावादित्यः** (जैमि०ब्रा०१.२७४), **सोमो वै पवमानः** (शत०ब्रा०२.२.३.२२), **प्राणो वै पवमानः** (शत०ब्रा०२.२.१.६), **पवमानो वाव यज्ञः** (जै०ब्रा०१.११९)।

१२५. पाप-पुण्य— किसी कर्म में अनिष्ट साधनों या भावनाओं का प्रयोग करना पाप कहलाता है। दूसरे शब्दों में बुरा या अशुभ कृत्य, जिससे मनुष्य बुरी गति को प्राप्त होता है, पाप कहलाता है। इसका विपर्याय पुण्य है। झूठ, पाप, तमस् और उन्माद- ये जीव को अमृत से दूर मृत्यु की ओर ले जाते हैं- पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति और पाप से नरक की प्राप्ति की मान्यता है। उपनिषद् के अनुसार सत्पुरुषों का संसर्ग स्वर्ग (पुण्यदायी) और असत् सांसारिक विषयों एवं संसारी जनों का संसर्ग ही नरक (पापदायी) है- **स्वर्ग इति च सत्संसर्गः स्वर्गः। नरक इति च असत्संसारविषयजनसंसर्ग एव नरकः** (निरा०१६-१७)। सतोगुणी कर्मों से पुण्य तथा तमोगुणी कर्मों से पाप की प्राप्ति होती है अथवा धर्म से पुण्य तथा अधर्म से पाप की प्राप्ति होती है। पाप-पुण्य की सरल परिभाषा निम्नांकित श्लोक में है, जिसमें कहा गया है कि परोपकार करना, दूसरों की भलाई करना, पुण्य है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाना-दुःखी करना पाप है- **अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥**

१२६. पितर— द्र०-पूर्वज।

१२७. पुत्रैषणा—द्र०- एषणा त्रय।

१२८. पुनर्जन्म— मृत्यु के बाद पुनः शरीर धारण करने को पुनर्जन्म कहा जाता है। गीता में कहा गया है कि जन्मने वाले की मृत्यु सुनिश्चित है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है- **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गी०२.२७)। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही देहधारी (आत्मा) पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को पाता है- **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही** (गी०२.२२)। कर्मफल एवं आसक्ति के अनुसार जीवात्मा को विविध योनियों में बार-बार जन्म-मरण चक्र में फँसना पड़ता है। विविध लोकों में कर्मफल को भोगकर फिर उसे इसी लोक में पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। गीता में भगवान् ने कहा है-हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक सारे लोक पुनरावृत्ति वाले हैं, परंतु मुझको पाकर पुनर्जन्म नहीं होता- **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते** (गी०८.१६)।

१२९. पुराण— पुराण शब्द का सामान्य अर्थ है- पुरातन या प्राचीन। पुराणकालीन महात्माओं, राजाओं, देवों, पुरुषों के वृत्तान्त जो परम्परागत रूप में चले आते हों; उन्हें भी पुराण कहते हैं। पुराण अट्ठारह हैं। पुराणों के नामों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है- **मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक्** (दे०भा०१.३.२)। अर्थात् मद्वय (मत्स्य, मार्कण्डेय), भद्वय (भागवत, भविष्य), ब्रत्रय (ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड), वचतुष्टय (वाराह, विष्णु, वामन, वायु), अनापलिंगकूस्क (अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म और स्कन्द) अट्ठारह पुराण कहे गये हैं। अट्ठारह उपपुराण भी प्रसिद्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं - सनत्कुमार, नृसिंह, बृहन्नारदीय, शिव, दुर्वासा, कापिल, मानव, औशनस, वारुण, कालिका, साम्ब, नन्दिकेश्वर, सौर, पाराशर, आदित्य, ब्रह्माण्ड, माहेश्वर, देवीभागवत। पुराणों के पाँच लक्षण माने गये हैं- **सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्** (ब्र० वै० पु० श्री कृष्ण जन्म० ४.१.३.७)। शिवपुराण के रेवा माहात्म्य में वर्णन है कि अट्ठारह पुराणों के वक्ता सत्यवती व्यासदेव हैं । पुराण और स्मृति ग्रन्थ दोनों ही अठारह प्रसिद्ध हैं- **वायुपुत्र महाबाहो किं तत्त्वं ब्रह्मवादिनाम्। पुराणेष्वष्टादशसु स्मृतिष्वष्टादशस्वपि** (रा०र० १.२)। परमात्मा को सबसे प्राचीन होने के कारण पुराण पुरुष कहा गया है, वह सबकी हृदय गुहा में संव्याप्त होकर छिपा हुआ है- **तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्** (कठ० १.२.१२)।

१३०. पुरुष-परम पुरुष— 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति '**पुरि शेते इति**' (पुर अर्थात् शरीर में शयन करता है) की गयी है। इस अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति पुरुष है, वह चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष। वह दिव्य पुरुष-परम पुरुष प्राणियों की देह के मध्य भाग में अवस्थित रहता है। वह अङ्गुष्ठमात्र परिमाण का पुरुष धूम्ररहित ज्योतिरूप में स्थित रहता है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** (कठ०२.१.१२-१३)। अव्यक्त शक्ति (प्रकृति) से श्रेष्ठ वह परम पुरुष अत्यन्त व्यापक और आकाररहित है, जिसे जानकर जीव बन्धनमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त करता है- **अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति** (कठ०२.३.८)। वही परम पुरुष तीन रूपों में प्रकट हुआ-आत्मा, अन्तरात्मा (जीवात्मा) और परमात्मा कहलाता है- **त्रिविधः पुरुषोऽजायता ऽऽत्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति** (आत्मो०१)। वह विराट् स्वरूप आदित्य के सदृश प्रकाशस्वरूप है- **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्** (श्वेता०३.८)। वह पुरुष सोलह कलाओं से युक्त है- **षोडशकलः सोम्य पुरुषः** (छान्दो०६.७.१)। वह दिव्य पुरुष यज्ञरूप है, संकल्परूप है- **पुरुषो वाव यज्ञः** (छान्दो०३.१६.१), **अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः** (छान्दो०३.१४.१)। वह पुरुष अविनाशी और अमृतस्वरूप आत्मारूप है- **यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा** (मुण्ड०१.२.११)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०.९०) में आदि पुरुष की कल्पना विराट् पुरुष अथवा विश्वपुरुष के रूप में की गयी है।

१३१. पुरुषसूक्त— ऋग्वेद के दसवें मण्डल के नब्बेवें सूक्त को अथवा यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय के १६ मन्त्रों के समूह को जिसका प्रारम्भ '**सहस्त्रशीर्षा**' से होता है, पुरुष सूक्त कहते हैं। इसमें विराट् नारायण पुरुष की स्तुति की

गयी है। मुद्गलोपनिषद् के प्रथम खण्ड में पुरुषसूक्त द्वारा प्रतिपादित अर्थ निर्णय का विवेचन किया गया है- **पुरुषसूक्तार्थं निर्णयं व्याख्यास्यामः** (मुद्ग०१.१)। व्याख्या के अन्त में निरूपण है कि पुरुषसूक्त का ज्ञाता मुक्ति अवश्य प्राप्त करता है- **य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति**। (मुद्ग० १.९)

१३२. पुरोनुवाक्या— यज्ञों में तीन प्रकार की आहुतियों में से एक पुरोनुवाक्या आहुति दी जाती है। यह आहुति जिस ऋचा को पढ़कर दी जाती है, उस ऋचा को भी पुरोनुवाक्या कहकर स्वीकार किया गया है। इन ऋचाओं को पृथ्वी, प्राण और भ्रातृव्य देवता से सम्बद्ध किया गया है- **पृथिवीलोकमेव पुरोऽनुवाक्यया** (शत० ब्रा० १४.६.१.९), **प्राण एव पुरोऽनुवाक्या** (बृह० ३.१.१०), **भ्रातृव्यदेवत्या वै पुरोनुवाक्या** (तै०सं० १.६.१०.४)।

१३३. पूर्वज-गोत्रज—पूर्वकाल में उत्पन्न पुरुषों को पूर्वज कहा जाता है। बाप, दादा, परदादा आदि ऊपर की पीढ़ियों में उत्पन्न पुरुषों को पूर्वज या पितर कहते हैं। अपने ही गोत्र या वंश में उत्पन्न पुरुषों को गोत्रज या वंशज कहा गया है। सभी मनुष्य मान्य ऋषियों की संतान-परम्परा के हैं। अपने कुल या वंश के आदिपुरुष-ऋषि के नाम से वंशसंज्ञा को गोत्र कहा गया है। सभी के गोत्र प्रवर्तक कोई न कोई ऋषि ही हैं। कभी-कभी शिष्य अपने गुरु के गोत्र को ही अपना गोत्र स्वीकार करता है। पूर्वजों या पितरों के नाम पर श्राद्ध (स्वधा) या जलदान तर्पण किया जाता है- **स्वधां पितृभ्यः** (छान्दो० २.२२.२)। उपनिषद् का कथन है कि जो मनुष्यों के सौ आनन्द हैं, वे पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों का एक आनन्द है- **अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः। स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः** (बृह० ४.३.३३)।

१३४. प्रकृति-पुरुष— सांख्य दर्शन में प्रमुख रूप से पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व माने गये हैं। प्रकृति अव्यक्त है, वही व्यक्त होने पर जगत् का रूप ले लेती है। प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति का क्रम निम्न प्रकार प्रतिपादित है- प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि), महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्चतन्मात्रा से एकादश इन्द्रिय और उनसे फिर पञ्चमहाभूत। इन चौबीसों तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति हुई। इसी क्रम से सारा जगत् फिर नष्ट होकर अपने मूल प्रकृति रूप में आ जाता है। प्रकृति की उत्पत्ति उस अविनाशी पुरुष से ही होती है। उपनिषद् के अनुसार जैसे मकड़ी तन्तु-जाल को उत्पन्न करती है और अपने में ही समेट लेती है, जैसे पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर पुरुष से यह विश्व उत्पन्न होता है- **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्** (मुण्ड० १.१.७)।

प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। प्रकृति और पुरुष पृथक्-पृथक् होकर कर्म नहीं कर सकते। पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृतिजन्य गुणों का उपभोग करता है-**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्** (गी० १३.२१)। गीता में भगवान् ने कहा है कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनादि हैं और प्रकृति से ही समस्त गुण और विकार उत्पन्न हुए हैं- **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥** (गी० १३.१९) प्रकृति सत्, रज और तम तीनों गुणों की साम्यावस्था है- **साम्यावस्था प्रकृतिः** (सां०द० १.६१)। प्रकृति को पुरुष की ही महाशक्ति माना गया है। मूल सूक्ष्म प्रकृति ही घनीभूत होकर स्थूल हो जाती है और सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों की रचना करती है। गीता के अनुसार भगवान् की प्रकृति आठ भेदों में विभाजित है- **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा** (गी० ७.४)। प्रकृति क्रियाशील और पुरुष निष्क्रिय द्रष्टा है। इस सम्पर्क से पुरुष में जो भ्रम उत्पन्न होता है, उसके कारण पुरुष प्रकृति के कार्यों का अपने ऊपर आरोपण कर लेता है और इससे उनके परिणामों से उत्पन्न सुख-दुःख भोगता है।

१३५. प्रज्ञा-प्रज्ञान— प्रज्ञा का सामान्य अर्थ है- प्रकृष्ट ज्ञान या श्रेष्ठ बुद्धि। विवेकवान्, विद्वान् या चैतन्य पुरुष को प्रज्ञान कहा गया है। अन्तर्दृष्टि या अनुभूति के द्वारा आत्मा या परमात्मा के सम्बन्ध में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे भी प्रज्ञा या प्रज्ञान कहते हैं। बुद्धि का परिष्कृत रूप जिसमें दूरदर्शिता तथा विवेकशीलता भी समाविष्ट है, 'प्रज्ञा' रूप में मान्य है। उपनिषद् के अनुसार जिससे बौद्धिक वृत्तियों को, ज्ञातव्य विषयों को, कामनाओं को ग्रहण करते हैं, उसे प्रज्ञा कहते हैं- **केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति। प्रज्ञयेति ब्रूयात्** (कौ० ब्रा० १.७)। प्रज्ञा को निर्विकल्प और चिन्मात्रा वृत्ति से सम्बद्ध किया गया है-**निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते** (अध्या० ४४)। प्राण को भी प्रज्ञा से सम्बद्ध किया गया है। **यो वै प्राणः सा प्रज्ञा** (कौ० ब्रा० ३.३)। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में

'प्रज्ञा' के कार्य व्यवहार को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। प्रज्ञा से मनुष्य सत्य और संकल्प शक्ति को धारण करता है- **प्रज्ञया सत्यं संकल्पम्** (कौ० ब्रा० ३.२)। प्रकृष्ट ज्ञान को प्रज्ञान कहते हैं। प्रकृष्ट ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है, क्योंकि ब्रह्म की ही त्रैकालिकी सत्ता है और वही ज्ञान का परमलक्ष्य है। उपनिषद् ग्रन्थों में इसीलिए प्रज्ञान को ब्रह्म का पर्याय माना गया है- **प्रज्ञानं ब्रह्म** (शु०र० २.१, आ०बो० १.१)।

१३६. प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठा शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- स्थापना, स्थान, गौरव, कीर्ति, आदर, निवास, आधार आदि। उपनिषद् में वर्णित है कि जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह इस लोक और परलोक में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है- **यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च। चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा** (छान्दो० ५.१.३)। जब साधक उस परमात्मा की अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय, अनाश्रित, अभय, प्रतिष्ठा (स्थिति) को प्राप्त करता है, तब वह सर्वदा निर्भय पद को प्राप्त होता है- **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति** (तैत्ति० २.७.१)। चारों दिशाओं के सदृश प्रतिष्ठा भी चार प्रकार की मानी गयी है- **अथ याश्चतस्रः प्रतिष्ठा इमा एव ताश्चतस्रो दिशः** (जै० उ० १.२१.२)।

१३७. प्रत्यगात्मा— प्रत्यगात्मा शब्द दो शब्दों के मेल से बना है- प्रत्यक् +आत्मा। वह पुरुष जिसकी चित्तवृत्ति निर्मल हो चुकी हो, जो अपना स्वरूप समझने लगा हो, जिसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी हो, उसे प्रत्यगात्मा कहा गया है। यह शब्द विशुद्ध अन्तरात्मा या परमेश्वर के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् का कथन है कि कोई विरला धीर पुरुष ही अमरत्व प्राप्ति की इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर अन्तरात्मा (प्रत्यगात्मा) को देख पाया है- **कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्** (कठ० २.१.१)। सर्वसारोपनिषद् में प्रश्न है- प्रत्यगात्मा, परमात्मा और माया ये तत्त्व क्या हैं ? प्रत्यगात्मा को जीवात्मा के आशय से **त्वं** पद से निरूपित किया गया है। प्रत्यगात्मा अज्ञान, माया और शक्ति का साक्षीरूप है। मैं ही एक ब्रह्मरूप हूँ, इस प्रकार का भाव चिन्तन करते हुए वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है- **प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम्। एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम्** (कठ०रु० १६)।

१३८. प्रत्याहार— योग के अन्तर्गत योग के आठ अङ्गों का निरूपण शास्त्रों में दृष्टिगोचर होता है- **यमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** (यो०द० २.२९)। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। प्रत्याहार में चित्तवृत्तियों को या इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर चित्त को हर स्थिति में शान्त रखा जाता है। अपने चिन्तन को अनात्म पदार्थों से हटाकर आत्मा में लगाये रहना प्रत्याहार है। इसी तथ्य की पुष्टि अमृतनादोपनिषद् में होती है- **शब्दादि विषयान् पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्। चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते** (अमृ० ५)। योगी कुम्भक में स्थित होकर (प्राणायाम द्वारा प्राण को भीतर धारण किये रहना) इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाए, यह प्रत्याहार कहा जाता है। उस समय नेत्रों से जो कुछ देखे, उसे आत्मभावना से ग्रहण करे- **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम्। योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते। यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्** (यो०त० ६८-६९)। इस प्रकार के अभ्यास से योगी की चित्त शक्ति बढ़ती जाएगी। प्रत्याहार से इन्द्रियों के सांसर्गिक दोषों को तथा ध्यान से अनीश्वरीय गुणों को नष्ट किया जाता है- **प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्** (अमृ० ८)।

१३९. प्रमाद— प्रमाद का सामान्य अर्थ मानसिक आलस्य, शिथिलता या अक्रियता के रूप में लिया जाता है। कहीं इसे उन्माद, लापरवाही या आन्तरिक दुर्बलता कहकर निरूपित किया गया है। ब्रह्मनिष्ठों के लिए प्रमाद करना अनुचित है और ब्रह्मवादिन् के लिए विद्या में प्रमाद मृत्यु के सदृश कहा जाता है- **प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्त्तव्यः कदाचन। प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः** (अध्या० १४)। गीता में भगवान् ने प्रमाद को तमस् का रूप बताया है, जो जीवात्मा को बाँधता है- **तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत** (गी०१४.८)। मनुष्य का तमोगुण ही उसके ज्ञान को ढककर उसे प्रमाद में लगाता है- **ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत** (गी० १४.९)। रामानुजाचार्य ने कहा है- "कर्त्तव्य कर्म से भिन्न कर्म में प्रवृत्त करने वाली असावधानी का नाम प्रमाद है।" अर्थात् प्रमाद से कर्त्तव्यशीलता नष्ट हो जाती है, जो व्यक्ति को कल्याण मार्ग से च्युत कर देती है।

१४०. प्राज्ञ— वेदान्त दर्शन की मान्यतानुसार 'प्राज्ञ' जीव की एक संज्ञा है। शंकराचार्य के अनुसार 'परब्रह्म' ही देहेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि की उपाधियों से परिच्छिन्न होकर शरीरधारी जीव कहा जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि परब्रह्म (शुद्ध चैतन्य) ही अविद्या की उपाधि से युक्त होकर शरीरेन्द्रिय से परिच्छिन्न होकर 'जीव' कहलाता है। कुछ विद्वान् घटावच्छिन्न आकाश की तरह शरीरचित्तावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। 'जीव' का सम्बन्ध तीनों शरीरों १. स्थूल २. सूक्ष्म ३. कारण से होता है। अन्नादि से परिपोषित चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाला शरीर 'स्थूल-शरीर' कहलाता है। इस स्थूल के अन्दर ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों-प्राण, मन एवं बुद्धि का एक तन्त्र कार्य करता हुआ अनुभव में आता है-यह सूक्ष्म-शरीर है। सूक्ष्म शरीर को भी सक्रिय-गतिमान् करने वाला अज्ञानोपहित चैतन्य जो अहंकार आदि का कारण है, 'कारण शरीर' कहलाता है।

उक्त तीनों शरीरों से सम्बद्ध चैतन्य को तीन संज्ञाएँ प्रदान की गई हैं। स्थूल शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'विश्व', सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'तैजस' तथा कारण शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'प्राज्ञ' संज्ञा है। 'प्राज्ञ' संज्ञक अज्ञानोपहित चैतन्य मलिन सत्त्व प्रधान होने से अधिक प्रकाशक नहीं होता। यह आनन्दमय कोश से समन्वित है। सभी प्रपञ्चों (सक्रियता) का इसमें उपराम होने से इसकी सुषुप्ति अवस्था होती है। आनन्द की अनुभूति करने वाला चैतन्य यही 'प्राज्ञ' है।

१४१. प्राण-पञ्चप्राण— सूक्ष्म जीवनवायु के पाँच प्रकारों- प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान में से एक प्राण है। व्यापक रूप में प्राण शब्द ज्ञानेन्द्रिय या चेतना को प्रकट करता है। कभी-कभी यह शब्द केवल श्वास का साधारण अर्थ बोध कराता है। जिस आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति द्वारा जीवात्मा का दृश्य जगत् में देह से सम्बन्ध होता है, उसे प्राणशक्ति कहते हैं। यह प्राणशक्ति ही स्थूल प्राण (ऊर्ध्वगमनशील), अपान (अधोगमनशील), व्यान (सम्पूर्ण शरीर में गमनशील), उदान (उद्गिरणशील-उगलने की प्रवृत्ति) एवं समान (समान वितरणशील-रस, रक्त आदि का समान वितरण) की सञ्चालिका है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और स्थिति के मूल में उस प्राणशक्ति का ही साम्राज्य है। प्राण को साक्षात् ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है- **प्राणो वै ब्रह्म** (जै०उ०३.३८.२)। प्राण ही प्राणियों की आयु है-**प्राणो हि भूतानामायुः** (तैत्ति०२.३.१)। **प्राणा वै यशो वीर्यम्** (बृह०१.२.६), **यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः** (कौ०ब्रा०३.३)। आदित्य प्राणरूप ही है, क्योंकि वे ही प्राण बरसाते हैं- **आदित्यो ह वै प्राणः** (प्रश्न०१.५)। रथ के पहिए की नाभि में लगे अरों की भाँति प्राण में ही सब प्रतिष्ठित हैं- **अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्** (प्रश्न०२.६)। प्राण को ही इन्द्र तथा रुद्र रूप में परिरक्षक कहा गया है- **इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता** (प्रश्न०२.९)। नाग (डकार आना), कूर्म (पलक झपकना), कृकल (भूख लगना), धनञ्जय (समस्त शरीर का पोषण करना), देवदत्त (जँभाई आना)-ये पाँच उपप्राण कहलाते हैं।

१४२. प्रारब्ध— मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में नहीं। मनुष्य के सभी कर्म सञ्चित होते रहते हैं, जिसका फल उसे भविष्य में अवश्य भोगना पड़ता है। दूसरे कर्म वे हैं, जिसका फल वह वर्तमान में भोग रहा है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। जन्मभेद से कर्म के चार विभाग किये जाते हैं- सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण और भावी। प्रारब्ध कर्मों के फलभोग प्रारम्भ हो चुके होते हैं। इसे भाग्य या किस्मत भी कहते हैं। नादबिन्दूपनिषद् में वर्णन मिलता है कि जन्म-जन्मान्तरों के जो कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं- **कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्** (ना०बि०२३)। उपनिषद् का कथन है कि समस्त प्रारब्ध कर्मों को भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिए- **प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि** (ना०बि०२१)। तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध नहीं छोड़ता, किन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने से प्रारब्ध (ज्ञानी की दृष्टि में) नहीं रहता- **उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति। तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते** (ना०बि०२२)।

१४३. बन्धन— मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य का परम लक्ष्य है। इसके विपरीत मोक्ष प्राप्ति में बाधक सभी घटकों को बन्धन कहा गया है। सांसारिक विषयों, पदार्थों अथवा व्यक्तियों से अत्यधिक ममता या आसक्ति का होना बन्धन है। कामना से युक्त कर्मों को भी बन्धन रूप कहा गया है। विषय-विकारों तथा अहंभाव को बंधन माना गया है। निरालम्ब उपनिषद् में बन्धन रूप सभी तथ्यों को विस्तारपूर्वक उपन्यस्त किया गया है। अनादि अविद्या की वासना (संस्कार) द्वारा उत्पन्न इस प्रकार का विचार कि मैं हूँ (मैं ही जन्मता-मरता हूँ), यही बन्धन है। माता-पिता, भ्राता,

पुत्र, गृह, उद्यान तथा खेत आदि मेरे अपने हैं, इस प्रकार के सांसारिक आवरण स्वरूप विचार भी बन्धन रूप है। कर्त्तापन के अहंकार का संकल्प भी बन्धनरूप है। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त करने का सङ्कल्प भी बन्धन है। कामनापूर्ति के लिए सङ्कल्पपूर्वक की गयी उपासना भी बन्धन रूप है। यमादि अष्टाङ्ग योग का सङ्कल्प भी बन्धन ही है। वर्ण और आश्रम धर्म-कर्म के सङ्कल्प भी बन्धन स्वरूप हैं। आशा, भय, संशय आदि के सङ्कल्प भी बन्धन हैं। यज्ञ, व्रत, तप और दान के विधि-विधान तथा ज्ञान के सङ्कल्प भी बन्धन हैं। मोक्ष प्राप्ति का विचार करना भी बन्धन है। सङ्कल्प मात्र से जो कुछ सम्भव है, वह सभी बन्धनस्वरूप है (निरा०१८-२८)। गीता ३.९ में यज्ञार्थाय कर्म के अतिरिक्त अन्य सभी कर्मों को बन्धनस्वरूप माना गया है। उपनिषद् के अनुसार मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयों में आसक्त मन ही बन्धन का कारण है और विषय रहित मन मोक्ष का कारण है- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति** (मैत्रा०४.११)।

१४४. बलि— भूमि की उपज का वह अंश जो भूपति (कृषक) प्रतिवर्ष राजा को देता है, उसे बलि कहते हैं। उपहार या भेंट या देवता को दिया गया भोज्य पदार्थ भी बलि कहलाता है। पञ्च महायज्ञों में चौथा भूतयज्ञ भी बलि कहा जाता है। भूतबलि के अन्तर्गत पिपीलिका बलि, श्वानबलि, गो-बलि, काकबलि, देवबलि आदि हैं। श्राद्ध या पितरों को बलि देना पितृयज्ञ होता है। सम्पूर्ण प्रजा और सम्पूर्ण देवगण प्राणरूप ब्रह्म को बलि (भेंट) समर्पित करते हैं- **तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि** (प्र०२.७), **तथो एवास्मै (प्राणाय ब्रह्मणे) सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति** (कौ०ब्रा०२.१), **तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति** (कौ०ब्रा०२.१)। पके हुए अन्न में से एक अंश अग्नि आदि देवों को अर्पित करना बलिवैश्व कहलाता है। भूतयज्ञ को बलिवैश्व देव भी कहते हैं।

१४५. बुद्धि-धी— मनुष्य की वह शक्ति, जिसके द्वारा वह उपस्थित विषय के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय या निश्चय करता है। इसी को धीष्णा, धी,मति आदि भी कहते हैं। इसी के परिष्कृत स्वरूप को मनीषा कहते हैं। इसी के उत्तरोत्तर विकास क्रम में प्रज्ञा, मेधा, भूमा और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। बुद्धि को चैतन्य आत्मा का गुण माना जाता है। मनस्, इन्द्रियाँ और अहंकार बुद्धि के लिए कार्य करते हैं। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में सवितादेव से यह प्रार्थना की गयी है कि हम उस सविता के वरणीय भर्ग (पापनाशक तेजस्) को धारण करते हैं, वह देव हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे (ऋ० ३.६२.१०)। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने बुद्धि के सात्त्विकी, राजसी और तामसी- ये तीन भेद बताये हैं। अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। बुद्धि से मनुष्य समझता है। चित्त से चैतन्य होता है। अहंकार से अहंता का अनुभव करता है- **बुद्ध्या बुध्यति। चित्तेन चेतयति। अहंकारेणाहंकरोति** (ना०प०६.३)।

१४६. बोध-प्रतिबोध— ज्ञान, समझ या जानकारी के अर्थ में बोध शब्द प्रयुक्त होता है। सामान्यतया विशिष्ट अनुभूतिजन्य ज्ञान के अर्थ में भी बोध शब्द का प्रयोग होता है। आत्मबोध मनुष्य का परम लक्ष्य है। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार अहंभाव (सत्त्वभाव) और दयाभाव-यह ज्ञान की पराकाष्ठा है- **अहंभावो दयाभावो बोधस्य परमावधिः** (अध्या०४१)। वैराग्य का फल बोध होता है और बोध का फल चित्तशान्ति है-**वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्** (अध्या०२८)।

प्रतिबोध शब्द के पर्याय जागरण, ज्ञान, स्मरण आदि हैं। अन्तःप्रेरणा से प्राप्त बोध या अन्तःस्फुरणा से उत्पन्न ज्ञान के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं हुआ है। केनोपनिषद् में वर्णित है कि प्रतिबोध से उत्पन्न ज्ञान ही यथार्थ है,इसी से अमृतस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है- **प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते** (केन०२.४)।

१४७. ब्रह्म-परब्रह्म— वेदान्त दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति ही अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है- **बृंहति वर्द्धते निरतिशयमहत्त्वलक्षणवृद्धिमान् भवतीत्यर्थः** (शब्द०)। बृंह् धातु वर्धमान-वृद्धिमान् अर्थ में प्रयुक्त होती है, जो निरतिशय महत्त्व की दृष्टि से वृद्धिमान् है, वह ब्रह्म है, अर्थात् जो सत्ता सर्वत्र विद्यमान है-शाश्वत है-नित्य है-अपरिवर्तनशील है, वह 'ब्रह्म' है, इससे अतिरिक्त अन्य सभी नश्वर हैं- **ब्रह्मैव नित्यं वस्तु तदन्यदखिलमनित्यम्।**

ब्रह्म का स्वरूप प्रकट करने के क्रम में आचार्यों ने दो प्रकार के लक्षणों का उल्लेख किया है-१. स्वरूप लक्षण, २. तटस्थ लक्षण। जो लक्षण वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो और अन्यों से भेद करने वाला हो, वह स्वरूप लक्षण कहलाता है, जैसे- **'सच्चिदानन्दं ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुति वचनों में 'ब्रह्म' को सत्, चित्, आनन्द, सत्य, ज्ञानवान्, अनन्त तथा विज्ञानवान् (विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न) और आनन्दमय कहा गया है। ये विशेषताएँ ब्रह्म के अन्तर्गत हैं, अन्यत्र नहीं। अतः यह 'ब्रह्म' का स्वरूप लक्षण हुआ। जो लक्षण स्वरूप के अन्तर्गत न होने पर भी अन्य से भेद करने वाला हो, वह 'तटस्थ-लक्षण' कहलाता है, जैसे- **'जन्माद्यस्य यतः।** (ब्र० सू० १.१.२), **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म'** (तैत्ति० ३.१) इत्यादि श्रुति वचनों में 'ब्रह्म' को जन्म, स्थिति, प्रलय का निमित्त कारण कहा गया है, किन्तु वह स्वयं जन्म आदि से परे है और उसकी उक्त विशेषताएँ अन्यत्र कहीं हैं भी नहीं, अतएव यह (जन्मादि का निमित्त कारण होना) ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

इस प्रकार लक्षण के दोनों भेदों के आधार पर 'ब्रह्म' सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, सत्, चित्, आनन्द, जन्म, स्थिति, प्रलय का निमित्त कारण आदि विशिष्टताओं से मण्डित सिद्ध होता है। इस तथ्य का प्रतिपादन श्रुतिवचनों में प्रायः मिलता है, जैसे-- कठोपनिषद् में कहा गया है कि वह (ब्रह्म) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रहित है, अनादि है, अनन्त है, उसका साक्षात्कार करने वाला मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है- **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते** (कठो०१.३.१५)। उस नित्य, शुद्ध, मुक्त, अजन्मा परमतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने से हृदय की ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं, परिणामतः वह मुक्त हो जाता है-**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** (मुण्ड०२.२.८, महो०४.८२)। छान्दोग्य उपनिषद् में उस ब्रह्म तत्त्व की उपासना करने का निर्देश इस तथ्य के साथ दिया गया है कि वही सब जगह है, उसी से सभी जन्म पाते हैं, उसी में स्थित रहते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं - **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत** (छान्दो०३.१४.१)।

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं- १. कार्य ब्रह्म, २. कारण ब्रह्म। कारण ब्रह्म को ही परब्रह्म कहा गया है। पुरुष सूक्त के अनुसार-**''त्रिपादूर्ध्वऽउदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः''**। ब्रह्म का तीन चौथाई अंश जो अनन्त अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, जिसका इस सृष्टि से- विश्व ब्रह्माण्ड से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं, वह परब्रह्म कहलाता है। उसी का एक चौथाई अंश जो प्रत्यक्ष विश्व ब्रह्माण्ड में सक्रिय है, उसे ब्रह्म के रूप में जाना जाता है।

१४८. ब्रह्मचर्य— चारों आश्रमों में से प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम कहलाता है। उपनयन के अनन्तर बालक के वेदाध्ययन तक के समय को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचारी की यह व्युत्पत्ति-**ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचारी** -दोनों भावों को प्रकट कर देती है, जो ब्रह्म (वेद-परब्रह्म) के चिन्तन-मनन में तल्लीन होता है, वह ब्रह्मचारी होता है। वीर्यरक्षा या अष्टविध मैथुन से बचने का व्रत भी ब्रह्मचर्य है। अथर्ववेद के एक सूक्त ११.५ में ब्रह्मचारी के लिए प्रशंसापरक प्रतिपादन है। इसके प्रथम मन्त्र में वर्णन है कि ब्रह्मचारी भूमि तथा आकाश दोनों को हिलाता हुआ चलता है। देवता उसके अनुकूल होते हैं। वह पृथ्वी तथा द्युलोक को थामे हुए है। वह अपने तप से आचार्य को पुष्ट करता है। उपनिषद् का कथन है कि उस ब्रह्म को चाहने वाले साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं- **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति** (कठ० १.२.१५)। छान्दोग्य उपनिषद् (८.५.१) में ब्रह्मचर्य के विषय में प्रतिपादन है कि जिसे यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञाता है, वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ही उसे (आत्मतत्त्व को) प्राप्त होता है। जिसे इष्ट कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा पूजन करके पुरुष आत्मा को प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा ही देवों ने मृत्यु को जीत लिया है-**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत** (अथर्व० ११.७.१९)।

१४९. ब्रह्मजज्ञ— ब्रह्मजज्ञ का भावार्थ ब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि या रचना को जानने वाला है। अग्निदेव सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त हैं और वही इस सृष्टि के ज्ञाता हैं। कठोपनिषद् का कथन है कि साधक सृष्टि को जानने वाले स्तुत्य अग्निदेव को जानकर उसका निष्काम भाव से चयन करके अनन्त शान्ति को प्राप्त होते हैं-

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳशान्तिमत्यन्तमेति (कठ०१.१.१७)।

१५०. ब्रह्मनिष्ठ— द्र०-ब्रह्मविद्या।

१५१. ब्रह्मरन्ध्र— मस्तक या मूर्धा भाग के मध्य एक गुप्त छिद्र जिससे होकर प्राण निकलने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। योगियों के प्राण इसी छिद्र (रन्ध्र) से निकलते हैं। इसे मोक्ष द्वार कहा गया है, क्योंकि इसे बेधकर प्राण त्यागने से मुक्ति प्राप्त होती है। इसे सुषिर (छिद्रयुक्त, पोला) मण्डल भी कहा जाता है- **मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः** (अमृ० २६)। जिस साधक का प्राण इस मण्डल को भेदकर मूर्धा में पहुँच जाता है, वह जहाँ कहीं भी मृत्यु को प्राप्त होता है, पुनः जन्म नहीं लेता, अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र में नहीं फँसता- **यस्येदं मण्डलं भित्त्वा मारुतो याति मूर्धनि। यत्र-यत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते** (अमृ० ३९)।

१५२. ब्रह्मलोक— द्र०-देवयान।

१५३. ब्रह्मविद्या— उपनिषदों में मुख्यतः जिस विद्या का उल्लेख है, उसे ब्रह्मविद्या कहा जाता है। जिसका तात्पर्य है- ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या। ब्रह्म के जानने वाले को ब्रह्मविद् या ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। ब्रह्मविद्या के द्वारा 'हम सर्व हो जायेंगे', ऐसा मनुष्य मानते हैं- **तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते** (बृह०१.४.९)। ब्रह्मविद्या को सब विद्याओं की आधारभूता कहा गया है, जिसका उपदेश ब्रह्माजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को दिया- **स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह** (मुण्ड० १.१.१)। ब्रह्मविद्या के प्रति एकनिष्ठ पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है अथवा ब्राह्मणवृत्ति या ब्रह्मज्ञान से सुसम्पन्न पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं। अन्य विद्याओं का भली प्रकार प्राप्त हुआ ज्ञान भी नाशवान् है, किन्तु ब्रह्मविद्या का भली-भाँति ज्ञान स्थिर ब्रह्म को प्राप्त कराने में समर्थ है- **अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्। ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम्** (शु०र०)।

१५४. ब्रह्मवेत्ता— ब्रह्मवेत्ता का सामान्य अर्थ है- ब्रह्म को जानने या समझने वाला। ब्रह्म की सर्वत्र अनुभूति करने वाला। दूसरे अर्थ में वेदों के अर्थ के ज्ञाता को भी ब्रह्मवेत्ता कहा गया है। इन्हें ब्रह्मज्ञानी अथवा तत्त्वज्ञानी कहकर भी निरूपित किया जाता है, क्योंकि ये ब्रह्मतत्त्व के ज्ञाता होते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि स्थिर बुद्धि और मोह रहित ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित होते हैं- **स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः** (गी०५.२०)। जो कर्मयोगी आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, उसी में रमण करता है, वह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहा गया है- **आत्मक्रीडा आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः** (मुण्ड० ३.१.४)।

१५५. ब्रह्मा— ब्रह्म के तीन सगुण रूप माने गये हैं- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्म के सगुण रूपों में से एक रूप जो सृष्टि की रचना के लिए नियत है, उन्हें ब्रह्मा कहा गया है। पुराणों में वेदों के भी प्रकटकर्त्ता इन्हें ही माना गया है। यज्ञ के एक ऋत्विज् जिन्हें यज्ञ के प्रत्यक्ष संरक्षणकर्त्ता के रूप में नियत किया जाता है, उन्हें भी ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा को ही विधाता, पितामह, प्रजापति तथा हिरण्यगर्भ आदि विशेषणों से भी निरूपित किया गया है। पुराणों के अनुसार विष्णुदेव की नाभि से ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुए, इसलिए ये स्वयंभू कहलाये। सम्पूर्ण कलाएँ, विद्याएँ और ब्रह्माण्ड इन्हीं से प्रकट माना गया है। ब्रह्मा की पत्नी 'ब्रह्माणी' के रूप में मान्य हैं। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार देव ब्रह्मा सम्पूर्ण जगत् की रचना करने वाले और लोकों के रक्षक हैं, वे देवों में सबसे पहले प्रकट हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया- **ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह** (मुण्ड० १.१.१)।

१५६. ब्रह्माण्ड— धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः चौदह भुवनों का उल्लेख मिलता है। हम लोग जहाँ विद्यमान हैं, वह 'भू' लोक है। यह तथा इसके ऊपर सात लोक हैं तथा इसके नीचे सात लोक हैं। ये चौदह लोक मिलकर ब्रह्माण्ड कहलाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक रामतीर्थ ने लिखा है कि ब्रह्माण्ड में जो चौदह लोक हैं, उन्हें लोकालोक नामक पर्वत आवृत किये हुए हैं। इस पर्वत के बाहर की ओर पृथिवी है और पृथिवी के चारों ओर उसे समुद्र घेरे हुए हैं। इस प्रकार लोकालोक पर्वत से घिरे चौदह भुवन जिनके अन्तर्गत पृथिवी और समुद्र हैं- ये सब मिलकर एक ब्रह्माण्ड बनता है- **एत एव स्वावरण भूतलोकालोक पर्वततद्बाह्य पृथिवी तद्बाह्य समुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते** (वे० १६ विद्वन्मनोरंजिनी)।

'ब्रह्माण्ड' का परिमाण अतिबृहद् है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार है- यह लोक ३२ देवरथाह्न्य है। इस लोक को पृथिवी और पृथिवी को समुद्र घेरे हुए है। देवरथाह्न्य का तात्पर्य है एक दिन में सूर्य

रथ की गति। सूर्यरथ एक मुहूर्त (४८ मिनट) में चौंतीस लाख आठ सौ योजन (१ योजन=४ कोस, १ कोस=२ मील या तीन किलोमीटर) पार करता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड अत्यधिक बृहदाकार सिद्ध होता है।

१५७. ब्राह्मण— ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण कहा गया है। ब्रह्म का एक अर्थ वेद भी है, अतः वेदाध्यायी को भी ब्राह्मण कहा जाता है। सामान्यतः चतुर्वर्णों में प्रथम वर्ण ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण को पृथ्वी का देवता (भूसुर) भी कहा गया है। मनुस्मृति में ब्राह्मण के छः कर्त्तव्य बताए गये हैं- **अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्** (मनु० १.८८)। याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि जो इस अक्षर (अविनाशी स्वरूप आत्मा) को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है- **अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति, स ब्राह्मणः** (बृह०३.८.१०)। ब्राह्मण आत्मा को जानकर तीनों ऐषणाओं को त्यागकर भिक्षाचर्या से विचरते हैं- **एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति** (बृह०३.५.१)। चारों वर्णों को उत्पन्न करने वाले ब्रह्म (परमात्मा) देवों में अग्निरूप से ब्रह्मा हुए, मनुष्यों में ब्राह्मण हुए- **तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु** (बृह०१.४.१५)।

१५८. भर्ग— सूर्य के तेज, ज्योति, दीप्ति को भर्ग कहा गया है। यह भूनने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अतः पापों या विकारों को भूनने के उद्देश्य से साधक सूर्य के भर्गस्वरूप की उपासना करते हैं। भगवान् शिव, त्र्यंबक के लिए अमरकोश में 'भर्ग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। मैत्रायण्युपनिषद् में 'भर्ग' शब्द की व्याख्या इस प्रकार वर्णित है-भर्ग वही है, जो सूर्य में स्थापित है। आँख की पुतली में भी भर्ग नाम से यही रहता है। इसकी कान्ति से मनुष्य गति कर सकता है, अतः यह भर्ग है अथवा यह सबको तपाता है, इसी से यह भर्ग है। यह रुलाने वाला रुद्र है अथवा प्राणियों का रञ्जन करता है, इसलिए भर्ग है अथवा यह प्राणियों में जाता है, अतः यह भर्ग है अथवा इस जगत् में यह आता और जाता है अथवा प्रजा का धारण-पोषण करने से यह भर्ग है (मैत्रा० ५.७)।

१५९. भवबन्धन— द्र०- आवागमन -चक्र।

१६०. भूत— उपनिषद् आदि में भूत शब्द प्राणी अथवा जीव के लिए प्रायः प्रयुक्त हुआ है। अतीत, विगत या बीते समय के लिए भी 'भूत' का प्रयोग होता है। स्थूल जगत् के निर्माण में अव्यक्त प्रकृति से घनीभूत हुए पञ्चतत्त्वों को भी पञ्चमहाभूत कहा जाता है। जो प्राणी मृत्यूपरान्त सूक्ष्म शरीरधारण कर प्रेतयोनि में जाते हैं, उन्हें भी भूत कहते हैं। गीता में भगवान् कहते हैं- हे भारत! सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त हैं, बीच में व्यक्त होते हैं और मृत्यूपरान्त अव्यक्त हो जाते हैं- **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना** (गी०२.२८) ईशोपनिषद् में कहा गया है- जिस साधक को सभी प्राणी आत्मरूप अनुभूत होते हैं, उस एकत्व की अनुभूति करने वाले साधक को मोह-शोक नहीं रहता- **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः** (ईश० ७)।

१६१. भोक्ता—भोक्ता का सामान्य अर्थ है- भोग करने वाला, भोगने वाला, भोजन करने वाला, शासन करने वाला, अनुभूत या सहन करने वाला। कहीं अनादि प्रकृति को भोग्या और जीव को भोक्ता कहकर निरूपित किया गया है। इन्द्रियों को घोड़ा और विषयों को घोड़े चरने के मार्ग एवं शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ रहने वाले जीवात्मा को मनीषीगण भोक्ता कहते हैं-**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः** (कठ० १.३.४)। गीता में भगवान् कहते हैं, सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ- **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च** (गीता० ९.२४)। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जो भोग, भोक्ता और भोग्य है, वह सदाशिव, चैतन्यस्वरूप और विलक्षण साक्षीरूप मैं ही हूँ-**त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः** (कै० १८)।

भोक्ता, भोग्य और प्रेरक परमात्मा-इन तीनों का ज्ञान होने पर सब कुछ जान लिया जाता है। यह ब्रह्म इन तीन भेदों में वर्णित है- **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्** (श्वेता० १.१२)।

१६२. मनस् — पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों के साथ मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है; परन्तु यह शरीर के भीतर रहने वाली इन्द्रिय अन्तरिन्द्रिय है। मन अन्तःकरण की वह वृत्ति है, जिसके द्वारा सङ्कल्प और विकल्प किया जाता

है। **मनस्यति अनेन इति मनः** अर्थात् जिससे मनन किया जाय, वह मन है। कुछ विद्वानों ने मन को एक ज्ञानेन्द्रिय माना है, जिसके द्वारा सुख-दुःख आदि का बोध होता है- **सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियम् मनः** (तर्क भाषा)। गीता में मन को छठी इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है- **मनः षष्ठानीन्द्रियाणि** (गीता)। जो मन मनन करता है, वह वाणी व्यक्त करती है- **तद्यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति** (जैमि० १.४०.५)। मन ही देखता है, मन ही सुनता है। काम, सङ्कल्प, श्रद्धा आदि सब में मन ही कारणभूत है- **मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति। कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव** (बृह० १.५.३)। मन ही बन्धन और मोक्ष का भी कारण है- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** (मैत्रा० ४.४-ट)। शिवसङ्कल्पोपनिषद् के प्रत्येक मन्त्र में '**तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**' पद आया है, जिसका भाव है वह हमारा मन शिव-कल्याणकारी संकल्प से युक्त हो'। हमारा मन अनन्त सामर्थ्य से परिपूर्ण है- **अनन्तं वै मनः** (बृह०३.१.९)। सांख्य दर्शन के सिद्धान्तानुसार प्रकृति से महत् अथवा बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इससे पुनः अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। फिर अहङ्कार से मनस् की उत्पत्ति होती है। यह मनस् तत्त्व बुद्धि को बाह्यज्ञान की सूचना देता है, ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को बुद्धि तक पहुँचाता है।

१६३. मनीषी —द्र०- कवि।

१६४. मन्थ— 'मन्थ' धातु मथने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में एक पेय पदार्थ जिसमें कई पदार्थ मथ दिये जाते थे, मन्थ कहते थे। शाङ्खायन आरण्यक (१२.८) में सभी प्रकार के मन्थों का उल्लेख मिलता है। कोश ग्रन्थों में मन्थ शब्द 'मथना या बिलोना' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिलाना, मलना, ध्वस्त करना, कम्पन आदि इसके पर्याय हैं। दूध मिला हुआ सत्तू का पेय प्रायःमन्थ के रूप में प्रयुक्त होता था। घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के यन्त्र मन्था को भी मन्थ कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में अग्नि में आहुति डालकर संस्रव (स्रुवा से लगे हुए घृत) को मन्थ में डालने का निर्देश कई बार हुआ है- **अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति** (बृह०६.३.३)।

१६५. मन्यु-क्रोध— मन्यु शब्द के पर्याय हैं- स्तोत्र, कर्म, शोक, याग, क्रोध (अनीति के प्रति क्रोध), साहस, अहंकार आदि। शिव और अग्नि को भी मन्यु कहा गया है। इन्द्रदेवता ने मन्यु के द्वारा वृत्र का हनन किया- **मन्युना वृत्रहा** (तै०.सं० ४.४.८.१)। मन्यु के द्वारा संयुक्त होकर इन्द्र ने असुरों को मिटाया- **मन्युना वै युजेन्द्रोऽसुरानवाबाधत** (मै०ब्रा० ४.६.३)। मन्यु के द्वारा ही पराक्रम प्रेरित होता है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है- **मन्युना वै वीर्यं क्रियते, इन्द्रियेण जयति** (मै०ब्रा०२.२.१२)। वराह के क्रोध को मन्यु कहकर निरूपित किया गया है- **पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः** (तै० ब्रा० १.७.९.४)। क्रोध के विषय में महर्षि वाल्मीकि कहते हैं- वे श्रेष्ठ और महात्मा लोग धन्य हैं जो उठते हुए क्रोध को विवेक से वैसे ही दबा देते हैं, जैसे जलती आग को जल से (वा० सु०का० ५५.४)। क्रोध लोभ से उत्पन्न होता है तथा पराये दोष देखने से भड़कता है। हे राजन्! क्षमा द्वारा वह रुकता है तथा क्षमा से ही शान्त हो जाता है (महा० शा०प० १६३.७)।

१६६. मर्त्य— मर्त्य का सामान्य अर्थ मरणधर्मा या मरणशील है। मरने वाला या नश्वर जगत् मर्त्य है। अनेक स्थानों पर मनुष्य के लिए मर्त्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः मनुष्य लोक या भूलोक को मर्त्यलोक भी कहा गया है। मनुष्य लोक का निवासी यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणशील (मर्त्य) है, इस तथ्य को जानने वाला अमर-अजर देवात्माओं (अथवा आत्मा) का सङ्ग पाकर वैसा ही होता है-**अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन्** (कठ० १. १.२८)। यह मरणधर्मा मनुष्य धान्य की तरह पकता है और धान्य की तरह फिर उत्पन्न होता है- **सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः** (कठ० १. १.६)। जिस समय मनुष्य के हृदय में स्थित कामनाओं का नाश हो जाता है, उस समय मरणधर्मा मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है और यहीं उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है-**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति** (बृह०४.४.७)।

१६७. महात्मा— जिसकी आत्मा बहुत उच्च हो, जिसका स्वभाव, आचरण और विचार आदि बहुत उच्च हो, ऐसे महानुभाव को महात्मा कहा गया है। महादेव शिव के पर्याय के रूप में महात्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है। दर्शनशास्त्र में यह शब्द उच्च आत्मा, परमात्मा या विश्वात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। किसी सन्त या महापुरुष के लिए आदरवाचक अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। महात्मा यमराज ने नचिकेता की बुद्धि से प्रसन्न होकर वर दिया-

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः (कठ० १.१.१६)। महात्माजन दैवी प्रकृति के आश्रित होकर उस परमात्मा को भजते हैं- **महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः** (गी० ९.१३)।

१६८. महावाक्य— वेदान्त शास्त्र में जीव और ब्रह्म में ऐक्य प्रतिपादित करने वाले वाक्य महावाक्य कहलाते हैं। प्रमुख रूप से चार महावाक्य शुकरहस्योपनिषद् में वर्णित हुए हैं- **ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म॥ १॥ ॐ अहं ब्रह्मास्मि॥ २॥ ॐ तत्त्वमसि॥ ३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म ॥ ४॥** इसमें भगवान् शिव ने शुकदेव मुनि को षडङ्गन्यास पूर्वक महावाक्यों का उपदेश किया है। इसमें नमः, स्वाहा, वषट्, हुम्, वौषट्, फट्- इन छः बीजाक्षरों के साथ षट् करन्यास तथा षट् अङ्गन्यास सहित महावाक्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन दृष्टिगोचर होता है। तत्त्वमसि- यह महावाक्य अभेदवाचक है, जो इसका जप करते हैं, वे भगवान् शिव की सायुज्य मुक्ति के भाजक होते हैं- **तत्त्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जपन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तिभाजो भवन्ति** (शु०र०)। महावाक्य पदों का उपदेश- आत्मस्वरूप सूर्य प्रकाश के सदृश निरूपित हुआ है। उपनिषद् का कथन है कि अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि के कारण मैं अज्ञान के अन्धेरे में पड़कर 'मैं' 'मेरे' की मोहात्मक स्थिति में पहुँच गया हूँ। गुरुदेव द्वारा महावाक्य पदों का उपदेश प्राप्त कर आत्मस्वरूप सूर्य के प्राकट्य से मेरी निद्रा भंग हो गई है-**अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्। स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः** (शु०र०)।

१६९. मातरिश्वा— अन्तरिक्ष में प्रवहमान वायु का एक नाम मातरिश्वा है। कहीं-कहीं अग्नि को भी मातरिश्वा संज्ञा प्रदान की गई है। इसे प्राणदाता पितारूप में स्वीकार किया गया है- **व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः** (प्रश्न० २.११)। मातरिश्वा अप् (सृष्टि का मूल घटक) को धारण किये रहता है- **तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति** (ईश०४)। केनोपनिषद् में यक्ष को वायुदेव कहते हैं- मैं ही वायु हूँ और मैं ही मातरिश्वा के नाम से प्रसिद्ध हूँ-**वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति** (केन० ३.८)।

१७०. माया— द्र०-अविद्या।

१७१. मीमांसा— षड्दर्शनों में अन्तिम युग्म ''मीमांसा'' के दो भाग हैं- पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। मीमांसा का शाब्दिक अर्थ है- किसी तत्त्व का विचार, निर्णय या विवेचन। पूर्व मीमांसा में यज्ञपरक वेद वचनों की व्याख्या है, इससे इसे 'यज्ञविद्या' भी कहते हैं। उत्तर मीमांसा उपनिषद् भाग से सम्बन्धित है, अतः इसे वेदान्त कहते हैं। पूर्व मीमांसा सूत्र के प्रणेता जैमिनि ऋषि हैं। इसकी व्याख्या के रूप में कुमारिल भट्ट ने तन्त्र वार्तिक और श्लोकवार्तिक की रचना की है। माधवाचार्य ने जैमिनीय न्यायमाला विस्तार नामक एक भाष्य की रचना की है। प्रभाकर भी इसी मत के प्रमुख प्रतिपादक थे। बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया रूप में इन वेदज्ञों ने अपने धर्म को सुव्यवस्थित किया। पूर्व मीमांसा को कर्म प्रधान और उत्तर मीमांसा को ज्ञान प्रधान माना गया है।

१७२. मुक्ति-मोक्ष— मुक्ति शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने से होती है, जिसका अर्थ है-छुटकारा पाना। संसार के जन्म-मरण-बन्धन से छुटकारा मिलने की अवस्था मुक्ति कहलाती है। वासना, तृष्णा और अहंता या लोभ, मोह, अहंकार के बन्धनों से छुटकारा पाने की अवस्था भी मुक्ति कहलाती है। इसका दूसरा अर्थ ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति या मोक्ष है। ज्ञान और विद्या से ही साधक को मुक्ति मिलती है। मीमांसक कर्म को और भक्तिमार्गीय उपासना को मुक्ति का कारण मानते हैं। श्रवण,मनन, निदिध्यासन और समाधि-ये चार मुक्ति के साधन के रूप में प्रतिपादित हुए हैं। उपनिषद् में वर्णन है कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है- **ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्** (तै०उ०२.१)। साधक उस ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है- **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (श्वेता०३.८)। कर्म को बन्धन का कारण और ज्ञान को मोक्ष का संसाधक माना गया है। गीता में कहा गया है कि ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है- **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** (गी०४.३७)। वस्तुतः मनुष्य के बन्धन और दुःख का कारण अविद्या है, उसी की निवृत्ति को मुक्ति कहा गया है। जीव ब्रह्म है-**अयमात्मा ब्रह्म**; परन्तु अविद्या के कारण जीव ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य को भुला देता है। उपनिषद् के अनुसार नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार द्वारा अनित्य संसार के दुःख-सुख देने वाले सम्पूर्ण विषयों पर से ममता रूप बन्धन को नष्ट कर देना मोक्ष है- **मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तु विचारादनित्यसंसारसुखदुःखविषयसमस्त क्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः** (निरा०२८-२९)।

१७३. मुहूर्त— दिन-रात का तीसवाँ भाग या १२ क्षण या १२० पल या दो दण्ड या दो घड़ी या ४८ मिनट के काल को मुहूर्त कहते हैं। फलित ज्योतिष के अनुसार गणना करके निकाला हुआ कोई समय, जिस पर शुभ कार्य प्रारम्भ किया जाता है, मुहूर्त कहलाता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने दिन और रात्रि के १५-१५ भागों या मुहूर्तों को लोकम्पृणों के रूप में देखा। ये (देवों द्वारा) निरन्तर रक्षित होते हैं, इसलिए इनका नाम मुहूर्त (मुहुः+त्रायन्ते) है- **स (प्रजापतिः) पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यदात्मनस्तन्वो मुहूर्तांल्लोकम्पृणाः पञ्चदशैव रात्रेस्तद्यन्मुहुस्त्रायन्ते तस्मान्मुहूर्ताः** (शत०ब्रा०१०.४.२.१८)। एक दिन में ३० मुहूर्त होते हैं और एक संवत्सर या १२ मास में १०८०० मुहूर्त होते हैं।

१७४. मूढ़— नासमझ, जड़बुद्धि, अज्ञानी, मूर्ख व्यक्ति को मूढ़ कहा गया है। ऐसे व्यक्ति अपने हित या अनहित को नहीं समझ सकते। लोक प्रचलन जिस दिशा में हो, उसी दिशा में बह जाते हैं। कठोपनिषद् में वर्णित है कि अविद्या के भीतर रहकर भी अपने आपको बुद्धिमान् और विद्वान् मानने वाले मूढ़ लोग वैसे ही चारों ओर भटकते और ठोकर खाते रहते हैं, जैसे अन्धे के द्वारा ले जाये जाने वाला अन्धा व्यक्ति-**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः** (कठ०१.२.५)। कर्त्तापन आदि के अहंकार भाव पर आरूढ़ व्यक्ति मूढ़ है- **कर्त्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः** (निरा०३३)।

१७५. मृत्यु — द्र०-अमृत।

१७६. मेधा— **'धीर्धारणावती मेधा'** इस कोश वाक्य के अनुसार धारणा शक्ति से सम्पन्न बुद्धि का नाम मेधा है। स्मरण रखने की मानसिक शक्ति, प्रज्ञा या धारणा या उत्कृष्ट बुद्धि को भी मेधा कहा गया है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर मेधा प्राप्ति की प्रार्थनाएँ की गयी हैं। उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा न प्रवचन से, न मेधा से, न बहुत सुनने (शास्त्रादि) से प्राप्त होती है- **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन** (कठ०१.२.२३)। इन्द्रदेव से मेधा बुद्धि से सम्पन्न करने की प्रार्थना उपनिषद् में है- **स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु** (तैत्ति०१.४.१)। ओङ्कार को मेधा से ढकी हुई ब्रह्म की निधि कहा गया है- **ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः** (तैत्ति० १.४.१)। उस प्रजापति पिता ने मेधा और तप के द्वारा सात प्रकार के अन्नों को उत्पन्न किया- **यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता** (बृह०१.५.२)।

१७७. मोक्ष— द्र०-मुक्ति।

१७८. मोह-ममता-आसक्ति— मोह-ममता और आसक्ति ये प्रवृत्तियाँ प्रायः एक ही भाव में ली जाती हैं। गीता में मोह को तामसिक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है- **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन** (गी०१४.१३)। भगवान् ने गीता में (गी०२.५२) मोह को कीचड़ रूप कहा है, इसमें बुद्धि फँस जाती है तो और अधिक फँसती जाती है। व्यक्तिपरक अथवा प्राणिपरक लगाव को ममता कहते हैं और पदार्थपरक आकर्षण या लगाव को आसक्ति कहते हैं। मोह प्राणी अथवा पदार्थपरक दोनों हो सकता है। गीता ३.१९ में भगवान् ने अर्जुन को अनासक्त होकर कर्म करने का निर्देश दिया है। जब साधक अपने आत्मतत्त्व को सब भूतों में प्रकट हुआ जान लेते हैं, तब मोह और शोक से मुक्ति पाते हैं- **यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः** (ईश०७)। ममता होने में जीव रहता है। ममता के छूट जाने पर वह कैवल्यस्वरूप हो जाता है- **ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः** (यो०चू०८४)। यह कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय असार हैं, इनमें आसक्त हुआ भूतात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं याद रखता- **शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्** (मैत्रा०४.२)।

१७९. यक्ष— यक्ष एक प्रकार की अर्ध देवयोनि है। ये एक प्रकार के देवता हैं, जो कुबेर के सेवक और उनकी निधियों के रक्षक हैं। यक्षों के राजा कुबेर हैं। पुराणों के अनुसार ये प्रचेता की संतान हैं। बड़ के वृक्ष को यक्षतरु कहते हैं, क्योंकि यक्षों को वटवृक्ष बहुत प्रिय होता है। केनोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि वह ब्रह्म देवताओं के अभिमान को नष्ट करने के लिए यक्ष रूप में उनके सामने प्रकट हुआ-**तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमेतद्यक्षमिति** (केन०३.२)। यक्ष लोक अन्तरिक्ष में है, क्योंकि अन्तरिक्ष को यक्षों, गन्धर्वों और अप्सराओं द्वारा सेवित माना गया है-**यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षम्** (नृ०पू०१.२)। गीता में भगवान् का कथन है कि

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजसी पुरुष यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं- **यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः** (गी०१७.४)।

१८०. यज्ञ-अग्निहोत्र— भारतीय संस्कृति का प्रमुख वैदिक कृत्य जिसमें अग्नि प्रज्वलित कर हव्य पदार्थों की आहुति देते और इष्ट देवों की प्रार्थनाएँ किया करते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त संस्कारों की परम्परा के साथ हवन-यज्ञ किया करते हैं। इसके पर्यायवाची शब्दों में अध्वर, क्रतु, इष्टि, सवन, हवन, होम, अग्निहोत्र आदि हैं। यज्ञ की व्यवस्था करने वाले यजमान तथा यज्ञ कराने वाले ऋत्विज् कहलाते हैं। यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख हुआ है- सोमयाग, अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ, ऋतुयाज, अग्निष्टोम, अतिरात्र, दशरात्र, दर्शपूर्णमास, पवित्रेष्टि, पुत्रकामेष्टि, चातुर्मास्य, सौत्रामणि, पुरुषमेध आदि। ये यज्ञ तीन प्रकार के माने जाते हैं- **१. पाक यज्ञ**- औपासन होम, वैश्वदेव, अष्टका आदि, **२. हविर्यज्ञ**- अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्य आदि, **३. सोमयज्ञ**- अग्निष्टोम, वाजपेय, अतिरात्र आदि। निरुक्त के अनुसार यजन कर्म यज्ञ है- **यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याज्ञ्यो भवतीति वा** (निरु०३.१९)। निरुक्त के अनुसार यज्ञ के १५ नाम हैं- यज्ञ, वेन, अध्वर, मेध इत्यादि। सम्पूर्ण यज्ञ कर्म अग्निहोत्र में सम्पन्न होते हैं- **अग्निहोत्रे वै सर्वे यज्ञक्रतवः** (मै०ब्रा०१.८.६)। सम्पूर्ण लोक यज्ञ की धुरी या यज्ञ के आधार पर अवलम्बित है। अतः यज्ञ को इस लोक का केन्द्र कहा गया है- **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः** (यजु०२३.६२)। यज्ञ को देवों की आत्मा कहकर स्वीकार किया गया है- **यज्ञो वै देवानामात्मा** (शत०ब्रा०९.३.२.७)। श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ की संज्ञा से निरूपित किया गया है- **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** (शत०ब्रा०१.७.१.५)। अग्निहोत्र की महत्ता छान्दोग्य में वर्णित है, जिस प्रकार क्षुधित बालक माता की यथायोग्य उपासना करते हैं, उसी प्रकार सभी प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं- **यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्य्युपासते। एवंसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते** (छान्दो० ५.२४.५)। गीता में कहा गया है कि वह सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है- **तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्** (गी०३.१५)।

१८१. यज्ञोपवीत-उपनयन— यज्ञोपवीत का सामान्य शब्दार्थ-यज्ञ का उपवीत (वस्त्र) है। यह यज्ञार्थक जीवन का एक प्रतीक है। यह एक संस्कार परम्परा द्वारा पहनाया जाता है। बालक को गुरुकुल में ले जाने के समय यज्ञोपवीत संस्कार कराया जाता था। ऐसी मान्यता है कि इससे बालक का दूसरा जन्म होता है, इसके बाद वह सूक्ष्म ज्ञान और संस्कार को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। याज्ञ० स्मृति के अनुसार बालक के ज्ञान, शौच और आचार का विकास कराना-यह उपनयन का उद्देश्य है- **उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्। वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्** (या०स्मृ०१.१५)। आचार्य महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री मंत्र के उच्चारण के द्वारा शिष्य का उपनयन करता है। गायत्री मंत्र में नौ शब्द हैं। यज्ञोपवीत की तीन लड़ों में तीन-तीन धागे होते हैं, इस प्रकार नौ सूत्रों से यज्ञोपवीत बनता है। इसे व्रतबन्ध भी कहते हैं। उपवीतधारी को नौ गुणों या व्रतों के बन्धन से बाँधते हैं। उपनयन न होने से व्यक्ति व्रात्य अर्थात् पतित और समाज से बहिष्कृत माना जाता था। यह सूत्र योगी, योग-वेत्ता और तत्त्वदर्शियों को धारण करना चाहिए-**तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान्** (ब्रह्म० ८)। जो इस सूत्र को ब्रह्म भाव से धारण करता है, वही चैतन्य है- **ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः** (ब्रह्म० ८)। ज्ञानरूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुरुषों के हृदय में ब्रह्मरूप सूत्र रहता है- **सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्** (ब्रह्म० १०)।

१८२. यति — द्र०- संन्यासी।

१८३. याज्या-शस्या-शस्त्र— यज्ञ संबंधी सूक्त ऋचा अथवा मंत्र को याज्या कहते हैं और वेद की ऋचा को शस्या कहते हैं। परवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है- **इयं (पृथिवी) हि याज्या** (शत० ब्रा० १.४.२.१९)। **अन्नं वै याज्या** (गो०ब्रा० २.३.२२)। होता जिन मंत्रों से स्तुति करता है, उसे शस्त्र कहते हैं। उद्गाता द्वारा उच्चारित मन्त्र स्तोत्र कहे गये हैं। साम को देवरूप और शस्त्र को प्रजारूप मानकर निरूपण किया गया है-**साम वै देवाः प्रजाः शस्त्राणि** (जै०ब्रा० १.२७७)। कहीं वाणी को ही शस्त्र स्वीकार किया गया है-**वाग्घि शस्त्रम्** (ऐ० ब्रा० ३.४४)

१८४. योग— योग के पर्यायवाची शब्द हैं- जोड़ना, मिलाना, संयोग, संबंध, संगति, ध्यान, युक्ति, चित्तवृत्ति का निरोध आदि। योग के व्यवहारतः विविध भेद हैं; जैसे- मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि- **योगो हि बहुधा**

ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः (यो०त० १९)। योग के आठ अंग माने गये हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हें अष्टांग योग कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन की रचना की। इन्होंने योग दर्शन को चार भागों या पादों- समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य में विभाजित किया। जो साधक योग का अभ्यास करते हैं, उन्हें अनेकों विलक्षण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें विभूति या सिद्धि कहते हैं। विज्ञान भिक्षु का **'योगसार संग्रह'** योग का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। गीता में भगवान् ने योग को कर्म का कौशल कहकर निरूपित किया है- **तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्** (गी० २.५०)। योग को शरीर, मन और अन्तःकरण इन तीन साधनों के द्वारा क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग- इन तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है। कठोपनिषद् का कथन है कि इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है- **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रयधारणाम्** (कठ० २.३.११)। गीता के अनुसार असंयत आत्मा (मन) वाले को योग प्राप्त करना कठिन है- **असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः** (गी० ६.३६)। जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा के योग में लगे हुए संयतचित्त योगी की स्थिति कही गयी है-**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः** (गी० ६.१९)। योग युक्त आत्मा सबको समभाव से देखने वाला अपने को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में देखता है- **सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः** (गी० ६.२९)।

१८५. योग-क्षेम— 'योग-क्षेम' शब्द दर्शन जगत् का बड़ा ही प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय शब्द है। सामान्य आध्यात्मिक जीवन की प्रवृत्ति वाला मनुष्य अपने जीवन में योग-क्षेम की ही आकांक्षा रखता है। योग-क्षेम का तात्पर्य है 'प्राप्त भोग पदार्थ सुरक्षित बने रहें तथा जो अप्राप्त हैं, वे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों। योग-क्षेम की शास्त्रीय परिभाषा है- **'अप्राप्तस्य प्रापणं योगः,' 'प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः'** अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति 'योग' है और प्राप्त की रक्षा क्षेम है। सामान्य जीवनचर्या के लिए यह आवश्यक है, परन्तु जो सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक जीवन के पथिक हैं, वे इस योग-क्षेम की तुलना में ब्रह्मज्ञान- आत्मज्ञान की प्राप्ति अभीष्ट मानते हैं; क्योंकि यही मुक्ति का आधार है। **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** - यह उक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। ज्ञान (ब्रह्मज्ञान-आत्मज्ञान) के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। कठोपनिषद् में यह तथ्य बड़े स्पष्ट शब्दों में व्याख्यायित हुआ है कि सामान्यजन (मन्द व्यक्ति) योग-क्षेम का आधार होने से 'प्रेय' मार्ग का वरण कर लेते हैं, जबकि यह नश्वर है। भौतिक सुख-सुविधा के साधन अनित्य ही हैं। इसलिए परमकल्याण (मोक्ष) पथ के पथिक इसकी चाह नहीं करते, वे श्रेय मार्ग- आत्मसाक्षात्कार- ब्रह्मसाक्षात्कार का मार्ग अपनाते हैं, भले ही कष्ट साध्य जीवन क्यों न जीना पड़े। इस प्रकार योग-क्षेम सामान्य जनों का आकांक्षणीय है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि जो अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, उसका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। उसे अपने योगक्षेम की चिन्ता नहीं करनी चाहिए-**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्** (गी० ९.२२)।

१८६. योनि— योनि शब्द सामान्यतय उद्गम या उत्पत्ति स्थान अथवा उत्पादक कारण के रूप में प्रयुक्त होता है। जीवात्मा के ८४ लाख योनियों में परिभ्रमण की मान्यता भी प्रसिद्ध है। प्राणियों के ये विभाग या वर्ग प्रधानतः चार हैं- अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज। कुछ विद्वानों के मत से ये चारों इक्कीस-इक्कीस लाख हैं। इन सबमें मनुष्य योनि को श्रेष्ठ-सर्वोत्तम और दुर्लभ कहा गया है। योनि और रेतस् की संगति गायत्री और रथन्तर से की गयी है- **रेतो वै गायत्र्यै रथन्तरं, योनिर्वै रथन्तरस्य गायत्री** (जै०ब्रा० ३.२९२)। पृथिवी को भी योनि कहकर निरूपित किया गया है-**योनिर् वा इयं (पृथिवी)** (शत०ब्रा० १२.४.१.७)। सभी प्राणी संवत्सर (काल) से उत्पन्न होते हैं, अतः संवत्सर को सम्पूर्ण प्राणियों की योनि कहा गया है- **संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां योनिः** (शत०ब्रा०८.४.१.१८)। उपनिषद् में वर्णन है कि प्रजापति ने मुख रूप योनि (केन्द्र) से दोनों हाथों द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया- **स (प्रजापतिः) मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत** (बृह०१.४.६)।

१८७. राग-द्वेष— किसी इष्ट वस्तु या सुख आदि को प्राप्त करने की अभिलाषा या उसके प्रति आकर्षण या अनुराग आसक्ति का भाव राग कहलाता है। पतंजलि ने पाँच प्रकार के क्लेशों में से एक क्लेश राग को माना है। उनके अनुसार जब कोई व्यक्ति सुख भोगता है, तो उसकी प्रवृत्ति और अधिक सुख पाने की होती है, इसी प्रवृत्ति को

उन्होंने राग कहा है। महर्षि पतंजलि ने राग का मूल अविद्या और परिणाम क्लेश बताया है। द्वेष इसका विपरीतार्थक शब्द है। चित्त को अप्रिय लगने वाली वस्तु, व्यक्ति या प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं। योग दर्शन के अनुसार सुख-भोग के अन्दर अन्तःकरण में रहने वाली जो अभिलाषा विशेष है, वह राग है-**सुखानुशयीरागः** (यो० द० २.७)। न्याय दर्शन में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इन सबको रागपक्ष या राग कहकर निरूपित किया गया है- **रागपक्षः कामो मत्सरः, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इति**। प्रशस्तपाद भाष्य में द्वेष के पाँच भेद किये गये हैं- द्रोह, क्रोध, मन्यु, अक्षम, अमर्ष। योग दर्शन के अनुसार दुःख में बसने वाली अन्तःकरण की प्रवृत्ति द्वेष है- **दुःखानुशयी द्वेषः** (यो०द० २.८)। राग-द्वेष रजोगुण का विकार है। गीता में निर्देश है कि रजोगुण को रागात्मक तृष्णा तथा आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान-**रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्** (गी० १४.७)। उपनिषद् में इन विकारों की तुलना राक्षसों से की गयी है। द्वेष चाणूर मल्ल है। मत्सर दुर्जय मुष्टिक है-**द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः**। (कृष्णो० १४)। गीता में भी इन दोनों विकारों को जीव का शत्रु कहा गया है- **इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ** (गी० ३.३४)।

१८८. रयि— रयि शब्द कोश ग्रन्थ में जल, सोम रूप अन्न भोजन या सम्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आदित्य को प्राण स्वरूप और रयि को चन्द्रस्वरूप प्रतिपादित किया गया है। स्थूल और सूक्ष्म (मूर्त और अमूर्त) प्रकृति के सभी घटकों को रयि माना गया है- **रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च** (प्रश्न० १.५)। पितृयान मार्ग जो चन्द्रलोक होकर जाता है, उसे रयि कहा है- **एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः** (प्रश्न. १.९)। मनुष्यगण रयिरूपी लौकिक सम्पदा की अभिलाषा सदैव करते रहते हैं। उपनिषद् में वर्णित है कि उस विराट् पुरुष को सभी अपनी अभिलाषा के अनुरूप समझते हैं। देवता उसे अमृतरूप में अपनाते हैं। मनुष्यगण उसे रयि (लौकिक सम्पदा) के रूप में मानते हैं- **उर्गिति देवाः । रयिरिति मनुष्याः** (मुद्ग० ३.२)। पितृयान मार्ग का सम्बन्ध दक्षिणायन तथा कृष्णपक्ष से है, अतः दक्षिणायन या कृष्णपक्ष को भी रयि कहा गया है।

१८९. लिङ्ग— लिङ्ग का सामान्य अर्थ है- लक्षण , प्रतीक, चिह्न, निशान, जिससे किसी का बोध हो। जैसे पुल्लिंग से पुरुष का बोध होता है और शिवलिंग से शिव का बोध होता है; अतः लिङ्ग 'बोधक' अर्थ में प्रयुक्त होता है। धूम्र अग्नि का लिङ्ग है। उस परम पुरुष का बोध अन्य किसी भी तत्त्व से नहीं हो सकता, अतः उसे अलिङ्ग भी कहा गया है। लिङ्ग पुराण में शिव के दो रूप वर्णित हैं- १. निर्गुण शिव, उन्हें अलिङ्ग कहा गया है, २. जगत्कारण रूप शिव, जिनका बोधक शिवलिङ्ग है। कहीं लिङ्ग को अव्यक्त अथवा अमूर्त सत्ता का स्थूल प्रतीक कहा गया है। कहीं इसे प्रकृति बोधक भी माना गया है। उपनिषद् में उस विराट् परम पुरुष को निराकार रूप होने के कारण अलिङ्ग कहा गया है-**अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च** (कठ० २.३.८)।

१९०. लोक,परलोक,सप्तलोक— हमारे पुराशास्त्रों में सात लोकों का प्रायः उल्लेख मिलता है। वस्तुतः धरती और इसके ऊपर सात लोक हैं तथा धरती से नीचे भी सात लोक हैं। इस प्रकार कुल चौदह लोक हो जाते हैं। चूँकि ऊपर-नीचे सात-सात लोक हैं, इसलिए उपलक्षण में सात लोक ही कहे जाते हैं। ऊर्ध्व सप्तलोक हैं- **भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः,** और **सत्यम्** तथा अधः लोक हैं- **अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल** (पद्मपु०)।

यहाँ उपनिषदों के परिप्रेक्ष्य में इनका दार्शनिक स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। दार्शनिक मान्यता के अनुसार शीर्षस्थ इन्द्रियों के जो स्थान हैं (२ आँख , २ कान, २ नाक एवं १ जिह्वा), वे ही सप्त लोक हैं, क्योंकि प्राण इन्हीं स्थानों में विशेष रूप से संचरित होते हैं। इस प्रकार ये इन्द्रिय गोलक 'लोक' कहे जा सकते हैं, चूँकि इनकी संख्या सात है, इसलिए ये सप्तलोक कहे जाते हैं। उपनिषदों में प्रायः दो लोकों का उल्लेख मिलता है- इह लोक और परलोक। दूसरे शब्दों में इसे ही 'अयं लोक' और 'असौ लोक' कहा गया है। निरुक्त में तीन लोकों का उल्लेख मिलता है- पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। सुश्रुत में दो लोक हैं- स्थावर और जङ्गम।

१९१. वरदान — किसी देवी-देवता या महापुरुषों से माँगा हुआ मनोरथ वरदान कहलाता है। वह कथन जिसके लिए देवों से प्रार्थना की जाय या उनसे प्राप्त हुआ फल भी वरदान कहलाता है। वर का एक अर्थ-श्रेष्ठ या सर्वोत्तम भी है। कठोपनिषद् का कथन है कि उठो! जागो! और श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर उस आत्म तत्त्व को जान लो-

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (कठ० १.३.१४)। आत्मा को वर कहा गया है- **आत्मा हि वरः** (काठ० सं० २८.५)। परमात्मा की सम्पूर्ण रचना श्रेष्ठतम है- **सर्वं वै वरः** (शत०ब्रा०२.२.१.४)। नचिकेता ने महात्मा यमराज से तीन वरदान प्राप्त किये थे- **तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीस्व** (कठ० १.१.९)।

वस्तुतः देवशक्तियाँ 'वरदान' (वर=श्रेष्ठ, दान) देती हैं, जबकि मनुष्य अपनी इच्छानुसार माँगता है। इसलिए दोनों का क्रम ठीक न बैठने से बात बनती नहीं।

१९२. वषट्कार-हन्तकार— देवों के निमित्त किया हुआ यज्ञ विशेष वषट्कार कहलाता है। कहीं-कहीं यह स्वाहाकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसे यज्ञ की प्रतिष्ठा कहकर निरूपित किया गया है-**वषट्कारो वै यज्ञस्य प्रतिष्ठा** (तैत्ति० सं० ७.५.५.३)। इसे वैश्वानर (अग्नि) और सूर्य से भी सम्बद्ध किया गया है- **वैश्वानरो वषट्कारः** (मै०ब्रा०४.६.७)। **एष एव वषट्कारो य एष** (सूर्यः) **तपति** (शत०ब्रा०१.७.२.११)। अतिथि या संन्यासी आदि के लिए गृहस्थ भोजन का अल्प अंश निकाला करते थे, यह अंश पुष्कल का चौगुना या मोर के सोलह अण्डों के बराबर होता था, इसे हन्तकार कहा जाता था। मनुष्यों (अतिथियों) के लिए जो भेंट निकाली जाती है, वह हन्तकार है- **निवीती हन्तकारेण मनुष्यांस्तर्पयेदथ।**

१९३. वाजी— द्र०-अश्व ।

१९४. वानप्रस्थ— द्र०-चतुराश्रम।

१९५. विकार— किसी वस्तु , व्यक्ति या क्षेत्र की मूल वृत्तियों में बदलाव आ जाना विकार कहलाता है। विकृति, खराबी, अवगुण या दोष को भी विकार कहते हैं। व्यक्ति में प्रायः काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, निराशा, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष आदि मानसिक विकार पाये जाते हैं। गीता में कहा गया है कि विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का ध्यान-चिन्तन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, कामना से क्रोध उत्पन्न होता है- **ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते** (गी०२.६२)। काम, क्रोध, लोभ इन तीन विकारों को नरक का द्वार कहा गया है, ये आत्मा का नाश करने वाले हैं, इन तीनों का त्याग करना चाहिए- **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्** (गी०१६.२१)। धीर प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव बताते हुए कहा गया है कि विकार (काम, क्रोध आदि) की स्थिति आने पर भी जिनके चित्त में विकार नहीं उत्पन्न होता, वे वास्तव में धीर (धैर्यवान्) हैं- **विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः** (कु०सं० १.५९)।

१९६. विद्या,ज्ञान— विद्यते अनया सा विद्या अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, वह विद्या है। नित्यानित्य वस्तु का विवेक प्रदान करने वाली शक्तिधारा 'विद्या' कही जाती है। परमात्मसत्ता नित्य है। सदैव विद्यमान रहती है, जबकि उससे भिन्न जो कुछ भी है, वह अनित्य है, नश्वर है, परिवर्तनशील है- इस तथ्य का बोध (स्वानुभूति) होते ही व्यक्ति भवबन्धनों से मुक्त हो जाता है। जैसा कि आचार्य शंकर ने लिखा है- **सा विद्या या विमुक्तये** (जो सांसारिक बन्धनों से जीवात्मा को मुक्त कर दे, वही विद्या है।) इसी को अमृतत्व की प्राप्ति कहा जाता है- **विद्ययाऽमृतमश्नुते** (ईश०११; मैत्रा०७.९), **विद्यया विन्दतेऽमृतम्** (केन० २.४)।'अविद्या' अन्धकार की स्थिति है, चैतन्यस्वरूप आत्मा पर आवरण डाल देती है, जबकि विद्या प्रकाश की स्थिति है, चैतन्य स्वरूप पर पड़े आवरण को दूर करके उसका बोध-साक्षात्कार करा देती है- **विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते** (१ संन्या०२.८३)। संन्यासोपनिषद् में इसीलिए कहा गया है कि जो विद्या के अभ्यास (साधना) में प्रमाद (आलस्य) करता है, वह दिन में सोये रहने के समान है, अर्थात् दिन के बहुमूल्य समय को सोने में व्यर्थ गँवा देने के समान है- **विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवा स्वाप उच्यते** (१ संन्या० २.८४)। अतएव समय रहते '**विद्या**' की प्राप्ति का परमपुरुषार्थ करके आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त कर लेना चाहिए- **विद्यया साधयेत** (संहि० ३.४)।

१९७. विद्वान् — विद्वान् का शाब्दिक अर्थ है- ज्ञाता, जानकार, बुद्धिमान्, विद्यायुक्त। यह शब्द वेद-उपनिषद् में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। अग्निदेव हमारे सम्पूर्ण कर्मों को जानने वाले हैं, अतः उन्हें विद्वान् कहा गया है- **विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्** (ईश० १८)। उपनिषद् के अनुसार विद्वान् नाम-रूप से मुक्त होकर उत्तमोत्तम दिव्य पुरुष को

प्राप्त होता है-**तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्** (मुण्ड०३.२.८)। सबके भीतर रहने वाले आत्मा के स्वरूप का बोध करने वाला विद्वान् है-**सर्वान्तरस्थ स्व संविद्रूपविद्विद्वान्** (निरा०३२)।

१९८. विधाता-धाता— विधान करने वाला, रचने वाला, बनाने वाला, उत्पन्न करने वाला, सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्मा या ईश्वर को विधाता कहा गया है। इसे धाता भी कहा गया है; जिसका अर्थ है, पालन करने वाला, धारण करने वाला या रक्षा करने वाला। ऋग्वेद में आदित्य देव को विश्वकर्मा, धाता और विधाता कहा गया है- **विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्** (ऋ० ८.३.१७)। निरुक्त की दुर्गवृत्ति में सब भूतों को उत्पन्न करने वाले को धाता तथा आजीविका आदि कर्मों में प्रवृत्त करने वाले को विधाता कहा गया है- **धाता उत्पादयिता सर्वभूतानाम्.....विधाता जीवनस्य जीवतां च साध्वसाधुषु कर्मसु प्रवर्तमानानां** (निरु० दुर्गवृत्ति १०.२६)। आगे निरुक्त में वर्णित है कि धाता ही सबका विधाता है-**धाता सर्वस्य विधाता** (निरु० ११.१०)। वह परमेश्वर ही विष्णु,नारायण,अर्क, सविता,धाता,विधाता और इन्द्र है- **विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इति** (मैत्रा० ५.८)।

१९९. विराट् पुरुष— सार्वभौम शक्ति सम्पन्न परम पुरुष को विराट् पुरुष कहा गया है। दृश्य-अदृश्य अनन्त सृष्टि की रचना करने वाले उस विराट् पुरुष को सहस्रों नामों से पुकारा जाता है-**सहस्राक्षरा वै परमा विराट्** (तां० म० २५. ९.४)। यह स्थूल जगत् उसी विराट् पुरुष का शरीर है। वह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने पर भी उससे दस अंगुल ऊपर अवस्थित है। सम्पूर्ण विश्व जो व्यक्त हुआ है, वह तो उसका एक पाद ही है, शेष तीन पाद तो अभी अव्यक्त हैं (पुरुषसूक्त)। भगवद्गीता के अनुसार भगवान् ने जो अपना विराट् रूप दिखाया था, उसमें सभी लोक, पर्वत, समुद्र,नदी, देवता आदि दिखाई पड़े थे।

२००. विवस्वान्-वैवस्वत— बारह आदित्यों में से एक विवस्वान् है। भागवत पुराण के अनुसार ये आदित्य विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शुक्र तथा उरुक्रम हैं। इनकी पत्नी का नाम संज्ञा है। विवस्वान् के पुत्र का नाम श्राद्धदेव मनु था। संज्ञा पत्नी से इन्हें यम, यमी आदि संतति हुई (भा०पु० ६.६-४१)। वर्तमान काल के मनु वैवस्वत इन्हीं के पुत्र हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार मनु वैवस्वत के दस पुत्र थे- इक्ष्वाकु, तृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नाभाग और कवि (ब्रह्मा० पु० २.३८)। इनकी विदुषी पुत्री इला मैत्रावरुण याग से उत्पन्न हुई थी। (भा०पु०९.१.१५)।

२०१. विषय-भोग— इन्द्रियजन्य सुख को विषय कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द), इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं। विषयों से जिस सुख-दुःख की अनुभूति होती है, उसे भोग कहते हैं। गीता में कहा गया है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की आसक्ति विषयों में हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामना की पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है-**ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते** (गी० २.६२)। मनुष्य के चारों ओर विषयों की अनन्त लहरें उठती रहती हैं, उनमें घिरा हुआ मनुष्य अपना लक्ष्य नहीं देख पाता। जो इन्द्रिय निग्रह नहीं कर पाते, उनकी इन्द्रियाँ , आत्मा, परमात्मा और परमार्थ तत्त्व को छोड़कर विषयों की ओर दौड़ती हैं, उन्हें विषयों में रमण का अभ्यास पड़ जाता है। गीता में भगवान् कृष्ण कुन्तीपुत्र अर्जुन से कहते हैं- जो इन्द्रियों तथा विषयों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे निःसन्देह दुःख की योनियाँ हैं, वे आदि और अन्त वाले (नश्वर) हैं, उनमें बुद्धिमान् नहीं रमते - **ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः** (गी० ५.२२) विषयों में अनासक्त रहने वाला पुरुष अन्तःकरण का सुख पाता है- **बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्** (गी० ५.२१)।

२०२. वीर्यम्— वीर्य के पर्याय शुक्र, तेज, रेतस्, बीज, पराक्रम, पुंसत्व, कांति, साहस आदि हैं। शरीर के सप्तधातुओं में से एक धातु वीर्य है, जिसका निर्माण अन्त में होता है। जिसके कारण शरीर में बल और कांति आती है। आत्मन् (प्रकृति या सूर्य या अग्नि) से वीर्य की प्राप्ति होती है- **आत्मना विन्दते वीर्यं** (केन० २.४)। बृहस्पति रूप के द्वारा उद्गीथ रूप, पितर स्वधा के द्वारा प्रतिहाररूप और इन्द्र वीर्य (पराक्रम) के द्वारा निधनरूप है-- **रूपेण बृहस्पतिरुद्गीथं स्वधया पितरः प्रतिहारं वीर्येणेन्द्र निधनम्** (जैमि० १.२१.७)। वीर्य का एक अर्थ पराक्रम है। यक्ष ने अग्नि से पूछा- तुझमें क्या सामर्थ्य है- **तस्मिः स्त्वयि किं वीर्यमिति** (केन० ३.५)।

२०३. वेद-वेदान्त— वेद का अर्थ- 'वास्तविक ज्ञान' से लगाया जाता है; किसी तथ्य को जानने के अर्थ में भी वेद शब्द प्रयुक्त होता है। भारतीय आर्य संस्कृति के चार धार्मिक ग्रन्थ जो सर्वप्रधान और सर्वमान्य हैं, 'वेद' कहलाते हैं। ये ब्रह्मा के चारों मुखों से निःसृत माने गये हैं। वेदों के भी चार भाग माने गये हैं- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। प्रत्येक वेद की कई- कई शाखाएँ भी प्रचलित हुई हैं। प्रत्येक वेद के स्वतंत्र उपवेद भी व्यवहार में विकसित हुए। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद ये छः वेदों के अंग या वेदाङ्ग कहलाते हैं। ऐसी मान्यता है कि वेदों का वर्तमान रूप में संग्रह और संकलन महर्षि व्यास ने किया है, इसलिए वे वेदव्यास कहे जाते हैं। विष्णु और वायु पुराण में वर्णित है कि स्वयं विष्णु भगवान् ने वेदव्यास का रूप धारण करके वेद के चार भाग किये और ऋक्, यजुः, साम और अथर्व को क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमंत इन चार शिष्यों- ऋषियों को दिया। वेद का अन्तिम ध्येय ब्रह्म और आत्म तत्त्व का प्रतिपादन करना है- **वेदाः ब्रह्मात्मविषयाः** (भा०पु० ११.२१.३५)। वेदों का अन्तिम भाग वेदान्त के रूप में प्रसिद्ध हुआ- **वेदानामन्तः इति वेदान्तः**। वेदान्त सार के अनुसार प्रामाणिक उपनिषदें ही वेदान्त हैं- **वेदान्तो नामोपनिषत् प्रमाणम्** (वे०सा०खण्ड ३)। उपनिषद् के अनुसार पूर्वकल्प में परम गुह्यज्ञान वेदान्त (उपनिषद्) में वर्णित हुआ है- **वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्** (श्वेता० ६.२२)। गीता में भगवान् ने कहा है- वेदान्तकर्त्ता और वेदविद् मैं ही हूँ और वेदों में मैं ही जानने योग्य हूँ- **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्** (गी० १५.१५)।

२०४. वेदाङ्ग —द्र.-वेद-वेदान्त ।

२०५. वेदान्त —द्र.- वेद-वेदान्त ।

२०६. वैकुण्ठ— भगवान् विष्णु का धाम या स्थान वैकुण्ठ कहलाता है। पुराणानुसार यह धाम सत्यलोक के ऊपर सर्वश्रेष्ठ लोक है। भगवान् विष्णु जिन्हें मोक्ष देते हैं, वे इसी धाम में निवास करते हैं। यहाँ के निवासी अजर-अमर रहते हैं। भगवान् अवतार रूप में स्वर्गवासियों को और सारे वैकुण्ठधाम को भूतल पर उतार लेते हैं- **भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्** (कृष्णो० २५)। उपनिषद् के अनुसार जो साधक '**ॐ नमो नारायणाय**' मन्त्र की उपासना करता है, वह वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है। यह वैकुण्ठधाम विज्ञानघन पुण्डरीक (कमल) है। इसका स्वरूप विद्युत् के समान परम प्रकाशमय है- **ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति। तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभमात्रम्** (नारा० ४)।

२०७. वैराग्य— वह मानसिक वृत्ति जिसमें सम्पूर्ण सांसारिक विषय-भोग तुच्छ प्रतीत होते हैं और मनुष्य सांसारिक प्रपञ्चों से निकलकर एकान्त में आत्म उत्थान तथा प्रभु भक्ति में लगता है, वैराग्य कहलाता है। प्राचीन काल में लोग किसी भी आश्रम अवस्था में वैराग्य होने पर संसार से विरक्त होकर वन में विचरण करते हुए आत्म साधना में संलग्न हो जाते थे। वैराग्य (संसार से विराग)की स्थिति में ही संन्यास ग्रहण किया जाता था। ईश्वर या गुरु या इष्ट देव के प्रति अति विशिष्ट राग (स्नेह संबंध) हो जाने की स्थिति को भी वैराग्य कहा जाता है। उपनिषद् के अनुसार जब भोगने लायक पदार्थों के ऊपर कोई वासना न जाग्रत् हो, तब वह वैराग्य की अवधि (स्थिति) जाननी चाहिए- **वासनाऽनुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः** (अध्या० ४१)। वैराग्य का फल बोध है, बोध का फल उपरति-चित्तवृत्तियों की विश्रांति या विषय भोग से विरक्ति है। उपरति का फल आत्मानन्द के अनुभव से उत्पन्न होने वाली शान्ति है- **वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्** (अध्या० २८)। गीता में भगवान् का कथन है कि मन अत्यन्त चञ्चल और कठिनाई से वश में आने वाला है; किन्तु अभ्यास और वैराग्य से यह वश में आ जाता है-**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते** (गी० ६.३५)।

२०८. वैश्वानर— वैश्वानर शब्द का सामान्य अर्थ 'अग्नि' है। यजन कार्यों में प्रयुक्त अग्नि को '**वैश्वानर**' कहते हैं- **वैश्वानरो विसर्गे तु .....** (गोभिलपुत्रकृत संग्रह)। आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर के अन्दर परमात्म चेतना का वह अंश वैश्वानर कहलाता है,जो भोजन आदि के पाचन में योगदान देता है-**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्** (गी० १५.१४)। वेदान्तदर्शन की मान्यतानुसार 'वैश्वानर' वह चैतन्यांश

है, जो चतुर्विध शरीरधारी (जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज) प्राणियों का समष्टिगत अधिष्ठाता है। वहाँ इसके लिए सुन्दर उदाहरण दिया गया है-जलाशय तथा वन का। जलाशय 'जलबिन्दुओं' का तथा 'वन' वृक्षों का समष्टिगत रूप है। इस तरह चतुर्विध स्थूल शरीरों का समष्टि उपहित चैतन्य- **सर्वनराभिमानित्वात्**-वैश्वानर कहलाता है। विविध रूपों में विराजमान होने के कारण-**विविधं राजमानत्वात्**- यह 'विराट्' भी कहलाता है। 'वैश्वानर' के रूप में स्थूल शरीर की इस समष्टि को 'अन्नमयकोश' तथा जाग्रत् भी कहा जाता है। स्थूल शरीरों के इस समष्टि रूप के विपरीत जो व्यष्टि उपहित चैतन्य है, उसे 'वेदान्त' के अनुसार 'विश्व' संज्ञा प्रदान की गई है। जैसे जलाशय का व्यष्टि रूप जल विन्दु और वन का व्यष्टि रूप वृक्ष होता है, उसी तरह वैश्वानर का व्यष्टि रूप विश्व है। रामतीर्थ ने इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है-**सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद् विश्व इत्युक्तं भवति** (वे०सा० टीका खण्ड १७) 'यह समस्त शरीरों में प्रवेश करने में समर्थ है'। यह सूक्ष्म शरीर(५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ प्राण, मन और बुद्धि) का परित्याग किए बिना ही अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर में प्रवेश करता है। यही अन्नमय कोश कहलाता है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि उपाधि से युक्त होने के कारण इसे जाग्रत् भी कहा जाता है।

२०९.व्यष्टि-समष्टि— समूह या समाज में से अलग किया हुआ प्रत्येक पदार्थ या मनुष्य व्यष्टि कहा जाता है। समूह से छिन्न व्यक्ति या जिसमें सामूहिकता का अभाव हो, वह व्यष्टि रूप में मान्य है। वह सिद्धान्त जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता तथा उसके अधिकार को प्रमुखतया मान्यता मिलती है, व्यष्टिवाद कहलाता है। इसका विपरीतार्थक शब्द समष्टि है। सबके समूह को समष्टि कहते हैं। इसका अन्य पर्याय 'संयुक्त अधिकार' भी है। उपनिषद् में कहीं-कहीं व्यष्टि का अर्थ सर्वव्यापकता भी लिया गया है- **तां (ब्रह्मणः) व्यष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद** (कौ० ब्रा० १.७) अर्थात् वह उस ब्रह्म की सर्वव्यापकता को प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता है। वायु को व्यष्टि और समष्टि रूप दोनों माना गया है, चूँकि वायु शब्द एक का बोधक भी है और कई गैसों का समूह भी है- **तस्माद् वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः** (बृह०३.३.२)। वृक्ष-व्यष्टि है, वन-समष्टि है। जल बिन्दु-व्यष्टि है, जलाशय-समष्टि है।

२१०. व्याहृति—व्याहृति का अर्थ है- कथन, उक्ति, वचन या उच्चारण। इनकी संख्या सात मानी गई है- भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्। इनमें प्रारंभिक तीन महाव्याहृति कही गयी हैं। पौराणिक स्तर पर ये सविता और पृश्नि की कन्या मानी जाती हैं। उपनिषद् ग्रन्थों में व्याहृतियों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है- **भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः** (तैत्ति० १.५.१), **ता एता व्याहृतयः। प्रेत्येति वाग् इति भूर्भुवःस्वरिति (उदिति)** (जैमि० २.९.३)। त्रयी विद्या (तीनों वेदों) के निचोड़ से सारभूत रस अभिस्रवित हुआ। यही सार तीन व्याहृतियाँ भूः, भुवः, स्वः हुईं- **स त्रयीं विद्यामभ्यपीळयत्। तस्या अभिपीळितायै रसः प्राणेदत्। ता एवैता व्याहृतयोऽभवन् भूर्भुवः स्वरिति** (जैमि० १.२३.६)। तीनों व्याहृतियों के निचोड़ से ॐ अक्षर अभिस्रवित हुआ।

२११. व्योम—व्योम आकाश, अन्तरिक्ष या आसमान का सूचक है। मेघ या जल के पर्याय में भी व्योम शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् विष्णु को भी व्योम कहा गया है। भगवान् शिव का एक नाम व्योमकेश है। व्योम को लोक भी कहा गया है- **इमे वै लोकाः परमं व्योम** (शत० ब्रा० ७.५.२.१८)। ब्राह्मण ग्रन्थ में अन्न को भी व्योम कहा गया है-**अन्नं वै व्योम** (तैत्ति०सं० ५.३.३.२)। ब्रह्मविद् की तुलना ब्रह्म से उसी प्रकार की गयी है, जैसे घट के नष्ट होने पर घटाकाश ही महाकाश बन जाता है-**घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्। तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम्** (आत्मो० २२-२३)।

२१२. व्रात्य— व्रात्य का साधारण अर्थ 'व्रत सम्बन्धी' है। व्रात्य शब्द परमेश्वर का भी बोधक है। अथर्ववेद में व्रात्य की महिमा बहुत अधिक गायी गयी है। परवर्ती काल में यह शब्द व्रतों से च्युत, संस्कारभ्रष्ट, पतित और निकृष्ट व्यक्ति का बोधक हो गया है। जिसके दस संस्कार या उपनयन संस्कार न हुआ हो, उसे भी व्रात्य माना जाने लगा। जैमिनीय ब्राह्मण में व्रात्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो सम्भवतः व्रात्य के पर्याय तथा व्रतों के नियम, उपनियम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है- **मुह्यन्तीव वा एते ये व्रात्यां धावयन्ति** (जै०ब्रा० २.२२१)। **ब्रह्मणो वा एते व्यृद्धयन्ते ये व्रात्यां धावयन्ति** (जै०ब्रा० २.२२३)। प्रश्नोपनिषद् में 'व्रात्य' शब्द प्राण के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ व्रात्य शब्द 'शुद्ध या पवित्र' भाव से प्रयुक्त हुआ है। प्राण ही व्रात्य है, का तात्पर्य प्राण में संस्कार का प्रयोग नहीं है, वह स्वभावगत शुद्ध और पवित्र है। सबसे पहले शुद्ध रूप में उत्पन्न हुआ है।

२१३. शस्त्र—द्र०- याज्या।

२१४. शान्ति— वह स्थिति जिसमें किसी प्रकार की क्रिया, वेग, क्षोभ, उद्विग्नता आदि न हो। चित्त की चंचलता, वासना, तृष्णा आदि का क्षय हो। इसके अन्य पर्याय हैं- स्तब्धता, चैन, आराम, रागादि से निवृत्ति, मृत्यु, अमंगल या अनिष्ट का निवारण। गीता में भगवान् ने कहा है कि जितेन्द्रिय तत्पर श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को पाकर वह परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है-**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** (गी० ४.३९)। आत्मिक (आन्तरिक) आनन्द की अनुभूति से जो शान्ति मिलती है, यह उपरति (विषयभोग से निवृत्ति) का फल है- **स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्** (अध्या०२८)। भावना रहित को शान्ति नहीं मिलती और शान्ति के बिना सुख कहाँ- **न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्** (गी० २.६६)।

२१५. शास्त्र — प्राचीन ऋषियों और मुनियों द्वारा विरचित वे ग्रन्थ, जिसमें उन्होंने जन सामान्य के लिए कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, मर्यादा, व्रत, अनुशासन एवं हितकारी शिक्षण दिया है, शास्त्र कहलाते हैं। इनकी संख्या १८ मानी गयी है- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, और अर्थशास्त्र। आगे सभी धार्मिक ग्रन्थों को शास्त्र की श्रेणी में रखा जाने लगा। गीता में भगवान् का निर्देश है कि जो शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से व्यवहार करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख और परमगति को-**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्** (गी० १६.२३)। आगे उन्होंने अर्जुन को आदेश दिया है कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिए शास्त्र प्रमाण है। अतः शास्त्र विधान को समझकर ही कर्म करना उचित है-**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि** (गी० १६.२४)।

शास्त्रों की निधि जिस ताले में है, उसकी कुञ्जियाँ दो हैं- स्वाध्याय और सत्संग। मनुष्य तथा समाज के नीति, सदाचार, व्यवहार सम्बन्धी प्रामाणिक नियम धर्मशास्त्रों में उल्लिखित हैं। स्मृति ग्रन्थों को भी धर्मशास्त्र माना गया है। उपनिषद् में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से सचेत भी किया गया है कि निकृष्ट शास्त्रों के जाल में फँसकर ज्ञानियों की बुद्धि मोहित हो जाती है-**पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः** (यो०त० ६)।

२१६. शुद्धि-शुचि-पवित्रता— उपनिषद् में शारीरिक पवित्रता को नहीं, चित्त वृत्तियों की पवित्रता को तथा वासनादि के क्षय को विशेष महत्त्व दिया गया है- **चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशकम्। ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनात् शौचमुच्यते** (मैत्रे० २.१०)। अर्थात् ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्य रूपी जल से धोने के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है। मल, मूत्रादि, दुर्गन्ध युक्त शरीर की शुद्धि तो मिट्टी एवं जल से होती है, लेकिन वह सब तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक शुद्धि तो मैं और मेरा के अहंभाव का परित्याग करना ही है- **अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम्। शुद्ध शौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्** (मैत्रे० २.९)। इन्द्रियनिग्रह ही शुचिता है- **शौचम् इन्द्रियनिग्रहः** (मैत्रे०२.३)।

२१७. शोक —द्र०-हर्षशोक।

२१८. श्रद्धा— श्रद्धा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है-श्रत्+धा-सत्य की धारणा। सामान्यतया श्रद्धा का अर्थ - प्रेम और भक्तिपूर्ण पूज्य भाव अथवा भावनात्मक (भावना से परिपूर्ण) विश्वास लिया जाता है। पितरों के प्रति श्रद्धा-भाव पूर्वक अर्पित जल अथवा भोज्य पदार्थ को श्राद्ध कहा जाता है। उपनिषद् में श्रद्धा को हृदय की वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है-**कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति** (बृह०३.९.२१)। गीता में श्रद्धा को तीन प्रकार की कहा गया है-सात्त्विकी, राजसी और तामसी-**त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु** (गी० १७.२)। बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और किया हुआ कर्म असत् है-**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह** (गी०१७.२८)। मनुस्मृति के अनुसार धर्म तभी निश्चय फल देता है, जब वह श्रद्धापूर्वक किया गया हो-**श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः** (म०स्मृ०४.२२६)। तुलसीदास ने पार्वती और शंकर को श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप माना है, जिसके बिना सिद्धजन भी अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते -**भवानी शंकरौ**

वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् (रा०मा० बालकाण्ड श्लोक २)। गीता में भगवान् ने कहा है कि सबकी श्रद्धा अपने अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय ही है। जो जैसी श्रद्धा वाला होता है, वह वैसा ही होता है- **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः** (गी०१७.३)। जो-जो भक्त जिस-जिस स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, भगवान् उस-उस भक्त की उस रूप के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता है- **यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्** (गी०७.२१)। देवगण भी श्रद्धा की उपासना करते हैं, श्रद्धा से परम ऐश्वर्य मिलता है-**श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां.... श्रद्धया विन्दते वसु** (ऋ०१०.१५१.४)।

२१९.श्राद्ध— पितरों की तुष्टि तथा शान्ति के लिए श्रद्धापूर्वक अन्न,जल,भोग पदार्थों आदि का दान करना श्राद्ध कहलाता है। शास्त्र विहित पितृ कर्म या लोकविधि के अनुसार पितरों के क्रिया कर्म को भी श्राद्ध कहते हैं। दूसरे शब्दों में- पितरों की तृप्ति के लिए शास्त्रविधि से श्रद्धापूर्वक किया गया धार्मिक कृत्य श्राद्ध कहलाता है। मनु के अनुसार श्राद्ध पाँच प्रकार का है-**नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं तथैव च। पार्वणञ्चेति मनुना श्राद्धं पञ्चविधं स्मृतम्॥** भविष्य पुराण में बारह प्रकार के श्राद्ध वर्णित हैं। श्राद्ध प्रक्रिया प्रारम्भ करने का श्रेय इक्ष्वाकुपुत्र निमि को दिया जाता है। इन्होंने अपने पुत्र श्रीमत की असामयिक मृत्यु के एक वर्ष बाद श्राद्ध किया था। आश्विन कृष्णपक्ष में पितरों के निमित्त विशेष रूप से तर्पण, पिण्डदान आदि किया जाता है, यह श्राद्धकाल या श्राद्धपक्ष कहलाता है।

२२०. श्रेय-प्रेय मार्ग— श्रेय और प्रेय मार्ग की चर्चा अध्यात्म शास्त्र में प्रायः होती रहती है, परन्तु कठोपनिषद् में इसका विशेष रूप से वर्णन पाया जाता है। यम-नचिकेता के प्रसिद्ध संवाद में जब यमराज से 'आत्मविद्या' के तृतीयवर की याचना नचिकेता ने की, तो यमराज ने उसे दीर्घ आयु, स्वर्गिक आनन्द, हाथी, घोड़ा, रथ तथा अन्यान्य वैभव व एक छत्र राज्य माँग लेने को कहा तथा 'आत्मविद्या' का वर माँगने का हठ न करने को कहा, परन्तु नचिकेता की दृढ़ प्रतिज्ञ स्थिति और उसके अधिकारी स्वरूप की परीक्षा कर लेने के बाद यमराज स्वयमेव उन दोनों मार्गों को स्पष्ट करते हैं। प्रथम **श्रेय मार्ग,** जो आनन्द स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है तथा दूसरा **प्रेय मार्ग,** जो इस लोक एवं स्वर्गलोक के सुख-भोग की सामग्रियों की प्राप्ति का साधन है। यमराज इसी प्रकरण में यह भी कहते हैं कि धीर पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय मार्ग का ही वरण करते हैं, जबकि मन्दबुद्धि व्यक्ति सांसारिक सुखों वाले प्रेय मार्ग का वरण करते हैं-**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते** (कठ०१.२.२)। इसी तथ्य को गीता (१८.३७-३८) में सात्त्विक एवं राजस सुख के रूप में प्रतिपादित किया गया है। प्रारम्भ में दुःखद एवं बाद में अमृतोपम लगने वाले सुख को सात्त्विक तथा प्रारम्भ में सुखद एवं परिणाम में दुःखद लगने वाले सुख को राजस कहा गया है। यही स्थिति श्रेय और प्रेय की है। श्रेय मार्ग प्रारम्भ में सुखद नहीं लगता, परन्तु परिणाम में कल्याणकारी होता है, जबकि प्रेय मार्ग प्रारम्भ में बड़ा ही आकर्षक-आनन्ददायी लगता है, परिणाम में भले ही दुःखदायी हो।

२२१. श्रोत्रिय— जो वेद-वेदाङ्गों में पारंगत हो, वह वेदज्ञ-वेदविद् श्रोत्रिय कहलाता है। इसका अन्य पर्याय सभ्य, सुसंस्कृत, ब्राह्मण विशेष है। वेद का एक पर्याय श्रुति है, अतः श्रुति (ज्ञान) से सुसम्पन्न पुरुष को श्रोत्रिय कहा जाता था। उपनिषद् में वर्णन है कि अन्न के प्राण को जानने वाले श्रोत्रिय भोजन करने से पूर्व आचमन करते हैं तथा भोजनोपरान्त आचमन करते हैं- **तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्ति** (बृह०६.१.१४)। काल सम्पूर्ण प्राणियों और महात्माओं को भी समाहित कर लेता है और जो काल को भी नियंत्रण में करना जानता है, वह वेदविद् (श्रोत्रिय) है- **कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मनि। यस्मिंस्तु पच्यते कालो यस्तं वेद स वेदवित्** (मैत्रा०६.१५)। जो देवों के सौ आनन्द हैं, वह इन्द्रदेव का एक आनन्द है और ऐसा श्रोत्रिय जो इन्द्र के (वैभव के) भोगों की कामना से रहित है, उसे वह सहज प्राप्त है-**ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य** (तैत्ति०२.८)।

२२२. षड्रिपु-षड्वर्ग— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन्हें षड्रिपु कहा गया है। इन्हें मुद्गलोपनिषद् में षड्वर्ग भी कहा गया है-**कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यरिषड्वर्गः** (मुद्ग०४.४)। इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करने वाला काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से अबाधित रहता है। गीता में भगवान् ने भी इन्हें वैरी

और अधिक खाने वाला महापापी कहा है, ये रजोगुण से उत्पन्न होने वाले हैं-**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्** (गी०३.३७)। काम का आशय कामना या इच्छा है। रजोगुण से उत्पन्न विषय-वासना और तृष्णा ही काम है। गीता के अनुसार विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्यों की उसमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम, काम से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। काम, क्रोध, लोभ ये तीनों आत्मा का नाश करने वाले हैं, अतः इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए-**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्** (गी०१६.२१)। जो पुरुष सब कामनाओं को त्यागकर निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार (लोभ, मोह, मद रहित) होकर विचरता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है-**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति** (गी०२.७१)। अहंकार, अज्ञान, उन्माद आदि के पर्याय रूप में 'मद' शब्द प्रयुक्त होता है। मत्सर का आशय किसी के वैभव-विलास को देखकर जलन या डाह करना है। कृष्णोपनिषद् में द्वेष और मत्सर की संगति राक्षसों से बिठायी गयी है- **द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः** (कृष्णो०१४)।

२२३. षोडशकला— चन्द्रमा के सोलह भाग जो एक-एक क्रम से शुक्ल पक्ष में बढ़ते और कृष्ण पक्ष में क्षीण होते हैं। मनुष्य के सोलह विशिष्ट गुणों या शक्तियों को भी षोडशकला कहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि ब्राह्मण ग्रन्थों से होती है- **षोडशकलो वै चन्द्रमाः** (ष०ब्रा० ४.६), **षोडशकलो वै पुरुषः** (शत०ब्रा० ११.१.६.३६)। उस पूर्ण ब्रह्म को भी षोडशकला कहकर वर्णित किया गया है- **षोडशकलं वै ब्रह्म** (जै०उ०३.३८.८)। इस सम्पूर्ण जगत् को भी षोडशकलाओं से युक्त माना गया है- **षोडशकलं वा इदं सर्वम्** (शत०ब्रा० १३.२.२.१३)। यहाँ षोडश संख्या पूर्णता का बोधक है और षोडश कला पूर्ण शक्तियों से भरी रचना। कला शब्द का अर्थ शास्त्रों में इस प्रकार भी दिया गया है- **कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते यया, सा कला।** अर्थात् जिसके द्वारा क (ब्रह्म) लीन-आच्छादित होता है, उसे कला कहते हैं। ब्रह्म की सोलह कलाएँ निम्न हैं- प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। वस्तुतः परात्पर ब्रह्म की ६४ कलाएँ मानी जाती हैं। चूँकि ब्रह्म के ३ चरण ऊर्ध्व में विद्यमान हैं और एक चरण ही इस विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में है। इसका संकेत पुरुष सूक्त में प्राप्त है- **त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः** (यजु० ३१.४), इसलिए ६४ का चतुर्थांश १६ ही हुआ।

२२४. संवत्सर— संवत्सर शब्द प्रायः वर्ष या साल के लिए प्रयुक्त होता है। प्रत्येक साठ वर्षों को ५-५ वर्ष के १२ युगों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक युग का प्रथम वर्ष संवत्सर कहलाता है। ये संवत्सर साठ माने गये हैं। संवत्सर का आरंभ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है। जिस दिन मत्स्यावतार हुआ और सृष्टि का पुनः आरम्भ हुआ, उसी दिन से संवत्सर का आरंभ माना जाता है। आदित्य को संवत् और चन्द्रमा को सर कहकर निरूपित किया गया है- **आदित्य एव संवच्चन्द्रमाः सरः** (जै० ब्रा० २.६०)। एक संवत्सर में बारह मास या चौबीस अर्धमास होते हैं- **द्वादश मासाः संवत्सरः** (मैत्रा०ब्रा० १.१०.५) **चतुर्विंशत्यर्धमासो वै संवत्सरः** (ऐत० ब्रा० ८.४)। अग्नि तथा प्रजापति को भी संवत्सर से सम्बद्ध किया गया है- **अग्निः संवत्सरः** (तां०म० १७.१३.१७)। **स वै संवत्सर एव प्रजापतिः** (शत०ब्रा० १.६.३.३५)।

२२५. संस्कार— संस्कार का आशय है-सुधार, परिष्कार अथवा मनोवृत्ति या स्वभाव का परिशोधन। शिक्षा, उपदेश या संगति से मनुष्य के अचेतन मन पर एक गहरा प्रभाव पड़ता है, जिसके प्रभाव में उसके क्रियाकलाप सहज ही प्रेरित होते हैं, संस्कार कहलाता है। ऋषियों ने जन्म से पूर्व तथा मृत्युपर्यन्त तक के जीवन क्रम में यज्ञीय कर्मकाण्ड परक षोडश संस्कारों की परम्परा प्रचलित की, जिससे मनुष्य का विचारात्मक तथा भावनात्मक परिशोधन होते रहने का क्रम जीवन भर सम्पादित होता रहे। संस्कार योग्यता वृद्धि की विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसके सम्पन्न होने से व्यक्ति या पदार्थ किसी विशेष प्रयोजन के योग्य बन जाते हैं-**संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य** (जैमि०सूत्र० ३.१.३ शबर भाष्य),**योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते** (तंत्रवार्तिक)।

२२६. सङ्कल्प — सङ्कल्प शब्द सामान्यतः दृढ़ निश्चय, पक्का इरादा या विचार, तीव्र इच्छा अथवा उद्देश्य के अर्थ में लिया जाता है। हमारा मन ही सभी संकल्पों का अयन (आश्रय) है-**सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनम्**

(बृह०२.४.११)। शिवसङ्कल्पोपनिषद् के प्रत्येक श्लोक में मन के शिव अथवा कल्याणकारी संकल्प से युक्त होने की कामना की गई है। जो हमारा मन प्रकृष्ट ज्ञान का साधनभूत है, जो स्मरण और धारण शक्ति से युक्त है, जो ज्योति की भाँति अन्तः को प्रकाशित करता है, जो सभी कर्मों का सम्पादक है, वह हमारा मन शिव संकल्प से युक्त हो- **यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** (१ शि०सं० ३)। कामनाएँ संकल्प से उत्पन्न होती हैं। गीता (६.२४) में संकल्प से उत्पन्न सब कामनाओं को छोड़ने की बात कही गयी है। उपनिषद् में कहा गया है कि संकल्प ही मन का स्वरूप है, अतः सङ्कल्प को ही मन समझना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् न कर सका। सभी संकल्पों के विनष्ट होने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है-**सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित्। सङ्कल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते** (महो० ४.५३)।

२२७. संन्यास— द्र०- चतुराश्रम।

२२८. संन्यासी-यति— जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका हो और संसार के सभी आकर्षणों से वैराग्य लेकर मोक्ष प्राप्ति का प्रयास कर रहा हो। इन्हें परिव्राजक,यति, अवधूत, हंस, योगी आदि कहते हैं। संन्यासी को सभी प्रकार की आसक्ति का त्याग करना चाहिए। एक जगह पर अधिक समय नहीं रहना चाहिए। उसके अन्दर आत्मज्ञान का प्रकाश होना चाहिए। सर्वत्र समबुद्धि रखने वाला, हिंसा तथा माया से रहित, क्रोध एवं अहंभाव से विमुक्त संन्यासी कहलाता है। उपनिषद् के अनुसार सब कर्मों को छोड़कर अहन्ता और ममता को त्यागकर ब्रह्म की शरण में जाना और तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म आदि महावाक्यों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में रहना और स्वतंत्र यति के रूप में व्यवहार करना, ऐसा पुरुष संन्यासी है, मुक्त है, वही पूज्य योगी, परमहंस, अवधूत और वही ब्राह्मण है (निरा०३९)। संसार से विरक्त होकर केवल ब्रह्म प्राप्ति का यत्न करते हुए स्वतंत्र विचरण करने वाले यति कहलाते हैं। संन्यासियों के छः भेद प्रमुख रूप से वर्णित हैं- कुटीचक,बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। कर्मों को छोड़ देना या मैं संन्यासी हूँ, ऐसा कह देने से कोई संन्यासी नहीं हो जाता। समाधि अवस्था में जीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव होना ही संन्यास है। (मैत्रा० २.१७)।

२२९. सकाम-निष्काम कर्म— फल प्राप्ति की कामना से किया गया कर्म सकाम कर्म कहलाता है। इसके विपरीत कर्म में फल की इच्छा न करना निष्काम कर्म कहलाता है। निष्काम कर्म करने से पुरुष कर्म के बन्धन में बँधता नहीं है। गीता में कर्मफल की इच्छा न करने का निर्देश है, क्योंकि मनुष्य का अधिकार कर्म करने तक है, फल में नहीं-**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (गी०२.४७)। जो कर्मफल की आसक्ति (सकाम कर्म) को छोड़कर नित्य तृप्त और आश्रय रहित है, वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता अर्थात् कर्म बन्धन में नहीं पड़ता- **त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः** (गी०४.२०)। योगी पुरुष कर्मफल को त्यागकर (निष्काम कर्म द्वारा) निष्ठा से भरी शान्ति को प्राप्त होता है-**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्** (गी०५.१२)। ध्यान से कर्मफल का त्याग (निष्कामकर्म) श्रेष्ठ है,त्याग से शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है-**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्** (गी०१२.१२)।

२३०. सच्चिदानन्द— आत्मा अथवा परमात्मा को सच्चिदानन्द कहा गया है, क्योंकि यह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। शंकराचार्यजी ने तत्त्वबोध में लिखा है, जो तीनों कालों में विद्यमान रहता है, वह सत् है-**कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्**। आत्मा का सद्रूप होने का तात्पर्य उसका अमर, नित्य, शाश्वत, अजन्मा आदि होना है- **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे** (कठ०१.२.१८)। जिसकी सत्ता सदैव स्थापित रही है, वही सत् है। यह आत्मा चिद्रूप है। चित् का तात्पर्य है-चैतन्यता (ज्ञानयुक्त होना)। वह ज्ञानस्वरूप होने से प्रकाशस्वरूप भी है। उसी का प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है- **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** (कठ०२.२.१५)। यह आनन्द रूप है-निरतिशय अथवा सम्यक् सुखस्वरूप है। शंकराचार्य ने लिखा है- आनन्दमय आत्मा ही ब्रह्म है-**आनन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते** (ब्र०सू०-शाङ्कर भा०१.१.१२)।

२३१. सत्-असत्— सत् शब्द के पर्याय कोश ग्रन्थों में इस प्रकार हैं- ब्रह्म, अस्तित्व, सत्ता, सत्य, शाश्वत, सद्गुणी व्यक्ति, सज्जन, नित्य, स्थायी, श्रेष्ठ, पवित्र, अच्छा, सत्य धर्म। इसके विपरीत मिथ्या, अस्तित्वविहीन, सत्तारहित,

बुरा, असाधु, असत्य आदि असत् के पर्यायवाची शब्द हैं। सत्य की ही सदैव जय होती है- **सत्येनैव जयति** (मै०ब्रा०४.३.८)। सत्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए-**सत्यान्न प्रमदितव्यम्** (तैत्ति०१.११.१)। इस लोक में सत् ही परमेश्वर है। सत् के आधार पर ही सृष्टि और धर्म का अस्तित्व है। गीता में कहा है कि असत् का कोई अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है- **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** (गी०२.१६)। यज्ञ, तप और दान की स्थिति सत् है- **यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते** (गी०१७.२७)। सद्भाव और सज्जनता में 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है-**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते** (गी०१७.२६)। मुण्डकोपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य, जो सत्य के विजयी होने और असत्य के पराभूत होने का संकेत करता है, को भारत सरकार ने अपने राजचिह्न में स्वीकार किया है- **सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः** (मुण्ड०३.१.६)।

२३२. सत्त्व-रज-तम— सांख्य दर्शन के अनुसार समूची सृष्टि त्रिगुणात्मक है। ये तीन गुण हैं- सत्त्व, रज और तम। सत्त्व सबसे उत्तम है, इसके लक्षण हैं-ज्ञान, शान्ति, विवेक, सत्प्रवृत्ति आदि। यह आत्म तत्त्व, मूल तत्त्व तथा चेतन तत्त्व का भी बोधक है। वह परम पुरुष परमात्मा इन तीनों गुणों से परे है, अतः उसे त्रिगुणातीत भी कहा गया है। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, ये अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं-**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्** (गी०१४.५)। जब तक तीनों गुण समान रूप से विद्यमान रहते हैं, तब तक प्रकृति में हलचल-परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति मूलरूप में विद्यमान रहती है-**साम्यावस्था प्रकृतिः** (सां०सू० १.६१)। गीता में ही आगे भगवान् ने वर्णन किया है कि सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्म में और तमोगुण ज्ञान को ढँककर प्रमाद में लगाता है-**सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत** (गी०१४.९)। सत्त्व से ज्ञान, रज से लोभ तथा तम से प्रमाद,मोह,अज्ञान उत्पन्न होता है-**सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च** (गी०१४.१७)।

२३३. सप्तचक्र— योग साधना ग्रन्थों में 'षट्चक्र वेधन' प्रक्रिया का प्रायः उल्लेख पाया जाता है। मान्यता है कि षट्चक्र वेधन प्रक्रिया द्वारा कुण्डलिनी जागरण की क्रिया सम्पन्न होती है और वह जाग्रत् कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमन करती हुई सहस्रार स्थित शिवतत्त्व से जब मिल जाती है, तो योग (शिव-शक्तियोग) सिद्ध हो जाता है। साधक में अनेकानेक चमत्कारिक शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं और अन्त में वह मुक्ति का अधिकारी भी हो जाता है- **षट्चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम्** (यो०शि०६.७४,यो०कु०३.९,१२), **षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पञ्चकम्। स्व देहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्** (यो०चू०३)। योग साधना ग्रन्थों में जिन षट्चक्रों की प्रसिद्धि है, वे इस प्रकार हैं-१.मूलाधार,२.स्वाधिष्ठान,३.मणिपूर, ४.अनाहत,५.विशुद्धाख्य, ६.आज्ञाचक्र। इन षट्चक्रों के वेधन की प्रक्रिया सम्पन्न होने के बाद इससे परे सातवें चक्र तक कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वगमन होता है, तो साधक पूर्णता की स्थिति में पहुँच जाता है। वह सातवाँ चक्र 'सहस्रार चक्र' है, जिसमें सहस्र दल कमल होने की बात कही जाती है। इन सप्तचक्रों का विशद वर्णन तन्त्रसार, हठयोग प्रदीपिका जैसे योग साधना के ग्रन्थों में मिलता है।

२३४. सप्त जिह्वाएँ— यज्ञीय विधि-विधान के अन्तर्गत जहाँ अग्नि, समिधा, आज्य आदि का वर्णन पाया जाता है, वहीं 'अग्नि' का मानवीकरण (आधिदैविक) रूप भी प्राप्त होता है। 'अग्नि' जो उष्णता, ऊर्जा एवं प्रकाश आदि गुण विशिष्ट पदार्थ के रूप में देखा जाता है, वहीं 'अग्निदेव' के रूप में भी प्रतिष्ठित है। सामान्य प्राणी जिस प्रकार मुख-जिह्वा आदि अंगावयवों से युक्त हो भोजन आदि क्रियाएँ सम्पन्न करता है, उसी प्रकार अग्निदेव अपनी जिह्वाओं से आज्य आदि हव्य सामग्रियों को ग्रहण करते हैं- ऐसी प्रसिद्धि है। यह अग्नि का आधिदैविक-आलंकारिक स्वरूप है। 'अग्नि' की लपटें ही उसकी जिह्वाएँ हैं। पौराणिक ग्रन्थों के साथ ही उपनिषदों में भी अग्नि की सात जिह्वाओं (ज्वालाओं) का वर्णन मिलता है। मुण्डकोपनिषद् (१.२.४) में कहा गया है- **काली कराली च मनोजवा च, सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥** अर्थात् काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुची-ये उस (अग्नि) की लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं। वस्तुतः ये जिह्वाएँ ही अग्नि की लपटें-ज्वालाएँ हैं। इनके नामों से लगता है कि ये लाल, धुएँ युक्त, चिनगारी युक्त आदि गुण विशिष्ट अग्नि की लपटें हैं। इन्हें अग्निदेव की सात जिह्वाएँ कहा गया है। इसी को आगे सात दीप्तियाँ भी कहा गया है- **सप्तार्चिषः** (मुण्ड०२.१.८)।

२३५. सप्तयज्ञ— भारतीय संस्कृति में यज्ञ का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों-स्मृतियों में इसका विशद वर्णन प्राप्त होता है। इसी आधार पर यज्ञ के प्रमुखतः दो विभाग हैं-१. श्रौत यज्ञ, २. स्मार्त यज्ञ। इन दोनों विभागों के अन्तर्गत अनेकानेक प्रकार के यज्ञ आते हैं। यहाँ जिन सात यज्ञों का उल्लेख है, वे प्रायः दार्शनिक स्तर के हैं। मुण्डकोपनिषद् (२.१.८) में यह प्रकरण व्याख्यायित है- **सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।** सप्तहोम (यज्ञ) का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए शंकराचार्यजी लिखते हैं- **सप्त होमास्तदविषयविज्ञानानि 'यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति** (महानारायण० २५.१) **इति श्रुत्यन्तरात्'** अर्थात् सात होम यानी अपने विषयों के विज्ञान, जैसा कि 'इसका जो विज्ञान है, उसी को हवन करता है', इस अन्य श्रुति से सिद्ध होता है। यहाँ 'विषयों के विज्ञान' का तात्पर्य 'सप्तप्राण' (शीर्षस्थ इन्द्रियवर्ग) के विषयों का विशिष्ट ज्ञान है। इस विशिष्ट ज्ञान को जब आत्मलाभ-आत्मदर्शन के उद्देश्य से साधक होमता है- समर्पण करता है-त्यागता है, तो इसे ही सप्तयज्ञ या सप्तहोम कहा जाता है। यह दार्शनिक पहलू हुआ। इसका व्यावहारिक पहलू सात स्थूल यज्ञ वाला है- २ प्रातः-सायं का यज्ञ, १ दर्श (अमावस्या), १ पौर्णमास, १ चातुर्मास्य, १ आग्रयण, १ सांवत्सरिक- इस प्रकार कुल सात यज्ञ हुए।

२३६. सप्तलोक— द्र०-लोक।

२३७. सप्त समिधाएँ— यज्ञ में अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए समिधाओं की आवश्यकता पड़ती है। यज्ञीय प्रयोग शास्त्रों में विशिष्ट समिधाओं का उल्लेख मिलता है, यथा- आम्र, पलाश, खदिर, उदुम्बर (गूलर) आदि। उपनिषदों में ऐसे उल्लेख प्रायः दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ही पाये जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् (२.१.८) में 'इन्द्रियों के विषय' के लिए 'समिधा' शब्द का प्रयोग है और इस प्रयोग का कारण बताया गया है कि 'इन्द्रिय वर्ग' अपने विषयों से ही समिद्ध-प्रदीप्त हुआ करते हैं। वस्तुतः यह प्रकरण सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत आया है, जिसमें कहा गया है कि उस (विराट्) पुरुष (ब्रह्म) से ही सात प्राण (शीर्षस्थ सात इन्द्रियाँ- २ नेत्र, २ श्रवण, २ घ्राण और १ रसना) उत्पन्न हुए हैं। उसी से सात किरणें (दीप्तियाँ), सात समिधा, सात होम और जिनमें वे संचार करते हैं, वे सात स्थान प्रकट हुए हैं- **सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥** आचार्य शंकर ने 'सप्त समिधः' का भाष्य करते हुए लिखा है-**सप्त समिधः सप्त विषयाः, विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः** अर्थात् सप्त समिधा-सात शीर्षस्थ इन्द्रियों-प्राणों के विषय हैं, क्योंकि इन विषयों से ही प्राण-इन्द्रिय वर्ग समिद्ध-प्रदीप्त-सक्रिय होते हैं। इस प्रकार 'सप्त समिधा' यहाँ दार्शनिक परिप्रेक्ष्य (नेत्र, श्रोत्र, घ्राण एवं रसना के विषय रूप, शब्द, गन्ध एवं रस के अर्थ) में प्रयुक्त है।

२३८. समाधि— सामान्यतः चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। चित्तवृत्तियाँ जब विकारों से रहित विशुद्ध अवस्था को प्राप्त होती हैं, यह समाधि योग तभी लगता है। ऐसी अवस्था में चित्त विक्षेपरहित हो जाता है और लक्ष्य विशेष में समाहित और स्थिर हो जाता है। ध्यान की पराकाष्ठा को भी समाधि कहा गया है। योग के आठ अंगों में अन्तिम अंग समाधि है। इसे योग का चरम फल भी कहते हैं। इसमें साधक अपने चित्त को बाह्य जगत् से मोड़कर आत्मा में स्थित कर लेता है, ऐसी अवस्था में वह विविध शक्तियों को धारण करता है और अन्त में कैवल्य पद को प्राप्त होता है। योग दर्शन में समाधि के चार भेद बताये गये हैं- १. सम्प्रज्ञात, २. सवितर्क, ३. सविचार और ४. सानंद समाधि। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जैसे नमक जल में मिलने पर जल के समान हो जाता है, उसी प्रकार चित्त आत्मा के साथ मिलकर आत्मरूप हो जाता है। यह समाधि की पराकाष्ठा है- **सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते** (ह०प्र०४.५)। समाधि के प्रायः दो भेदों का निरूपण किया जाता है- १. सविकल्पक और २.निर्विकल्पक। जब साधक की चित्तवृत्ति अद्वितीय ब्रह्म में स्थिर हो जाती है, तब उसे कुछ काल के लिए अपने विषय में, ब्रह्म के विषय में तथा ज्ञान के विषय में बोध बना रहता है। जब तक ध्याता, ध्यान और ध्येय के विषय में पृथक् प्रतीति होती रहती है, उसे सविकल्पक समाधि कहते हैं और जब साधक समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध कर एकीभाव (अद्वैत भाव) से ध्येय में अवस्थित हो जाता है, उसे निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। उपनिषद् के अनुसार जो 'अहं ब्रह्मास्मि' का निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में लीन रहकर परम स्वतंत्र और यति स्वरूप होता है, वह पुरुष संन्यासी, वही मुक्त कहलाता है- **ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः** (निरा०३९)।

२३९. सम्भूति —द्र०-असम्भूति।

२४०. सर्ग-प्रतिसर्ग— सर्ग का सामान्य अर्थ सृष्टि या संसार से लिया जाता है। जगत् की उत्पत्ति या मूल-उद्गम को भी सर्ग कहा गया है। इसके विपरीतार्थक रूप में जगत् के प्रलय को प्रतिसर्ग कहते हैं। पुराणों में सृष्टि और प्रलय अर्थात् सर्ग-प्रतिसर्ग का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। महाभारत में विष्णु और शिव भगवान् के सहस्रनाम में सर्ग नाम उल्लिखित है। श्रीमद्भागवत पुराण (३.१०.१४-२६) में सर्ग का विस्तृत विवरण मिलता है। सृष्टि या कल्प के अर्थ में मनुस्मृति में भी सर्ग शब्द उपन्यस्त है-**हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्** (मनु०स्मृ०१.२९)। पुराणों के पाँच लक्षण, विषय या प्रकरण माने गये हैं- १. सर्ग (सृष्टि), २. प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, प्रलय और पुनः सृष्टि, ३. सृष्टि की आदि वंशावली, ४. मन्वन्तर और ५. वंशानुचरित। जगत् रचना के अन्तर्गत सृष्टि और प्रलय की सतत चलते रहने वाली परम्परा सर्ग-प्रतिसर्ग के रूप में वर्णित हुई है। उस ब्रह्म के संकोच से प्रलय तथा विकास से सृष्टि की रचना होती है- **यत्संकोच विकासाभ्यां जगत्प्रलय सृष्टयः** (महो०२.१०)।

२४१. सविता— सूर्य, आदित्य, दिवाकर को ही सविता कहा गया है। इन्हें जगत् के रचयिता, उत्पादक या स्रष्टा भी कहा गया है। वैदिक साहित्य में ये देवता रूप में प्रख्यात हैं। सूर्य के उदय होने वाले रूप को सविता कहते हैं। सविता सबके उत्पत्ति कर्त्ता होने के रूप में प्रख्यात हैं-**सवितारमाह सर्वस्य प्रसवितारम्** (निरु०८.३१)। अमरकोश में सविता के पर्याय इस प्रकार हैं-**भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः** (अ०को०१.३.३१)। सविता द्युलोक में स्थित हैं। आदित्य ही सविता और द्युलोक सावित्री है-**आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री** (सावि०६)। सविता को देवों के भी उत्पत्तिकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया गया है-**सविता वै देवानां प्रसविता** (जैमि०३.१८.३)। यही प्रजा का भरण-पोषण करने से 'भर्ग' कहलाता है। शत्रुओं का नाश करने से 'सूर्य', सबको उत्पन्न करने से सविता, सबको प्रकाश देने से 'आदित्य', सबको पवित्र करने से 'पवमान' और सबका अयन(आश्रय स्थान) होने से आदित्य कहलाता है-**इमाः प्रजास्तस्माद्भरगत्वाद्भर्गः। शश्वत्सूयमानत्वात्सूर्यःसवनात्सविताऽऽदानादादित्यः पवनात्पावमानोऽथायनादादित्यः** (मैत्रा० ५.७)।

२४२. साक्षात्कार— साक्षात्कार शब्द के पर्याय ज्ञान, अनुभूति, मिलन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि उल्लिखित हैं। आत्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म साक्षात्कार के दिव्य लक्ष्य को पाने के अभीप्सु साधक उपासना, यज्ञ, दान आदि कर्म में निरत रहते हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्यों का चिन्तन करते हुए अनुभूति की अवस्था से होकर साधक ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार करता है। वह अनुभव करने लगता है कि मैं ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव अद्वयरूप ब्रह्म हूँ।

२४३. साक्षी— द्र-अन्तर्यामी।

२४४. सांख्य — छः दर्शनों में एक दर्शन सांख्य दर्शन है, जिसके रचयिता महर्षि कपिल हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त निरूपित है। यह सृष्टि त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज, तम के योग से) विर्निमित है। जगत् की उत्पत्ति का मूल यह प्रकृति ही है। पाँचों तत्त्व और ग्यारह इन्द्रियाँ- ये प्रकृति हैं। सृष्टि के चार प्रमुख विधान हैं- प्रकृति-विकृति, विकृति-प्रकृति और अनुभव। आत्मा को पुरुष कहा गया है। इसमें ईश्वर की सत्ता न मानकर पुरुष और प्रकृति दो तत्त्वों को ही प्रधान माना गया है। पुरुष जगत् से अनासक्त होते हुए भी प्रकृति के कार्यों में बँधा हुआ प्रतीत होता है, जब वह ज्ञान से इस बन्धन को दूर करके यथार्थ अनुभव प्राप्त कर लेता है, तो यही मोक्ष कहलाता है। गीता में विवेचित है कि कितने ही पुरुष ध्यान योग के द्वारा परमात्मा को अपने अन्तःकरण में देखते हैं, दूसरे सांख्य योग द्वारा और कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं- **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे** (गी० १३.२४)।

२४५. साम— चारों वेदों में से एक वेद जिसका सम्बन्ध गायन से है, सामवेद कहलाया। मान्यता यह है कि वेद के पद्यबद्ध मन्त्रों को जब गायन विद्या से अनुप्राणित किया गया तो "सामवेद" बन गया। इसमें पद्य मन्त्रों को गान विद्या से जोड़ने से ज्ञान और भावना का सर्वोत्कृष्ट संयोग हुआ है। सामवेद के मन्त्रों को भी साम कहा गया है। साम की महत्ता गीता में भी प्रतिपादित हुई है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- **वेदानां सामवेदोऽस्मि**। वेद है ज्ञान,

साम है गान। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है- **गायन्ति हि साम** (शत०ब्रा०४.४.५.६)। वाणी को साम की प्रतिष्ठा कहकर निरूपित किया गया है-**वाग्वाव साम्नः प्रतिष्ठा** (जैमि० १.३९.३)। छान्दोग्योपनिषद् में साम की पञ्चविध उपासना का निर्देश है। ये पाँच प्रकार हैं- १. हिंकार, २. प्रस्ताव, ३.उद्गीथ, ४. प्रतिहार और ५. निधन- **लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिंकारः। अग्निः प्रस्तावः। अन्तरिक्षमुद्गीथः। आदित्यः प्रतिहारः। द्यौर्निधनम्** (छान्दो०२.२.१)।

२४६. सालोक्य— द्र०-पञ्चविध मुक्ति।

२४७. सावित्री— गायत्री की लौकिक शक्ति 'सावित्री' कहलाती है, जिसका सम्बन्ध स्थूल जगत् की शक्तियों से है। पारलौकिक शक्ति या ब्रह्मविद्या को गायत्री और वर्चस् या तेजस् को सावित्री माना गया है। आदित्य सविता है, तो प्रकाशमान द्यौ सावित्री है- **आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री** (सावि० ६)। अग्नि सविता है, तो पृथिवी सावित्री है-**अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री** (सावि० १)। वरुण सविता है, तो आपः सावित्री है-**वरुण एव सविता ऽऽपः सावित्री** (सावि० २)। सावित्री को जानने वाला मृत्यु बन्धन से तर जाता है और उसी लोक को प्राप्त होता है-**यो वा एतां सावित्रीमेवं वेदाऽप पुनर्मृत्युं तरति सावित्र्या एव सलोकतां जयति** (जैमि०४.२८.६)। ब्रह्म से वायु, वायु से ओंकार, ओंकार से सावित्री, सावित्री से गायत्री और गायत्री से लोकों की उत्पत्ति होती है-**ब्रह्मणो वायुः वायोरोंकारः ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति** (अ०शि०६)।

२४८. सिद्धि —द्र०-ऋद्धि।

२४९. सुषुप्ति —द्र०-जाग्रत्।

२५०. सुषुम्ना नाड़ी— उपनिषद् ज्ञान के अनुसार हृदयरूपी केन्द्र से सम्पूर्ण शरीर में नाड़ियों का जाल बिखरा हुआ है। हृदय देश में १०१ नाड़ियाँ हैं। हर नाड़ी की सौ-सौ शाखाएँ हैं और उनमें प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखाएँ हैं। इन सब नाड़ियों में व्यान वायु संचार करता है। इसे ही विज्ञानी नाड़ी संस्थान कहते हैं। हठयोग के अनुसार शरीर की तीन प्रधान नाड़ियों (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना) में से एक सुषुम्ना नाड़ी है। नासिका के वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिंगला और मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। इसे त्रिगुणमयी अर्थात् सूर्य, चन्द्र और अग्निस्वरूपिणी माना गया है। वैद्यक के अनुसार चौदह प्रधान नाड़ियों में से एक सुषुम्ना नाड़ी है, जो नाभि के मध्य स्थित है, जिससे अन्य सब नाड़ियाँ सम्बन्धित हैं। क्षुरिकोपनिषद् में सुषुम्ना नाड़ी का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। सुषुम्ना परम तत्त्व में लीन है और विरजा (विशुद्ध) ब्रह्मरूपिणी है। वाम नाड़ी इड़ा और दक्षिण नाड़ी पिंगला के बीच जो उत्तम स्थान है, उसे (सुषुम्ना को) जो जानता है, वह वेदविद् कहा जाता है-**सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु। तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्** (क्षुरि०१६-१७)। ध्यानयोग से सब नाड़ियाँ छेदी जाती हैं, परन्तु एक सुषुम्ना नहीं छेदी जाती-**छिद्यन्ते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते** (क्षुरि०१८)। योग दर्शन में इस ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी को कुण्डलिनी नाड़ी भी कहते हैं।

२५१. सूक्ष्मद्रष्टा— अत्यन्त छोटी-छोटी बातें समझ लेने वाला, विशिष्ट बुद्धिमान्, ऋषि, परमेश्वर, शिव आदि को सूक्ष्मद्रष्टा कहा गया है। तीव्र या बेधक दृष्टि रखने वाले, सूक्ष्म विषय को समझने वाले, कुशाग्र बुद्धि वाले सूक्ष्मद्रष्टा रूप में मान्य हैं। वह आत्मा समस्त प्राणियों में छिपा होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्मदर्शियों के द्वारा अतिसूक्ष्म बेधक दृष्टि से देखा जाता है-**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः** (कठ०१.३.१२)। वह परमात्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, हृदयगुहा के गुह्यस्थान में स्थित है और वही सम्पूर्ण विश्व की रचना करने वाला तथा अनेक रूप धारण करने वाला है-**सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्** (श्वेता०४.१४)।

२५२. सृष्टि-अतिसृष्टि— जगत् का आविर्भाव या संसार की उत्पत्ति को सृष्टि कहा जाता है। इस शब्द के अन्य पर्यायवाची शब्द हैं-उत्पत्ति, निर्माण, प्रकृति, उदारता, त्याग आदि। सृष्टि के आरम्भ में एक ही चेतन तत्त्व था, उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ-**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय** (छान्दो०६.२.३)। वह ब्रह्म (परमेश्वर) ही जगत् का कारण है। वह सर्वज्ञ और सर्वविद् ईश्वर जिसका तप ज्ञानमय है, उसी से हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, नाम, रूप और अन्न आदि उत्पन्न होते हैं- **यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं**

च जायते (मुण्ड०१.१.९)। उपनिषद् का कथन है कि जिससे ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति** (तैत्ति०३.१.१)। वह ब्रह्म जगत् की रचना कर उसमें अनुप्रविष्ट हो गया-**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** (तैत्ति०२.६.१)। कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् ने अपनी योगमाया से सृष्टि की रचना की। कुछ इसे जड़-चेतन के संयोग या पुरुष-प्रकृति के संयोग से उद्भूत मानते हैं। उत्कृष्ट सृष्टि या उत्कृष्ट रचना को अतिसृष्टि कहा गया है।

२५३. **सोऽहं**— जीव और ब्रह्म की एकता या अभेदता को प्रदर्शित करने वाले अनेक वाक्य वेदान्त शास्त्र में दृष्टिगोचर होते हैं। जीव अज्ञान भाव से ग्रसित होकर अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। **सोऽहं, शिवोऽहं, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि** प्रभृति वाक्यों के उपदेश वेदान्त शिक्षा में मिलते हैं। ये भाव अनुभूति के स्तर पर आने से ही इनसे अज्ञान तिमिर का नाश होता है। सोऽहं साधना से साधक को **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** तथ्य का बोध हो जाता है। वह चैतन्य ईश्वर 'सोऽहं' स्वरूप में एक होने पर भी शरीरों की भिन्नता के कारण वह 'जीव' बहुविध बन जाता है- **सोऽहमेकोऽपि देहारम्भक भेदवशाद्बहुजीवः** (निरा०५)। यह देह ही देवालय है, उसमें जीव केवल शिव ही है। जब मनुष्य का अज्ञानरूप निर्माल्य दूर हो जाता है, तब 'सोऽहं' भाव से उसको पूजना चाहिए- **देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः। त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्** (स्क०१०)।

२५४. **स्तोम**— स्तोम शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं-स्तुति, गुणगान, यज्ञ, समूह, राशि। वैदिक संहिताओं में प्रायः देवों के प्रति स्तोम ही संगृहीत हैं। साम गान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्दों को स्तोम कहा गया है। इस तथ्य की पुष्टि निम्न प्रतिपादन से होती है-**यद्ऋचि तद्वेत्था३ इति स्तोमो वा एष तस्य साम्नो यद्वयं सामोपास्महे इति** (जैमि०१.४३.६)। स्तोम को प्रतिहार और छन्द को निधनरूप माना गया है-**ऋचः प्रस्तावं सामान्युद्गीथं स्तोमं प्रतिहारं छन्दो निधनम्** (जैमि०१.१३.३)।

२५५. **स्थितता**— अपने ही हृदय की दिव्य भावनाओं में सन्तुष्ट एवं शान्त बने रहने वाले साधक की स्थिति को 'स्थितता' कहा जा सकता है। ऐसा साधक किसी भी भौतिक लिप्सा-लालसा से दूर रहता है और किसी भी बाह्य सुख की अपेक्षा नहीं करता। उपनिषद् में जनक-याज्ञवल्क्य संवाद में राजा जनक पूछते हैं-हे याज्ञवल्क्य! स्थितता क्या है? हे सम्राट्! हृदय ही स्थितता है-ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा (बृह०४.१.७)। स्थिर प्रज्ञा या बुद्धि वाले साधकों को गीता में स्थितप्रज्ञ या स्थितधी कहकर निरूपित किया गया है। गीता के अनुसार जब साधक मन में स्थित कामनाओं को त्याग देता है, तब आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है-**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः तदोच्यते** (गी०२.५५)।

२५६. **स्वधा**— द्र०-स्वाहा।

२५७. **स्वप्न**— निद्रावस्था में कुछ मूर्तियों, चित्रों, व्यक्तियों और विचारों आदि का सम्बद्ध या असम्बद्ध शृंखला का मन में आना या कोई घटना आदि दिखाई देना स्वप्न कहलाता है। ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में स्वप्न का उल्लेख हुआ है। ऋ०२.५८.१० में दुःस्वप्न का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (अ० ७७) में शुभाशुभ स्वप्नफल का विस्तृत वर्णन है। रात्रि में स्वप्नावस्था में पितृराज मनुष्यों में प्रविष्ट होते हैं-**अश्मसु सोमो राजा निशायां पितृराजः स्वप्ने मनुष्यान् प्रविशसि पयसा पशून्** (जैमि०४.५.२)। जाग्रत् अवस्था और उसके अधिष्ठाता की स्थिति नेत्र के भीतर है। स्वप्न और उसके अधिष्ठाता तैजस का कण्ठ में समावेश है। सुषुप्ति और उसके अधिष्ठाता प्राज्ञ हृदय में स्थित हैं और तुरीय परमात्मा मूर्धा (मस्तिष्क) में स्थित हैं- **नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्** (ना०प०५.२५)। जैसे स्वच्छ दर्पण में वस्तु स्पष्ट दीखती है, वैसे शुद्ध अन्तःकरण में परमात्मा के दर्शन होते हैं। जैसे स्वप्न में वस्तु अस्पष्ट दीखती है, वैसे ही पितृलोक में परमात्मा - **यथाऽऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके** (कठ०२.३.५)।

२५८. **स्वयम्भू-परिभू**— स्वयम्भू का शाब्दिक अर्थ है, जो स्वयं उत्पन्न हुआ हो-ब्रह्मा,विष्णु,शिव,बुद्ध,कामदेव आदि देवों को स्वयम्भू कहा गया है। यह शब्द ईश्वर के विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है। इसी रूप में 'परिभू' शब्द भी है, जिसका अर्थ है-जो चारों ओर से आच्छादित किये हो। प्रथम मनु को भी स्वयम्भू या स्वयम्भुव कहा गया है।

२५९. स्वर्ग्य अग्नि— स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाली अग्निविद्या को कठोपनिषद् में स्वर्ग्य अग्नि कहा गया है। यह अग्नि-विद्या यमराज ने नचिकेता को प्रदान की। नचिकेता ने दूसरे वर के रूप में यही माँगा था-**स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्** (१.१.१३)। यमराज ने इस स्वर्ग्य अग्नि को नाचिकेताग्नि नाम प्रदान किया। इसका तीन बार अनुष्ठान करने वाला ऋक्, यजु, साम तीनों से सम्बन्ध जोड़कर यज्ञ, दान, तप रूप त्रिकर्म करने वाला मनुष्य जन्म-मृत्यु से तर जाता है-**त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू** (कठ०१.१.१७)।

२६०. स्वस्ति— स्वस्ति शब्द के पर्याय कुशल-क्षेम, शुभकामना, कल्याण, आशीर्वाद आदि हैं। वैदिक संहिताओं में कई सूक्त माङ्गलिक पाठ या स्वस्ति पाठ के हैं, इन्हें स्वस्तिवाचन कहते हैं। सोम देवता से कल्याण करने की प्रार्थना की गई है-**सोमः स्वस्त्या** (तै०ब्रा०१.४.८.६)। ब्राह्मण से भी कल्याण की कामना की जाती है-**नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मे** (कठ०१.१.९)। उपनिषद् का निर्देश है कि परमात्मा का ओम् अक्षर के द्वारा स्मरण करो। अज्ञानमय अन्धकार से परे भवसागर के पार होने के लिए तुम्हारा कल्याण हो-**ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्** (मुण्ड०२.२.६)। संन्यासी सब जीवों का कल्याण हो, इस भाव से परमात्मा का अनन्य स्मरण करते हुए विचरण करे-**स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वाऽऽत्मानमनन्यं ध्यायन्** (क०रु०४)।

२६१. स्वाहा-स्वधा— स्वाहा का शाब्दिक अर्थ 'स्व+आ+हा' अपना सम्यक् रूप से त्याग या विसर्जन है। यज्ञ में याजक स्वाहा शब्द के उच्चारण के साथ आहुतियाँ देते हैं, हव्य पदार्थ विसर्जित करते हैं, इसे स्वाहाकार कहते हैं। पितरों को श्रद्धापूर्वक भोज्य पदार्थ पिंड या जल अर्पित करते समय स्वधा शब्द का उच्चारण करते हैं, इसे स्वधाकार कहते हैं। निरुक्तकार यास्क ने स्वाहा शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस प्रकार दिये हैं-**स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोति** ('स्वाहा' इस शब्द का सु=सुन्दर, आह=कथन तथा स्व=स्वत्व=आ=भली प्रकार, हा= समर्पण अर्थात् आहुति के रूप में सम्यक् समर्पण) (नि०८.२०)। पितर स्वधारूपी अन्न से ही आयु (जीवन) पाते हैं-**स्वधो वै पितृणामन्नम्** (शत०ब्रा० १३.८.१.४), **पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधयायुष्मन्तः** (तै०सं०२.३.१०.४), **स्वधां पितृभ्यः (आगायानि)** (छान्दो० २.२२.२)। उपनिषद् में वाणी को धेनुरूप मानकर उसके चार स्तन स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार उपन्यस्त हैं- **वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः-स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति, स्वाहाकारं च वषट्कारञ्च। हन्तकारं मनुष्याः। स्वधाकारं पितरः** (बृह० ५.८.१)। पुराणों में स्वाहा और स्वधा को अग्निदेव की दो पत्नियाँ माना गया है। देवों तक आहुति पहुँचाने का कार्य 'स्वाहा' तथा पितरों तक 'स्वधा' करती हैं- ऐसी प्रसिद्धि है।

२६२. हंस-परमहंस— हंस झीलों में रहने वाला एक जल पक्षी है। मान्यता है कि यह दूध में से पानी अलग कर देता है। ब्रह्म, आत्मा तथा प्रकाश स्वरूप जीवात्मा को भी हंस कहकर निरूपित किया गया है। अपने परम आराध्य या इष्ट,महात्मा,गुरु को भी आदर भाव से परमहंस कहा जाता है। इसे अध्यात्म तथा साहित्य क्षेत्र में नीर-क्षीर विवेक का प्रतीक माना गया है। सबके जीवन आधार और सबके आश्रयरूप विस्तृत ब्रह्मचक्र (व्यवस्था) में हंस रूप जीवात्मा भ्रमण करता रहता है-**सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे** (श्वेता० १.६)। वह हंस रूप परमात्मा ज्योतिर्मय परमधाम में रहने वाला है-**हंसः शुचिषद्** (कठ० २.२.२)। उपनिषद् में परमात्मतत्त्व ही हंस के रूप में वर्णित है-जो इस हृदय में स्थित अनाहत ध्वनियुक्त प्रकाशयुक्त चिदानन्द हंस को जानता है, वह हंस ही कहा जाता है-**अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम्। स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते** (ब्र०बि० २०-२१)। आदित्य को भी हंस कहा गया है-**एष (आदित्यः) वै हंसः शुचिषद्** (ऐत० ब्रा०४.२०)। संन्यासियों की चार श्रेणियाँ मानी गई हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। हंस शब्द का आशय है-सद् और असद् के विवेक की शक्ति से परिपूर्ण आत्मा। जिस आत्मा का परम विकास हो गया हो, उसे परमहंस कहा गया है।

२६३. हन्तकार— द्र०- वषट्कार ।

२६४. हय— द्र०-अश्व।

२६५. हर्ष-शोक— प्रिय या इष्ट वस्तु या व्यक्ति से उत्पन्न होने वाला सुखात्मक भाव हर्ष कहलाता है। इसका पर्याय आनंद, प्रसन्नता, रोमांच, कामोत्तेजना आदि है। इसके विपरीत अर्थ में 'शोक' शब्द का प्रयोग होता है। साधक साधना पथ से परमात्मा के निकट बढ़ने पर हर्ष को और उससे दूर होने पर शोक को प्राप्त होता है। उस परमात्मा को विवेकवान् पुरुष अध्यात्म योग के द्वारा समझकर हर्षशोक को त्याग देता है- **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं**

मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति (कठ० १.२.१२)। किसी इष्ट वस्तु अथवा प्रिय व्यक्ति के वियोग अथवा मृत्यु से उत्पन्न भारी मानसिक व्यथा अथवा विषादजन्य स्थिति को शोक कहा जाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, जीवात्मा बार-बार जन्मने और मरने वाला है, सो उसका शोक करना उचित नहीं-**अथ चैनं नित्यजातं, नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि** (गी० २.२६)।

२६६. हिरण्यगर्भ— ऐसी मान्यता है कि इस सृष्टि में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ (स्वर्णिम या ज्योतिर्मय अण्ड या गर्भ) रूप प्रजापति ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उन्हीं से समस्त सृष्टि का विस्तार हुआ। कहीं-कहीं हिरण्यगर्भ शब्द भगवान् विष्णु और आत्मा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। सृष्टि संरचना की परिकल्पना करते हुए परमात्मा की एक शक्ति की कल्पना की गयी। सृजन करने वाली इस शक्ति को पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति और ब्रह्मा आदि की संज्ञाएँ दी गयीं। भागवत पुराण में वर्णन मिलता है कि सृष्टि के आदि में भगवान् नारायण की प्रेरणा से ब्रह्माण्ड स्वर्ण जैसा प्रकाशमान गोलाकार अण्ड रूप में प्रकट हुआ था। उसके ऊर्ध्व और अधः दो भाग हो गये । उसी के बीच से ब्रह्मा जी प्रकट हुए। सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि करने वाले, प्राणियों के ईश्वर रूप में यह मान्यता है-**एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भुवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृग्घिरण्यगर्भः** (मैत्रा० ५.८)। उस विराट् परमेश्वर ने सबसे पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था-**हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु** (श्वेता० ३.४)।

२६७. हुत-प्रहुत— हवनीय द्रव्य को हवि, हविष्य या हुत कहते हैं। हवनादि कृत्य के लिए प्रयुक्त खाद्यान्न तिल, चावल, जौ आदि तथा घृत ये हुत के पर्याय हैं। यह यज्ञीय पदार्थ देवों का अन्न या देवान्न कहलाता है। देवों के लिए ही भोज्य पदार्थ या बलि अर्पित करना प्रहुत कहलाता है। उपनिषद् का कथन है कि परमात्मा ने दो अन्न देवों को बाँटे-वे हुत और प्रहुत हैं, इसलिए लोग देवों के लिए आहुति और बलि अर्पित करते हैं- **द्वे (अन्ने) देवानभाजयदिति। हुतं च प्रहुतं च। तस्माद् देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वति** (बृह० १.५.२)।

२६८. हृदय गुहा— प्रत्येक जीव या मनुष्य की हृदय गुहा में परम पुरुष परमात्मा का निवास है, ऐसी प्रसिद्धि है। प्रजापति आदि सम्पूर्ण देवताओं का निवास हृदय में माना गया है- **एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्। एतद्ब्रह्म** (बृह० ५.३.१), **हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः** (अ०शि०४३)। देवी अदिति प्राणों के सहित हृदय गुहा में प्रवेश करके वहीं रहती है- **या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत** (कठ० २.१.७)। वह परमात्मा अन्नमय स्थूल शरीर में हृदयगुहा के आश्रय में प्रतिष्ठित है- **प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय** (मुण्ड०२.२.७), **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेता० ६.११)। वास्तविक धर्म का-ज्ञान का तत्त्व हृदय गुहा में स्थित माना जाता है- **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्** (महा०वनपर्व ३१३.११७)।

२६९. हृदय ग्रन्थि— हृदय ग्रन्थि का सामान्य अर्थ है- हृदय की गाँठ। द्वेष, कपट, कुटिलता के अर्थ में यह लिया जाता है। सम्मोह या अविद्या से उत्पन्न होने वाले आन्तरिक विकार जो गाँठों की तरह न सुलझने वाले होते हैं और अन्तर् में पीड़ा देते रहते हैं, ये हृदय ग्रन्थियाँ कहे जाते हैं। विषय-विकारों, वासनाओं, इच्छाओं, तृष्णाओं को बन्धनरूप माना गया है, सो इन्हें भी हृदय ग्रन्थियों के रूप में माना जाता है। कठोपनिषद् का कथन है कि जब हृदय की सब ग्रन्थियाँ भली-भाँति खुल जाती हैं, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है-**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्** (कठ० २.३.१५)। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जब परम तत्त्व (परब्रह्म) का साक्षात्कार हो जाता है, तो हृदयग्रन्थि खुल जाती है और सारे भ्रम-सन्देह दूर हो जाते हैं। समस्त प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं और अन्ततःवह (जीवात्मा) मुक्त हो जाता है-**भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** (मुण्ड० २.२.८)।

२७०. होता— यज्ञ कर्त्ता या यज्ञ कराने वाले पुरोहित को होता कहा गया है। यज्ञ में मन्त्रोच्चारण करने वाला ऋत्विक् 'होता'रूप में मान्य है। यज्ञ में प्रमुख चार ऋत्विकों में एक 'होता' है- ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता और उद्गाता-इन चारों ऋत्विकों के तीन-तीन सहयोगी मिलाने से कुल सोलह ऋत्विक् बड़े यज्ञों में होते थे। होता के तीन सहयोगी मैत्रावरुण,अच्छावाक् और ग्रावस्तुत् कहलाते हैं। अग्निदेव यज्ञ सम्पन्न करते हैं, सो उन्हें भी होता कहकर निरूपित किया गया है- **अग्निरेव होताऽऽसीत्** (जै०ब्रा० ३.३७४)। अमरकोश (२.७.१७) के अनुसार ऋग्वेदवेत्ता 'होता' कहा जाता है। यज्ञ में यह ऋग्वेद के मंत्रों का पाठ करता है तथा देवों की स्तुति और आवाहन करता है।

मन्त्रानुक्रमणिका-ज्ञान खण्ड

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ॐअस्य श्री महावाक्य०	शु०र० २०
ॐ अकारो दक्षिण:	ना०बि० १
अकर्मेति च .....यत्तदकर्म	निरा० १२
अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा	बृह० ६.३.३
अग्निरेव सविता	गाय० ३.२
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी	मुण्ड० २.१.४
अग्निर्यत्राभिमथ्यते	श्वेता० २.६
अग्निर्यथैको	कठ० २.२.९
अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं	ऐत० १.२.४
अग्निर्हिङ्कारो वायु:	छान्दो० २.२०.१
अग्निष्टे पादं वक्तेति	छान्दो० ४.६.१
अग्ने नय सुपथा	ईश० १८
अग्राह्यमिति.... ग्राह्यत्	निरा० ३८
अघोषमव्यञ्जनमस्वरम्	अमृ० २५
अङ्गहीनानि वाक्यानि	शु०र० १६
अङ्गुष्ठमात्र:	श्वेता० ३.१३
अङ्गुष्ठमात्र:.... ज्योति:	कठ० २.१.१३
अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषो	कठ० २.३.१७
अङ्गुष्ठमात्र:..... मध्य	कठ० २.१.१२
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप:	श्वेता० ५.८
अच्युतोऽस्मि महादेव	स्कन्द० १
अजात इत्येवम्	श्वेता० ४.२१
अजामेकां लोहित.....	श्वेता० ४.५
अजा हिङ्कारोऽवय:	छान्दो० २.१८.१
अजीर्यताममृतानामुपेत्य	कठ० १.१.२८
अज्ञानजन बोधार्थं	ना०बि० २९
अज्ञानं चेति	ना०बि० २६
अज्ञानमिति .... ज्ञानमज्ञानम्	निरा० १४
अणिमाद्यष्टैश्च .... बन्ध:	निरा० २१
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा	श्वेता०३.२०
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य	कठ०१.२.२०
अत: समुद्रा गिरयश्च	मुण्ड० २.१.९
अतीन्द्रियं गुणातीतं	ना०बि० १८
अतो यान्यन्यानि	छान्दो० १.३.५
अत्र पिताऽपिता भवति	बृह० ४.३.२२
अत्र यजमान: .... रुद्रा	छान्दो० २.२४.१०

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अत्र यजमान: ..... वसव:	छान्दो० २.२४.६
अत्रैते श्लोका	मैत्रा० ४ (क)
अत्रैष देव:स्वप्ने	प्रश्न० ४.५
अत्स्यन्नं ..... पादौ	छान्दो० ५.१७.२
अत्स्यन्नं ..... प्राणस्त्वेष	छान्दो० ५.१४.२
अत्स्यन्नं .... बस्तिस्त्वेष	छान्दो० ५.१६.२
अत्स्यन्नं ..... मूर्धा त्वेष	छान्दो० ५.१२.२
अत्स्यन्नं .... संदेहस्वेष	छान्दो० ५.१५.२
अथ कबन्धी कात्यायन	प्रश्न० १.३
अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषा...	बृह० १.६.३
अथ किमेतैर्वा .... गन्धर्वा...	मैत्रा० १.६
अथ किमेतैर्वा .... महाधनुर्धरा..	मैत्रा० १.५
अथ किमेतैर्वा शोषणम्	मैत्रा० १.७
अथ खलु..... असौ	छान्दो० १.५.१
अथ खलु व्यानमेवोद्गीथम्	छान्दो० १.३.३
अथ खलु.... होतृ....	छान्दो० १.५.५
अथ खलूद्गीथाक्षराणि	छान्दो० १.३.६
अथ खल्वमुमादित्यः	छान्दो० २.९.१
अथ खल्वात्मसंमितम्	छान्दो० २.१०.१
अथ खल्वाशी:	छान्दो० १.३.८
अथ खल्वियम्	मैत्रा० २.३
अथ खल्वेतयर्चा पच्छ	छान्दो० ५.२.७
अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा	बृह० १.३.१४
अथ जुहोति नम:	छान्दो० २.२४.१४
अथ जुहोति नमोऽग्नये	छान्दो० २.२४.५
अथ जुहोति नमो वायवे	छान्दो० २.२४.९
अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य	छान्दो० ३.११.१
अथ तथा मुद्गलोपनिषदि	मुद्ग० २.१
अथ त्रयो वाव लोका:	बृह० १.५.१६
अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ	छान्दो० ५.२.६
अथ भगवान्शाकायन्य:	मैत्रा० २.१
अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा	बृह० १.३.१६
अथ महावाक्यानि	शु०र० २२
अथ य आत्मा स सेतु	छान्दो० ८.४.१
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिल:	बृह० ६.४.१५
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो	बृह० ६.४.१८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो	बृह० ६.४.१६
अथ य इच्छेद्दुहिता मे	बृह० ६.४.१७
अथ य इमे ग्रामे	छान्दो० ५.१०.३
अथ य एतदेवम्	छान्दो० ५.२४.२
अथ य एतदेवं विद्वान्	छान्दो० १.७. ७
अथ य एष सम्प्रसादो०	छान्दो० ८.३.४
अथ य एषोऽन्तरक्षिणि	छान्दो० १.७.५
अथ य एषो बाह्या	मैत्रा० २.२
अथ य एषोऽन्तरे	मैत्रा० ५.२
अथ यच्चतुर्थममृतम्	छान्दो० ३.९.१
अथ यत्तदजायत	छान्दो० ३.१९.३
अथ यत्तपो दानम्	छान्दो० ३.१७.४
अथ यत्तृतीयममृतम्	छान्दो० ३.८.१
अथ यत्पञ्चममृतम्	छान्दो० ३.१०.१
अथ यत्प्रथमास्तमिते	छान्दो० २.९.८
अथ यत्प्रथमोदिते	छान्दो० २.९.३
अथ यत्रैतत्पुरुषः	छान्दो० ६.८.५
अथ यत्रैतदबलिमानम्	छान्दो० ८.६.४
अथ यत्रैदस्माच्छरीराद्	छान्दो० ८.६.५
अथ यत्रैतदाकाशम्	छान्दो० ८.१२.४
अथ यत्रोपाकृते	छान्दो० ४.१६.४
अथ यत्सङ्गववेलाया	छान्दो० २.९.४
अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते	छान्दो० ८.५.२
अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने	छान्दो० २.९.५
अथ यथेयं कौत्सायनी	मैत्रा० ४.४ (ठ)
अथ यदतः परो	छान्दो० ३.१३.७
अथ यदनाशकायनमित्या	छान्दो० ८.५.३
अथ यदवोच ः	छान्दो० ३.१५.७
अथ यदवोचं भुवः	छान्दो० ३.१५.६
अथ यदवोचं भूः	छान्दो० ३.१५.५
अथ यदश्नाति	छान्दो० ३.१७.२
अथ यदा सुषुप्तो भवति	बृह०२.१.१९
अथ यदास्य वाङ्	छान्दो० ६.१५.२
अथ यदि गन्धमाल्य	छान्दो० ८.२.६
अथ यदि गीतवादित्र	छान्दो० ८.२.८
अथ यदि तस्याःकर्ता	छान्दो० ६.१६.२
अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे	छान्दो० ८.१.१
अथ यदि द्विमात्रेण	प्रश्न० ५.४
अथ यदि महज्जिगमिषेद्	छान्दो० ५.२.४
अथ यदि भ्रातृलोक कामो	छान्दो० ८.२.३
अथ यदि मातृलोक	छान्दो० ८.२.२
अथ यदि यजुष्टो	छान्दो० ४.१७.५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ यदि सखिलोक	छान्दो० ८.२.५
अथ यदि सामतो	छान्दो० ४.१७.६
अथ यदि स्त्रीलोक कामो	छान्दो० ८.२.९
अथ यदि स्वसृलोक कामो	छान्दो० ८.२.४
अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं	छान्दो० ४.१५.५
अथ यदूर्ध्वं मध्यम्	छान्दो० २.९.६
अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्	छान्दो०२.९.७
अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लम्	छान्दो० १.७.४
अथ यदेतदादित्यस्य	छान्दो० १.६.५
अथ यदेवैतदादित्यस्य	छान्दो० १.६.६
अथ यद्द्वितीयममृतं	छान्दो० ३.७.१
अथ यद्धसति	छान्दो० ३.१७.३
अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते	छान्दो० ८.५.१
अथ यद्यन्नपानलोक कामो	छान्दो० ८.२.७
अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्त०	छान्दो० ७.१५.३
अथ यद्युदक आत्मानम्	बृह० ६.४.६
अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत	छान्दो० २.२२.४
अथ यस्य जायामार्तवम्	बृह० ६.४.१३
अथ यस्य जायायै	बृह० ६.४.१२
अथ य..... हृत्पुष्कर	मैत्रा० ५.२
अथ या एता हृदयस्य	छान्दो० ८.६.१
अथ यां चतुर्थीम्	छान्दो० ५.२२.१
अथ यां तृतीयाम्	छान्दो० ५.२१.१
अथ यां द्वितीयाम्	छान्दो० ५.२०.१
अथ यानि चतुश्चत्वारि	छान्दो० ३.१६.३
अथ यान्यष्टाचत्वारि	छान्दो० ३.१६.५
अथ यां पञ्चमीम्	छान्दो० ५.२३.१
अथ यामिच्छेद्दधीतेति	बृह० ६.४.११
अथ यामिच्छेन्न गर्भंदधीत	बृह० ६.४.१०
अथ ये चास्येह	छान्दो० ८.३.२
अथ ये यज्ञेन दानेन	बृह० ६.२.१६
अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मय	छान्दो० ३.२.१
अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो	छान्दो० ३.३.१
अथ येऽस्योदञ्चो	छान्दो० ३.४.१
अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता	छान्दो० ३.५.१
अथ योऽयमूर्ध्वा	मैत्रा० २.७
यो वेदेदं मन्वानीति	छान्दो० ८.१२.५
अथ योऽस्य दक्षिणः	छान्दो० ३.१३.२
अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः	छान्दो० ३.१३.३
अथ योऽस्योदङ् सुषिः	छान्दो० ३.१३.४
अथ योऽस्योर्ध्वः	छान्दो० ३.१३.५
अथ रहस्योपनिषद्....	शु०र० ३०

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ रूपाणां चक्षुः	बृह० १.६.२
अथर्वणे यां प्रवदेत	मुण्ड० १.१.२
अथ वꣳशः । पौतिभाषी	बृह० ६.५.१
अथ वꣳशः पौतिमाष्यात्	बृह० ४.६.१
अथ वꣳशः पौतिमाष्यो	बृह०२.६.१
अथ वायुमब्रुवन्	केन०३.७
अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा	बृह० १.३.१५
अथ सप्तविधस्य वाचि	छान्दो० २.८.१
अथ ह चक्षुरुद्गीथम्	छान्दो० १.२.४
अथ ह चक्षुरूचुस्त्वम्	बृह० १.३.४
अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष	छान्दो० ५.१.१२
अथ ह प्राणं उत्क्रमि-	बृह० ६.१.१३
अथ ह प्राणमत्यवहत्	बृह० १.३.१३
अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न	बृह० १.३.३
अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि	छान्दो० ५.१.६
अथ ह मन उद्गीथम्	छान्दो० १.२.६
अथ ह मन ऊचुस्त्वम्	बृह० १.३.६
अथ ह य एतानेवम्	छान्दो० ५.१०.१०
अथ ह य एवायं मुख्यः	छान्दो० १.२.६
अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे	बृह० ४.५.१
अथ ह वाचक्रव्युवाच	बृह० ३.८.१
अथ ह वाचमुद्गीथम्	छान्दो० १.२.३
अथ ह शौनकं च	छान्दो० ४.३.५
अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वम्	बृह० १.३.५
अथ ह श्रोत्रमुद्गीथम्	छान्दो० १.२.५
अथ ह हꣳसा निशायाम्	छान्दो० ४.१.२
अथ हाग्रयः समूदिरे	छान्दो० ४.१०.४
अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव	छान्दो० ८.९.१
अथ हेममासन्यम्	बृह० १.३.७
अथ हैनं कहोलः	बृह० ३.५.१
अथ हैनं कौसल्यः	प्रश्न० ३.१
अथ हैनं गार्गी वाच०	बृह० ३.६.१
अथ हैनं गार्हपत्यो०	छान्दो० ४.११.१
अथ हैनं जारत्कारव	बृह० ३.२.१
अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद	छान्दो० १.११.८
अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद	छान्दो० १.११.४
अथ हैनं भार्गवो	प्रश्न० २.१
अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः	बृह० ३.३.१
अथ हैनं मनुष्या ऊचुः	बृह० ५.२.२
अथ हैनमन्वाहार्यपचनो	छान्दो० ४.१२.१
अथ हैनमसुरा ऊचुः	बृह० ५.२.३
अथ हैनमाहवनीयः	छान्दो० ४.१३.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ हैनमुद्गातोपससाद	छान्दो० १.११.६
अथ हैनमुद्दालक आरुणिः	बृह० ३.७.१
अथ हैनमुषस्तश्चाक्रा०	बृह० ३.४.१
अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद	छान्दो० ४.५.१
अथ हैनं यजमान उवाच	छान्दो० १.११.१
अथ हैनं वागुवाच	छान्दो० ५.१.१३
अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः	बृह० ३.९.१
अथ हैनं शैब्यः	प्रश्न० ५.१
अथ हैनं श्रोत्रमुवाच	छान्दो० ५.१.१४
अथ हैनं सुकेशा	प्रश्न० ६.१
अथ हैनं सौर्यायणी	प्रश्न० ४.१
अथ होवाच जनꣳ शार्क	छान्दो० ५.१५.१
अथ होवाच बुडिलमाश्व	छान्दो० ५.१६.१
अथ होवाच ब्राह्मणाः	बृह० ३.९.२७
अथ होवाच सत्ययज्ञम्	छान्दो० ५.१३.१
अथ होवाचेन्द्र द्युम्नम्	छान्दो० ५.१४.१
अथ होवाचोद्दालकम्	छान्दो० ५.१७.१
अथात आत्मादेश एवा	छान्दो० ७.२५.२
अथातः पवमानानामे०	बृह० १.३.२८
अथातः शौव उद्गीथः	छान्दो० १.१२.१
अथातः सम्प्रत्तिर्यदा	बृह० १.५.१७
अथातो रहस्योपनिषदम्	शु०र० १
अथातो व्रतमीमा ꣳ सा	बृह० १.५.२१
अथात्मनेऽन्नाद्यमागा०	बृह० १.३.१७
अथादित्य उदयन्	प्रश्न० १.६
अथाधिदैवतं ज्वालिष्यामि	बृह० १.५.२२
अथाधिदैवतं य एवासौ	छान्दो० १.३.१
अथाध्यात्मं अधरा	तैत्ति० १.३.४
अथाध्यात्मं प्राणो वाव	छान्दो० ४.३.३
अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तम्	बृह० २.३.४
अथाध्यात्मं य एवायम्	छान्दो० १.५.३
अथाध्यात्मं यदेतद्	केन० ४.५
अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः	छान्दो० १.७.१
अथानु किमनुशिष्टः	छान्दो० ५.३.४
अथानेनैव ये चैतस्मात्	छान्दो० १.७.८
अथान्यत्राप्युक्तं-अथखलु	मैत्रा० ५.४
अथान्यत्राप्युक्तं - महानदी-	मैत्रा० ४.२
अथान्यत्राप्युक्तं - यः कर्ता	मैत्रा० ३.३
अथान्यत्राप्युक्तं - शरीरमिदं	मैत्रा० ३.४
अथान्यत्राप्युक्तं - संमोहो	मैत्रा० ३.५
अथान्यत्राप्युक्तं - स्वनवत्येषा०	मैत्रा० ५.५
अथाभिप्रातरेव स्थाली	बृह० ६.४.१९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथामूर्तं प्राणश्च यश्च	बृह० २.३.५
अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षम्	बृह० २.३.३
अथावृत्तेषु द्यौर्हिङ्कारः	छान्दो० २.२.२
अथाव्यात्तम् वा	मैत्रा० ५.६
अथास्य दक्षिणं कर्णम०	बृह० ६.४.२५
अथास्य नाम करोति	बृह० ६.४.२६
अथास्य मातरमभिम.	बृह० ६.४.२८
अथास्या ऊरू विहापयति	बृह० ६.४.२१
अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च	बृह० १.४.६
अथेन्द्रमब्रुवन्	केन० ३.११
अथैकयोर्ध्व उदानः	प्रश्न० ३.७
अथैतद्वामेऽक्षणि	बृह० ४.२.३
अथैतयोः पथोर्न कतरेण	छान्दो० ५.१०.८
अथैतस्य प्राणस्यापः	बृह० १.५.१३
अथैतस्य मनसो द्यौः	बृह० १.५.१२
अथैनमग्नये	बृह० ६.२.१४
अथैनमभिमृशति	बृह० ६.३.४
अथैनमाचामति	बृह० ६.३.६
अथैनं मात्रे प्रदाय	बृह० ६.४.२७
अथैनमुद्यच्छत्याम	बृह० ६.३.५
अथैनामभिपद्यते	बृह० ६.४.२०
अथैनं वसत्योपमन्त्रया.	बृह० ६.२.३
अथैष श्लोको भवति	बृह० १.५.२३
अथो अयं वा आत्मा	बृह० १.४.१६
अथोताप्याहुः	छान्दो० २.१.३
अथोपांशुरन्तर्यामि	मैत्रा० २.८
अथोत्तरेण	प्रश्न० १.१०
अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च	बृह० १.५.२०
अधिष्ठाने तथा	ना०बि० २८
अधीहि भगव इति	छान्दो० ७.१.१
अध्यस्तस्य कुतो	ना०बि० २५
अनन्दानाम ते लोका	बृह० ४.४.११
अनात्मदृष्टेरविवेक-	शु०र० ३९
अनाद्यनन्तम्	श्वेता० ५.१३
अनिरुक्तस्त्रयोदशः	छान्दो० १.१३.३
अनुपश्य यथा	कठ० १.१.६
अनुवजत्राजुहाव	शु०र० ५१
अनेजदेकं मनसो	ईश० ४
अनेन विधिना	अमृ० २९
अन्तरङ्ग समुद्रस्य	ना०बि० ४६
अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः	छान्दो० १.६.२
अन्तरिक्षोदरः कोशो	छान्दो० ३.१५.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अन्ते तु किंकिणी वंश	ना०बि० ३५
अन्तेवास्युत्तररूपम्	तैत्ति० १.३.३
अन्धं तमः प्रविशन्ति	बृह० ४.४.१०
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्याम्	ईश० ९
अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिम्	ईश० १२
अन्धवत्पश्य रूपाणि	अमृ० १५
अन्नकार्याणां कोशानां	सर्व० ५
अन्नं न निन्द्यात्	तैत्ति० ३.७.१
अन्नं न परिचक्षीत	तैत्ति० ३.८.१
अन्नं ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.२.१
अन्नं ब्रह्मेत्येक आहु.	बृह० ५.१२.१
अन्नं बहु कुर्वीत	तैत्ति० ३.९.१
अन्नमय प्राणमय०	मुद्ग० ४.५
अन्नमयꣳ हि सोम्य	छान्दो० ६.५.४
अन्नमयꣳ हि सोम्य मनः	छान्दो० ६.६.५
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते	छान्दो० ६.५.१
अन्नमिति होवाच	छान्दो० १.११.९
अन्नं वाव बलाद् भूयस्त-	छान्दो० ७.९.१
अन्नं वै प्रजापतिः	प्रश्न० १.१४
अन्नाद्वै प्रजाः	तैत्ति० २.२.१
अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव	कठ० १.२.१
अन्यतरामेव वर्तनी	छान्दो० ४.१६.३
अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्	कठ० १.२.१४
अन्यदेवाहुः	ईश० १३
अन्यदेवाहुर्विद्यया	ईश० १०
अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं	शु०र० ४४
अपां का गतिरित्यसौ	छान्दो० १.८.५
अपाणिपादो जवनो	श्वेता० ३.१९
अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति	छान्दो० ५.२१.२
अपामपोऽग्निः	मैत्रा० ४.४(ञ)
अपाꣳ सोम्य पीयमानानाम्	छान्दो० ६.६.३
अप्राणो ह्यमनाः	सर्व० १७
अब्भ्रमेव सविता	गाय० ३.८
अभिमन्थति स हिङ्कारा	छान्दो० २.१२.१
अभेददर्शनं ज्ञानम्	स्कन्द० ११
अभ्यस्यमानो नादोऽयम्	ना०बि० ३२
अभ्रं भूत्वा मेधो भवति	छान्दो० ५.१०.६
अभ्राणि संप्लवन्ते	छान्दो० २.१५.१
अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः	माण्डू० १२
अमृतत्वं देवेभ्यः	छान्दो० २.२२.२
अयं चन्द्रः सर्वेषाम्	बृह० २.५.७
अयं धर्मः सर्वेषां भूतानाम्	बृह० २.५.११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अयमग्निर्वैश्वानरो	बृह० ५.९.१
अयमग्निः सर्वेषां भूतानाम्	बृह० २.५.३
अयमाकाशः सर्वेषाम्	बृह० २.५.१०
अयमात्मा सर्वेषां भूतानाम्	बृह० २.५.१४
अयमादित्यः सर्वेषाम्	बृह० २.५.५
अयं वाव खल्वस्य	मैत्रा० ४.३
अयं वाव लोको	छान्दो० १.१३.१
अयं वाव स .....पुरुष	छान्दो० ३.१२.८
अयं वाव स .....हृदय	छान्दो० ३.१२.९
अयं वायुः सर्वेषाम्	बृह० २.५.४
अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम	बृह० ६.२.११
अयꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषाम्	बृह० २.५.९
अरण्योर्निहितो	कठ० २.१.८
अरा इव रथनाभौ कला	प्रश्न० ६.६
अरा इव रथनाभौ प्राणे	प्रश्न० २.६
अरा इव स्थनाभौ संहता	मुण्ड० २.२.६
अरिष्टं कोशम्	छान्दो० ३.१५.३
अविद्यायां बहुधा	मुण्ड० १.२.९
अविद्यायामन्तरे	मुण्ड० १.२.८
अविद्यायामन्तरे	कठ० १.२.५
अव्यक्तातु	कठ० २.३.८
अविः संनिहितम्	मुण्ड० २.२.१
अशक्यः सोऽन्यथा	मन्त्रि० ३
अशनापिपासे मे सोम्य	छान्दो० ६.८.३
अशनायापिपासा.	मुद्र० ४.७
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं	कठ० १.३.१५
अशरीर ꣳशरीरेषु	कठ० १.२.२२
अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्	छान्दो० ८.१२.२
अशीतिश्च शतम्	अमृ० ३४
अष्टपादं शुचिम्	मंत्रि० १
असद्वा इदमग्र	तैत्ति० २.७.१
असन्नेव स भवति	तैत्ति० २.६.१
असिपद महामन्त्रस्य	शु०र० २७
असूर्या नाम ते	ईश० ३
असौ वा आदित्यो	छान्दो० ३.१.१
असौ वाव लोको	छान्दो० ५.४.१
असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम	बृह० ६.२.९
अस्तमित आदित्ये....चन्द्रः	बृह० ४.३.४
अस्तमित आदित्ये याज्ञ-	बृह० ४.३.३
अस्तमित आदित्ये....शान्ते-	बृह० ४.३.६
अस्तमित आदित्ये....शान्ते	बृह० ४.३.५
अस्ति खल्वन्योऽपरो	मैत्रा०३.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अस्तीत्येवोपलब्ध-	कठ० २.३.१३
अस्य यदेकाꣳ शाखाम्	छान्दो० ६.११.२
अस्य लोकस्य का	छान्दो० १.९.१
अस्य विस्रंसमानस्य	कठ० २.२.४
अस्य सोम्य महतो	छान्दो० ६.११.१
अहमन्नमहमन्नम-	तैत्ति०३.१०.६
अहरेव सविता	गाय० ३.६
अहर्वा अश्वं पुरस्तात्	बृह० १.१.२
अहल्लिकेति होवाच	बृह० ३.९.२५
अहं वृक्षस्य रेरिवा	तैत्ति०१.१०.१
अहोरात्रो वै प्रजापतिः	प्रश्न० १.१३
आकाश एव यस्याय	बृह०३.९.१३
आकाशो वाव तेजसो	छान्दो० ७.१२.१
आकाशो वै नाम	छान्दो० ८.१४.१
आगमस्याविरोधेन	अमृ० १७
आगाता ह वै कामानां	छान्दो०१.२.१४
आग्रि वेश्यादाग्रिवेश्यो	बृह०४.६.२
आग्रिवेश्यादाग्रिवेश्यः	बृह० २.६.२
आज्ञाभय....बन्धः	निरा० २५
आत्मन एष प्राणो	प्रश्न० ३.३
आत्मानं चेद्विजानीयाद०	बृह०४.४.१२
आत्मानमन्तत उपसृत्य	छान्दो० १.३.१२
आत्मानं रथिनं	कठ० १.३.३
आत्मानं सततं	ना० बि० २१
आत्मा वा इदमेक	ऐत० १.१.१
आत्मेश्वर जीवः	सर्व० २
आत्मैवेदमग्र आसीत्	बृह० १.४.१
आत्मैवेदमग्र आसीदेक	बृह० १.४.१७
आत्रेयी पुत्रादात्रेयीपुत्रो	बृह० ६.५.२
आदित्प्रत्नस्य रेतसः	छान्दो० ३.१७.७
आदित्य इति होवाच	छान्दो० १.११.७
आदित्य ऊकारो	छान्दो० १.१३.२
आदित्य एव सविता	गाय० ३.४
आदित्यमथ वैश्वदेवम्	छान्दो० २.२४.१३
आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः	छान्दो० ३.१९.१
आदित्यो ह वै प्राणः	प्रश्न० १.५
आदित्यो ह वै बाह्यः	प्रश्न० ३.८
आदिरिति द्व्यक्षरम्	छान्दो० २.१०.२
आदिः स संयोग-	श्वेता० ६.५
आदौ जलधिजीमूतभेरी	ना० बि० ३४
आनन्दो ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.६.१
आप एव ... हृदयम्	बृह० ३.९.१६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
आप एवेदमग्र आसुस्ता	बृह० ५.५.१
आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते	छान्दो० ६.५.२
आपयिता ह वै कामानाम्	छान्दो० १.१.७
आपो वा अर्कस्तद्यदपाः	बृह० १.२.२
आपो वावात्राद्भूयस्यः	छान्दो० ७.१०.१
आप्नोतिहादित्यस्य	छान्दो० २.१०.६
आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः	तैत्ति० १.४.२
आरभ्य कर्माणि	श्वेता० ६.४
आराममस्य पश्यन्ति	बृह० ४.३.१४
आविः संनिहितं	मुण्ड० २.२.१
आशा प्रतीक्षे	कठ० १.१.८
आशा वाव स्मरादभूयस्या०	छान्दो० ७.१४.१
आसीनो दूरं	कठ० १.२.२१
आसुरमिति.... आसुरम्	निरा० ३४
इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः	छान्दो० ५.९.१
इदं निरालम्बोप. ....इत्युपनिषत्	निरा० ४०
इदं मानुषः सर्वेषाम्	बृह० २.५.१३
इदमिति ह प्रतिजज्ञे	छान्दो० ४.१४.३
इदं वाव तज्ज्येष्ठाय	छान्दो० ३.११.५
इदं वै तन्मधु... तद्वाम	बृह० २.५.१६
इदं वै तन्मधु- दधीचे.	बृह० २.५.१७
इदं वै तन्मधु... द्रूप	बृह० २.५.१९
इदं वै तन्मधु.. पुरश्चक्रे	बृह० २.५.१८
इदं सत्यः सर्वेषाम	बृह० २.५.१२
इन्द्रस्त्वं प्राण	प्रश्न० २.९
इन्द्रियाणां पृथग्भाव०	कठ० २.३.६
इन्द्रियाणि हयानाहुः	कठ० १.३.४
इन्द्रियेभ्यः परं	कठ० २.३.७
इन्द्रियेभ्यः पराः	कठ० १.३.१०
इन्धो ह वै नामैष	बृह० ४.२.२
इमा आपः सर्वेषाम्	बृह० २.५.२
इमा दिशः सर्वेषाम्	बृह० २.५.६
इमामेव गोतमभरद्वाजा.	बृह० २.२.४
इमाः सोम्य नद्यः	छान्दो० ६.१०.१
इयं पृथिवी सर्वेषाम्	बृह० २.५.१
इयमेवर्गग्निः	छान्दो० १.६.१
इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानाम्	बृह० २.५.८
इष्टापूर्तं मन्यमाना	मुण्ड०१.२.१०
इह चेदवेदीदथ	केन० २.५
इह चेदशकद्बोद्धुं	कठ० २.३.४
इहैव सन्तोऽथ विद्म.	बृह० ४.४.१४
ईशावास्यमिदम्	ईश० १
ईश्वर उवाच एवमुक्त्वा	शु०र० ४६
ईश्वर उवाच- मयोपदिष्टे	शुक० ६
उक्थं प्राणो वा उक्थम्	बृह० ५.१३.१
उत्क्षिप्य वायुमाकाशम्	अमृत० १२
उत्तिष्ठत जाग्रत	कठ० १.३.१४
उत्पत्तिमायतिं स्थानं	प्रश्न० ३.१२
उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने	ना० विन्दु० २२
उदशराव आत्मानमेवेक्ष्य	छान्दो० ८.८.१
उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति	छान्दो० ५.२३.२
उदासीनस्ततो	ना० बिन्दु० ४०
उद्गीतमेतत्परमम्	श्वेता० १.७
उद्गीथ इति त्र्यक्षरम्	छान्दो० २.१०.३
उद्गृह्णाति तन्निधनं	छान्दो० २.३.२
उद्दालको हाऽऽरुणिः	छान्दो० ६.८.१
उद्यन्हिङ्कार उदितः	छान्दो० २.१४.१
उपकोसलो ह वै	छान्दो० ४.१०.१
उपदिष्टं परम्ब्रह्म	शु० र० १२
उपदिष्टः शिवेनेति	शु० र० ४९
उपनिषदं भो	केन० ४.७
उपमन्त्रयते स हिङ्कारो	छान्दो० २.१३.१
उपास्य इति... गुरुरुपास्यः	निरा० ३०
उशन् ह वै	कठ० १.१.१
उषा वा अश्वस्यमेध्यस्य	बृह० १.१.१
उष्णमेव सविता	गाय० ३.७
ऊर्ध्वं प्राणमुन्न०	कठ० २.२.३
ऊर्ध्वमूलोऽ वाक् शाख	कठ० २.३.१
ऋग्भिरेतं यजुर्भिः	प्रश्न० ५.७
ऋग्वेदो गार्हपत्यम्	प्रणव० ४
ऋचो अक्षरे परमे	श्वेता० ४.८
ऋचो यजूंषि प्रसवन्ति	एका० ७
ऋचो यजूंषि सामा.	बृह० ५.१४.२
ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने	तैत्ति० १.९.१
ऋतं पिबन्तौ	कठ० १.३.१
ऋतुषु पञ्चविध	छान्दो०२.५.१
एक धैवानुद्रष्टव्यमेतदप्र०	बृह० ४.४.२०
एकमात्रस्तथाकाशो	अमृ० ३२
एकमेवाद्वितीयम्	शुक०र० ३५
एकविंशत्यादित्यम्	छान्दो० १.१०.५
एकाक्षरं त्वक्षरे	एका० १
एकीभवति न पश्यती०	बृह० ४.४.२
एकैकं जालं बहुधा	श्वेता० ५.३
एको देवः सर्वभूतेषु	श्वेता० ६.११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
एको देवो बहुधा	मुद्ग० ३.१
एको वशी	कठ० २.२.१२
एको वशी निष्क्रियाणाम्	श्वेता० ६.१२
एको ह ँ सो भुवन.	श्वेता० ६.१५
एको हि रुद्रो	श्वेता० ३.२
एतच्छ्रुत्वा	कठ० १.२.१३
एतज्ज्ञेयम्	श्वेता० १.१२
एतत्तुल्यं	कठ० १.१.२४
एतदालम्बन ँ	कठ० १.२.१७
एतद्ध वै तज्जनको	बृह० ५.१४.८
एतद्धस्म वै तद्विद्वानु.	बृह० ६.४.४
एतद्धस्म वै तद्विद्वानाह	छान्दो० ३.१६.७
एतद्धस्म वैतद्विद्वाँसः	छान्दो० ६.४.५
एतद्ध स्मैत.	गाय० ३.१३
एतद्ध स्मैतद्	गाय०१.१
एतद्ध्येवाक्षरं	कठ० १.२.१६
एतद्योगेन परम पुरुषो	मुद्ग० ४.९
एतद्वस्तुचतुष्टयं	सर्व० १३
एतद्वै परमं तपो	बृह० ५.११.१
एतमु एवाहमभ्य... प्राणा	छान्दो० १.५.४
एतमु एवाहमभ्य...रश्मी	छान्दो० १.५.२
एतमु हैव चूलो	बृह० ६.३.१०
एतमु हैव जानकिराय	बृह० ६.३.११
एतमु हैव मधुकः	बृह० ६.३.९
एतमु हैव वाजसनेयो	बृह० ६.३.८
एतमु हैव सत्यकामो	बृह० ६.३.१२
एतमृग्वेदमभ्यतपँ स्तस्याभि०	छान्दो० ३.१.३
एतँ संयद्वाम इत्याचक्षत	छान्दो० ४.१५.२
एतस्माज्जायते	मुण्ड० २.१.३
एतस्य वा अक्षरस्य	बृह० ३.८.९
एतेन जीवात्मनोर्योगेन	मुद्ग० २.६
एतेनैव च मन्त्रेण	मुद्ग० १.४
एतेषां मे देहीति	छान्दो० १.१०.३
एतेषु यश्चरते	मुण्ड० १.२.५
एवं बद्धस्तथा जीवः	स्कन्द० ७
एवमेव खलु सोम्य.	छान्दो० ६.६.२
एवमेव खलु सोम्येमाः	छान्दो० ६.१०.२
एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच	छान्दो० १.१०.११
एवमेवैष मघवन्निति	छान्दो० ८.९.३
एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं	छान्दो० ८.११.३
एवमेवैष सम्प्रसादो.	छान्दो० ८.१२.३
एवमेवोद्गातारमुवाच.	छान्दो० १.१०.१०

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
एवमेषां लोकानामासाम्	छान्दो० ४.१७.८
एवं यथाश्मानमाखणकमृत्वा	छान्दो० १.२.८
एवं महावाक्या	शु० र० ३०
एवँ सोम्य ते षोडशानाम्	छान्दो० ६.७.६
एष उ एव बृहस्पति.	बृह० १.३.२०
एष उ एव ब्रह्मणस्पति.	बृह० १.३.२१
एष उ एव भामनीरेष हि	छान्दो० ४.१५.४
एष उ एव वामनीरेष हि	छान्दो० ४.१५.३
एष उ एव साम वाग्वै	बृह० १.३.२२
एष उ वा उद्गीथः	बृह० १.३.२३
एष तु वा अतिवदति	छान्दो० ७.१६.१
एष तेऽग्निर्नचिकेत	कठ० १.१.१९
एष देवो विश्वकर्मा	श्वेता० ४.१७
एष प्रजापतिर्यद्ध.	बृह० ५.३.१
एष ब्रह्मैष इन्द्र	ऐत० ३.१.३
एष म आत्मान्तर्हृदये	छान्दो० ३.१४.३
एष वै यजमानस्य	छान्दो० २.२४.१५
एष सर्वेश्वर एष	माण्डू० ६
एष सर्वेषु भूतेषु	कठ० १.३.१२
एष ह वा उदक्प्रवणो	छान्दो० ४.१७.९
एष ह वै यज्ञो योऽयम्	छान्दो० ४.१६.१
एष हि खल्वात्मेशानः	मैत्रा० ५.८
एष हि द्रष्टा	प्रश्न० ४.९
एषां भूतानां पृथिवी रसः	छान्दो० १.१.२
एषां वै भूतानां	बृह० ६.४.१
एषामज्ञानजन्तूनां	निरा० २
एषोऽग्निस्तपत्येष	प्रश्न० २.५
एषोऽणुरात्मा चेतसा	मुण्ड० ३.१.९
एषो ह देवः प्रदिशो	श्वेता० २.१६
एह्येहीति तमाहुतय	मुण्ड० १.२.६
ओङ्कारथमारुह्य	अमृ० २
ओ३मदा३मो	छान्दो० १.१२.५
ओमिति ब्रह्म	तैत्तिरीय० १.८.१
ओमित्येकाक्षरम्	प्रण० २
ओमित्येकाक्षरम् ब्रह्म	अमृ० २१
ओमित्येतदक्षरमिदं	माण्डू० १
ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्	छान्दो० १.१.१
ओममित्येतदक्षर.....ह्युद्गायति	छान्दो० १.४.१
औपमन्यव कं त्वमात्म.	छान्दो० ५.१२.१
कं ते काममागायानी नीत्येष	छान्दो० १.७.९
कतम आत्मेति योऽयम्	बृह० ४.३.७
कतम आदित्या इति	बृह० ३.९.५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
कतम इन्द्रः कतमः	बृह० ३.९.६
कतमा कतमर्क्कतमत्	छान्दो० १.१.४
कतमे ते त्रयो देवा	बृह० ३.९.८
कतमे रुद्रा इति	बृह० ३.९.४
कतमे वसव इत्यग्निश्च	बृह० ३.९.३
कतमे षडित्यग्निश्च	बृह० ३.९.७
कथं बन्धः कथं मोक्षः	सर्व० १
कर्तृत्वाद्य... बन्धः	निरा० २०
कर्मेति च.... कर्म	निरा० ११
कल्पन्ते हास्मा ऋतव	छान्दो० २.५.२
कल्पन्ते हास्मै	छान्दो० २.२.३
कस्मिन्नु त्वं चात्मा	बृह० ३.९.२६
कांस्य घण्टानिनादः	प्रण० १२
काम एव यस्यायतन	बृह० ३.९.११
काम क्रोध लोभमय	मैत्रा० १.३
काम क्रोध लोभमोह	मुद्ग० ४.४
कामस्याप्तिं	कठ० १.२.११
कामान् यः कामयते	मुण्ड० ३.२.२
कार्योपोधिरयम्	शु०र० ४२
कालत्रयेऽपि	ना०बि० ८
कालः प्राणश्च	मन्त्रि० १२
कालः स्वभावो	श्वेता० १.२
काली कराली च	मुण्ड० १.२.४
काष्ठवज्ज्ञायते देह	ना०बि० ५३
का साम्नो गतिरिति	छान्दो० १.८.४
किं देवतोऽस्यां दक्षिणायाम्	बृह० ३.९.२१
किं देवतोऽस्यां ध्रुवायाम्	बृह० ३.९.२४
किं देवतोऽस्यां प्रतीच्याम्.	बृह० ३.९.२२
किं देवतोऽस्यां प्राच्याम्	बृह० ३.९.२०
किं ब्रह्म... ब्रह्मेति	निरा० ३
किं देवतोऽस्यामुदीच्यां	बृह० ३.९.२३
किल्विषं हि क्षयम्	अमृ० ९
कुतस्तु खलु	छान्दो० ६.२.२
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	ईश० २
कुलगोत्र जातिवर्णाश्रम०	मुद्ग० ४.८
कूटस्थोपहित भेदानां	सर्व० ११
कृतकृत्यः	शु०र० १०
केनेषितं पतति	केन० १.१
केवलमोक्ष... बन्धः	निरा० २७
कोऽयमात्मेति	ऐत० ३.१.१
क्व तर्हि यजमानस्य	छान्दो० २.२४.२
क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रम्	बृह० ५.१३.४
क्षरं प्रधानममृताक्षरम्	श्वेता० १.१०
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं	मन्त्रि० १९
गताः कलाः पञ्चदश	मुंड० ३.२.७
गायत्री वा इदꣳसर्वम्	छान्दो० ३.१२.१
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता	श्वेता० ५.७
गुरुरप्येवंविच्छुचौ	मुद्ग० ४.१२
गो अश्वमिह महिमेत्याकचक्षते	छान्दो० ७.२४.२
गौरनाद्यन्तवती सा	मन्त्रि० ५
ग्राह्यमिति.... ग्राह्यम्	निरा०.३७
घनमुत्सृज्य वा	ना०बि० ३७
घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः	बृह० २.६.३, ४.६.३
घृतात्परं मण्डमिवा.	श्वेता० ४.१६
घोषिणी प्रथमा मात्रा	ना०बि० ९
चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	छान्दो० ३.१८.५
चक्षुरेवर्गात्मा	छान्दो० १.७.२
चक्षुर्वै ग्रहः	बृह० ३.२.५
चक्षुर्होच्चक्राम	बृह० ६.१.९
चक्षुर्होच्चक्राम	छान्दो० ५.१.९
चतुरौदुम्बरो भवत्यौदु.	बृह० ६.३.१३
चतुर्णामपि वेदानाम्	शु०र० १७
चतुर्भिः पश्यते	अमृ० ३०
चतुर्मुखेन्द्र देवेषु	शु०र० ३२
चतुर्विंशति संख्यातं	मन्त्रि० १५
चन्द्रमा एव सविता	गाय० ३.५
चिज्जडानां तु यो	स्क० ४
चित्तमेव हि संसारः	मैत्रा० ४.४ (ग)
चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो	छान्दो० ७.५.१
चित्तस्य हि प्रसादेन	मैत्रा० ४.४ (घ)
छन्दांसि यज्ञाः	श्वेता० ४.९
जनकꣳह वैदेहं याज्ञ.	बृह० ४.३.१
जनको ह वैदेह आसां च	बृह० ४.१.१
जनको ह वैदेहः कूर्चा.	बृह० ४.२.१
जनको ह वैदेहो बहु.	बृह० ३.१.१
जनोलोकस्तु	ना०बि० ४
जागरित स्थानो बहिः	माण्डू० ३
जागरित स्थानो वैश्वा.	माण्डू० ९
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः	ना०बि० ५५
जातिरिति... प्रकल्पिता	निरा० १०
जातेऽग्निमुपसमाद्यायाङ्क	बृह० ६.४.२४
जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः	छान्दो० ४.१.१
जानाम्यहꣳ	कठ० १.२.१०
जिह्वा वै ग्रहः	बृह० ३.२.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
जीव इति च ब्रह्म०	निरा० ५
जीवः शिवः शिवो	स्क० ६
जीवापेतं वाव किलेदम्	छान्दो० ६.११.३
ज्ञाज्ञो द्वाव जावीशनीशावजा	श्वेता० १.९
ज्ञातृज्ञानज्ञेय	सर्व० ९
ज्ञात्वा देवम्	श्वेता० १.११
ज्ञानमिति ... ज्ञानम्	निरा० १३
ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय	बृह० ६.३.२
तं चेदेतस्मिन्वयसि..आदित्या	छान्दो० ३.१६.६
तं चेदेतस्मिन्वयसि... रुद्रा	छान्दो० ३.१६.४
तं चेदेतस्मिन्वयसि... वसव	छान्दो० ३.१६.२
तं चेद्ब्रूयुरस्मिँश्चेदिदम्	छान्दो० ८.१.४
तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्	छान्दो० ८.१.२
तं जायोवाच तप्तो	छान्दो० ४.१०.२
तं जायोवाच हन्त	छान्दो० १.१०.७
तं दुर्दर्शं	कठ० १.२.१२
तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद	छान्दो० ४.८.२
तं यज्ञमिति	मुद्ग० १.७
तं यज्ञायथोपासते	मुद्ग० ३.३
तं षड्विंशक इत्येते	मन्त्रि० १४
तं ह स्मैतमेवम्	गा० ८.१
त इमे सत्याः कामा	छान्दो० ८.३.१
त इह व्याघ्रो वा सिꣳ हो	छान्दो० ६.९.३
त एतदेव रूपमभि-	छान्दो० ३.६.२,७.२, ८.२,९.२,१०.२
तच्चक्षुषाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.५
तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.९
तच्छ्रुत्वा व्यासवचनं	शु०र० ९
तच्छ्रुत्वा सकलाकारं	शु०र० ५२
तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.६
ततः परतरं शुद्धं	ना०बि० १७
ततः परं ब्रह्मापरम्	श्वेता० ३.७
ततो ब्रह्मोपदिष्टम्	शु०र० ४७
ततो यदुत्तरतरम्	श्वेता० ३.१०
ततो विलीनपाशोऽसौ	ना०बि० २०
तत्कर्म कृत्वा	श्वेता० ६.३
तत्तु जन्मान्तर	ना०बि० २४
तत्पदमहामन्त्रस्य	शु०र० २३
तत्त्वचाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.७
तत्प्राणेनाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.४
तत्र देवास्त्रयः	प्रण० ३
तत्र यत्प्रकाशते	सर्व० ८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तत्रापरा ऋग्वेदो.	मुण्ड० १.१.५
तत्रोद्गातृनास्तावे.	छान्दो० १.१०.८
तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ	मैत्रा० ५.७
तत् स्त्रिया आत्मभूयं	ऐत० २.१.२
तथामुष्मिँल्लोके	छान्दो० १.९.४
तथेति ह समुपविविशुः	छान्दो० १.८.२
तदपानेनाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.१०
तदभिमृशेदनु वा	बृह० ६.४.५
तदभ्यद्रवत्... अग्निर्वा	केन० ३.४
तदभ्यद्रवत्... वायुर्वा	केन० ३.८
तदाहुर्यदयमेक इवैव	बृह० ३.९.९
तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया	बृह० १.४.९
तदुक्तमृषिणा	ऐत० २.१.५
तदुताप्याहुः साम्नैनमुपा.	छान्दो० २.१.२
तदु ह जानश्रुतिः	छान्दो० ४.१.५
तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः	छान्दो० ४.२.१
तदुह शौनकः कापेयः	छान्दो० ४.३.७
तदेजति तन्नैजति	ईश० ५
तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म	छान्दो० ३.१८.२
तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो	बृह० १.४.८
तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु	मुण्ड० १.२.१
तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः	मुण्ड० ३.२.११
तदेतत्सत्यं यथा	मुण्ड० २.१.१
तदेतत्सृष्टं	ऐत० १.३.३
तदेतदिति मन्यन्ते	कठ० २.२.१४
तदेतदृचाऽभ्युक्तम्	मुण्ड० ३.२.१०
तदेतदृचाभ्युक्तं.....एष	बृह० ४.४.२३
तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट्	बृह० १.४.१५
तदेतन्मिथुनमोमित्	छान्दो० १.१.६
तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वा.	बृह० २.३.२
तदेते श्लोका... अणुः पन्था	बृह० ४.४.८
तदेते... स्वप्नेन	बृह० ४.३.११
तदेवाग्निस्तदादित्य.	श्वेता० ४.२
तदेष... तदेव सक्तः सह	बृह० ४.४.६
तदेष... यदा सर्वे	बृह० ४.४.७
तदेष श्लोकः यदा	छान्दो० ५.२.९
तदेष श्लोकः। यानि	छान्दो० २.२१.३
तदेष श्लोकः शतम्	छान्दो० ८.६.६
तदेष श्लोको न पश्यो	छान्दो० ७.२६.२
तदेष श्लोको भवति	बृह० २.२.३
तदैक्षत बहु स्याम्	छान्दो० ६.२.३
तद्ध तद्वनं नाम	केन० ४.६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकिता.	बृह० १.३.२४
तद्धि मौद्गल्य	गाय० १.२
तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्	बृह० १.४.७
तद्धैतत्सत्यकामो	छान्दो० ५.२.३
तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः	छान्दो० ३.१७.६
तद्धैतद्ब्रह्मा... आचार्य	छान्दो० ८.१५.१
तद्धैतद्ब्रह्मा... ज्येष्ठाय	छान्दो० ३.११.४
तद्धैषां विजज्ञो	केन० ३.२
तद्धोभये देवासुरा	छान्दो० ८.७.२
तद्ब्रह्म तापत्रयातीतम्	मुद्ग० ४.१
तद्य इत्थं विदुः ये चेमे.	छान्दो० ५.१०.१
तद्य इह रमणीयचरणा	छान्दो० ५.१०.७
तद्य एवैतं ब्रह्मलोकम्	छान्दो० ८.४.३
तद्य एवैतावरं च	छान्दो० ८.५.४
तद्यत्तत्सत्यमसौ	बृह० ५.५.२
तद्यत्प्रथममृतम्	छान्दो० ३.६.१
तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः	छान्दो० ८.११.१
तद्यत्रैतत्सुप्तः	छान्दो० ८.६.३
तद्यथा तृणजलायुका	बृह० ४.४.३
तद्यथाऽनः सुसमाहित	बृह० ४.३.३५
तद्यथा पेशस्कारी पेशसो	बृह० ४.४.४
तद्यथा महापथ आतत	छान्दो० ८.६.२
तद्यथा महामत्स्य उभे	बृह० ४.३.१८
तद्यथा राजानं प्रयि०	बृह० ४.३.३८
तद्यथा राजानमायन्त०	बृह० ४.३.३७
तद्यथा लवणेन	छान्दो० ४.१७.७
तद्यथास्मिन्नाकाशे	बृह० ४.३.१९
तद्यथेषीकातूलमग्नौ	छान्दो० ५.२४.३
तद्यथेह कर्मजितो लोकः	छान्दो० ८.१.६
तद्यद्भक्तं प्रथमम०	छान्दो० ५.१९.१
तद्यद्ध्वृक्तो रिष्येद् भूः	छान्दो० ४.१७.४
तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी	छान्दो० ३.१९.२
तद्युक्तस्तन्मयो	ना० बि० १९
तद्ये ह वै	प्रश्न० १.१५
तद्वत्सत्यमविज्ञय	ना०बि० २७
तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा	बृह० ४.३.२१
तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं	बृह० ३.८.११
तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं	छान्दो० १.१.८
तद्विप्रासो विपन्यवो	स्क० १५
तद्विष्णोः परमं पदम्	स्क० १४
तद्वेदगुह्योपनिषत्सु	श्वेता० ५.६
तद्वै तदेतदेव तदास	बृह० ५.४.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तद्व्यक्षरत्तदादित्यम्	छान्दो० ३.१.४
तद्व्यक्षरत्तदादित्य..कृष्णꣳ	छान्दो० ३.३.३
तद्व्यक्षरत्तदादित्यम्.. परं	छान्दो० ३.४.३
तद्व्यक्षरत्तदादित्य.. मध्ये	छान्दो० ३.५.३
तद्व्यक्षरत्तदादित्य..शुक्लꣳ	छान्दो० ३.२.३
तन्नम इत्युपासीत	तैत्ति० ३.१०.४
तन्मनसाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.८
तप इति च... तपः	निरा० ३५
तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च	श्वेता० ६.२१
तपः श्रद्धे ये	मुण्ड० १.२.११
तपसा चीयते ब्रह्म	मुण्ड० १.१.८
तम एव यस्यायतन	बृह० ३.९.१४
तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम	छान्दो० ४.६.२
तमब्रवीत्प्रीयमाणो	कठ० १.१.१६
तमभ्यतपत्तस्य	ऐत० १.१.४
तमशना पिपासे	ऐत० १.२.५
तमाजुहाव तमभ्युवाचा	गाय० १.४
तमीश्वराणां परमम्	श्वेता० ६.७
तमुपसङ्गम्य	गाय० २.८
तमु ह परः प्रत्युवाच	छान्दो० ४.१.३
तमु ह परः प्रत्युवाचाह	छान्दो० ४.२.३
तमेकनेमिं त्रिवृत्तं	श्वेता० १.४
तमेतमग्निरित्यध्वर्यव	मुद्ग० ३.२
तमेताः सप्ताक्षितय	बृह० २.२.२
तमेव धीरो विज्ञाय	बृह० ४.४.२१
तमो वा इदमेकमास	मैत्रा० ४.५
तयोरन्यतरां मनसा	छान्दो० ४.१६.२
तस्मा आदित्याश्च	छान्दो० २.२४.१६
तस्मा उ ह ददुस्ते	छान्दो० ४.३.८
तस्मा एतत् प्रोवाच	गा० २.७
तस्माच्च देवा	मुण्ड० २.१.७
तस्मादग्निः समिधो	मुण्ड० २.१.५
तस्मादप्यद्येहाददान.	छान्दो० ८.८.५
तस्मादाहुः सोष्य.	छान्दो० ३.१७.५
तस्मादिति च मन्त्रेण	मुद्ग० १.८
तस्मादिदन्द्रो	ऐत० १.३.१४
तस्मादु हैवं विद्यद्यपि	छान्दो० ५.२४.४
तस्मादृचः साम	मुण्ड० २.१.६
तस्मादेतत्पुरुषम्..	मुद्ग० ४.११
तस्माद्वा इन्द्रो	केन० ४.३
तस्माद्वा एतꣳ सेतुम्	छान्दो० ८.४.२
तस्माद्वा एते	केन० ४.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तस्माद्विराडित्यनया	मुद्ग० १.५
तस्मिञ्छुक्लमुतनीलमाहुः	बृह० ४.४.९
तस्मिन्निमानि सर्वाणि	छान्दो० २.९.२
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ... अन्नं	छान्दो० ५.७.२
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ... रेतो	छान्दो० ५.८.२
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ.. वर्षम्	छान्दो० ५.६.२
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ...श्रद्धाम्	छान्दो० ५.४.२
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ...सोम	छान्दो० ५.५.२
तस्मिन्यावत्संपातम्	छान्दो० ५.१०.५
तस्मिꣳस्त्वयि किं	केन० ३.९
तस्मै तृणं	केन० ३.६
तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति	केन० ३.१०
तस्मै श्वा श्वेतः	छान्दो० १.१२.२
तस्मै स विद्वान्	मुण्ड० १.२.१३
तस्मै स होवाच इहैवान्तः	प्रश्न० ६.२
तस्मै स होवाच एतद्वै	प्रश्न० ५.२
तस्मै स होवाच द्वेविद्ये	मुण्ड० १.१.४
तस्मै स होवाच प्रजाकामो	प्रश्न० १.४
तस्मै स होवाच यथा	प्रश्न० ४.२
तस्मै स होवाचाकाशो	प्रश्न० २.२
तस्मै स होवाचाति	प्रश्न० ३.२
तस्य क्व मूलँ ... खलु	छान्दो० ६.८.४
तस्य क्व मूल.... सोम्य	छान्दो० ६.८.६
तस्य प्रथमया विष्णो-	मुद्ग० १.२
तस्य प्राची दिक्प्राञ्चः	बृह० ४.२.४
तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम	छान्दो० ३.१५.२
तस्य यथा कप्यासम्	छान्दो० १.६.७
तस्य यथाभिनहनम्	छान्दो० ६.१४.२
तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता	छान्दो० ३.१.२
तस्यर्क् च साम	छान्दो० १.६.८
तस्य वा एतस्य पुरुषस्य	बृह० ४.३.९
तस्य .... सुवर्ण वेद	बृह० १.३.२६
तस्य सौम्य यो	गाय० १.३
तस्य .... स्वं वेद	बृह० १.३.२५
तस्य ह वा एतस्य	छान्दो० ३.१३.१
तस्य ह वा एतस्यात्मनो	छान्दो० ५.१८.२
तस्य ह वा एतस्यैवम्	छान्दो० ७.२६.१
तस्य हैतस्य पुरुषस्य	बृह० २.३.६
तस्य हैतस्य साम्नो यः	बृह० १.३.२७
तस्या उपस्थानं गायत्र्य	बृह० ५.१४.७
तस्या वेदिरुपस्थो	बृह० ६.४.३
तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्	छान्दो० ४.२.५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तस्यै तपोदमः	केन० ४.८
तस्यै वाचः पृथिवी	बृह० १.५.११
तस्यैष आदेशो	केन० ४.४
तꣳह कुमार	कठ० १.१.२
तꣳह चिरं वसेत्याज्ञा-	छान्दो० ५.३.७
तꣳह प्रवाहणो	छान्दो० १.८.८
तꣳह शिलकः	छान्दो० १.८.६
तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद	छान्दो० ४.७.२
तꣳहाङ्गिरा उद्गीथम्	छान्दो० १.२.१०
तꣳ हाभ्युवाद रैक्वेद	छान्दो० ४.२.४
तꣳ हैतमतिधन्वा	छान्दो० १.९.३
तꣳ हैतमुद्दालक	बृह० ६.३.७
तꣳ होवाच किंगोत्रः	छान्दो० ४.४.४
तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो	छान्दो० ४.४.५
तꣳ होवाच...महतोऽभ्याहित-	छान्दो० ६.७.३
तꣳ होवाच यथा सोम्य	छान्दो० ६.७.५
तꣳ होवाच यं वै सोम्यै-	छान्दो० ६.१२.२
तां योगमिति	कठ० २.३.११
तां भवान् प्रब्रवीत्विति	गा० १.६
ताꣳहैत्तामेके	बृह० ५.१४.५
ता आप ऐक्षन्त	छान्दो० ६.२.४
ता एता देवताः	ऐत० १.२.१
तानि वा एतानि यजूꣳ	छान्दो० ३.२.२
तानि वा एतानि सामान्येत	छान्दो० ३.३.२
तानि ह वा एतानि	छान्दो० ७.४.२
तानि ह वा एतानि चित्तै०	छान्दो० ७.५.२
तानि ह वा एतानि त्रीणि	छान्दो० ८.३.५
तानु तत्र मृत्युर्यथा	छान्दो० १.४.३
तान्यभ्यतपत्तेभ्यः	छान्दो० २.२३.३
तान्वरिष्ठः प्राण	प्रश्न० २.३
तान्ह स ऋषिरुवाच	प्रश्न० १.२
तान् हैतैः श्लोकैः	बृह० ३.९.२८
तान्होवाच प्रातर्वः	छान्दो० ५.११.७
तान् होवाच ब्राह्मणा	बृह० ३.१.२
तान्होवाचाश्वपतिर्वै	छान्दो० ५.११.४
तान्होवाचेहैव	छान्दो० १.१२.३
तान्होवाचैतावत्	प्रश्न० ६.७
तान्होवाचैते वै खलु	छान्दो० ५.१८.१
तापत्रयं त्वाध्यात्मिक.	मुद्ग० ४.२
ताभ्यः पुरुषमानयत्ता	ऐत० १.२.३
ताभ्यो गामानयत्ता	ऐतरेय० १.२.२
तावदेव निरोद्धव्यं	मैत्रा० ४.४ (ज)

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तालमात्राविनिष्कम्पो	अमृ० २४
तावद्रथेन गन्तव्यम्	अमृ० ३
ता वा अस्यैता हितो	बृह० ४.३.२०
तावानस्य महिमा	छान्दो० ३.१२.६
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम् ..	छान्दो० ६.३.३
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम नु	छान्दो० ६.३.४
तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं	अमृ० २३
तिलेषु तैलम्	श्वेता० १.१५
तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः	प्रश्न० ५.६
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे	कठ० १.१.९
तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद	केन० ३.३
तेजसः सोम्याश्यमानस्य	छान्दो० ६.६.४
तेजो वावाद्भ्यो भूयः	छान्दो० ७.११.१
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते	छान्दो० ६.५.३
तेजो ह वाव उदानः	प्रश्न० ३.९
ते तमर्चयन्तस्त्वं	प्रश्न० ६.८
ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा	बृह० १.३.१८
ते ध्यानयोगानुगता	श्वेता० १.३
तेन तꣳह बको	छान्दो० १.२.१३
तेन तꣳ ह बृहस्पति	छान्दो० १.२.११
तेन तꣳहायास्य	छान्दो० १.२.१२
तेन हवा एवं विदुषा	गाय० ७.१
तेनेयं त्रयी विद्या	छान्दो० १.१.९
तेनोभौ कुरुतो यश्चैत	छान्दो० १.१.१०
तेभ्यो ह प्राणेभ्यः	छान्दो० ५.११.५
ते य एवमेतद्विदुर्ये	बृह० ६.२.१५
ते यथा तत्र न विवेकम्	छान्दो० ६.९.२
ते वा एते गुह्या	छान्दो० ३.५.२
ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस	छान्दो० ३.४.२
ते वा एते पञ्च	छान्दो० ३.१३.६
ते वा एते रसानाꣳरसा	छान्दो० ३.५.४
तेषां खल्वेषां भूतानाम्	छान्दो० ६.३.१
तेषामसौ विरजो	प्रश्न० १.१६
ते ह खल्वथोर्ध्वरेतसो	मैत्रा० ४.१
ते ह नासिक्यं	छान्दो० १.२.२
ते ह प्राणाः प्रजापतिम्	छान्दो० ५.१.७
ते ह यथैवेदं	छान्दो० १.१२.४
ते ह वाचमूचुस्त्वं न	बृह० १.३.२
ते ह सम्पादयाञ्चक्रुः	छान्दो० ५.११.२
ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे	बृह० ६.१.७
ते होचुः क्रतु सोऽभूद्यो	बृह० १.३.८
ते होचुरुपकोसलैषा	छान्दो० ४.१४.१
ते होचुर्भगवन्यद्येवम्	मैत्रा० ३.१
ते होचुर्येन हैवार्थेन	छान्दो० ५.११.६
तौ वा एतौ द्वौ	छान्दो० ४.३.४
तौहद्वात्रिꣳशतं वर्षाणि	छान्दो० ८.७.३
तौ ह प्रजापतिरुवाच	छान्दो० ८.७.४
तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलङ्कृतौ	छान्दो० ८.८.२
तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिः	छान्दो० ८.८.४
तौ होचतुर्यथैवेद०	छान्दो० ८.८.३
त्रयं वा इदं नाम रूपम्	बृह० १.६.१
त्रयः प्राजापत्याः	बृह० ५.२.१
त्रयी विद्या हिङ्कारस्त्रयः	छान्दो० २.२१.१
त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञः	छान्दो० २.२३.१
त्रयो लोका एत एव	बृह० १.५.४
त्रयो वेदा एत एव	बृह० १.५.५
त्रयो होद्गीथे	छान्दो० १.८.१
त्रिणाचिकेत	कठ० १.१.१७
त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्वि	कठ० १.१.१८
त्रिरुन्नतं स्थाप्य	श्वेता० २.८
त्रिंशत्सार्धाङ्गुलः	अमृ० ३३
त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति	बृह० १.५.३
त्वग्वै ग्रहः	बृह० ३.२.९
त्वङ्मांसशोणिता.	मुद्ग० ४.३
त्वं पद महामन्त्रस्य	शु०र० २५
त्वं पदार्थादौपाधि०	सर्व० १४
त्वं भूर्भुवः स्वस्त्वम्	एका० १३
त्वमिति तदिति	शु०र० ४१
त्वं मनुष्त्वं	मैत्रा० ४.४ (ड)
त्वं वज्रभृद्भूत.	एका० ५
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि	श्वेता० ४.३
त्वं स्त्री पुमांस्त्वं	एका० ११
दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य	छान्दो० ६.६.१
दिवश्चैनमादित्याच्च	बृह० १.५.१९
दिव्यो ह्यमूर्तः	मुण्ड० २.१.२
दुःखमिति.....स्वर्गः	निरा० १६
दुग्धेऽस्मै.....एतदेवम्	छान्दो० २.८.३
दुग्धेऽस्मै.... एतामेव	छान्दो० १.१३.४
दूरमेते विपरीते	कठ० १.२.४
दृप्त बालाकिर्हानूचानो	बृह० २.१.१
दृश्यमानस्य सर्वस्य	शु०र० ३८
दृष्टिः स्थिरा यस्य	ना०बि० ५६
देवपितृकार्याभ्यां	तैत्ति० १.११.२
देवमनुष्य.....बन्धः	निरा० २२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
देवनामसि	प्रश्न० २.८
देवर्षयो ब्रह्माणं	शु०र० २
देवाः पितरो मनुष्या	बृह० १.५.६
देवा वै मृत्योर्बिभ्...	छान्दो० १.४.२
देवासुरा ह वै	छान्दो० १.२.१
देवैरत्रापि...किल	कठ० १.१.२२
देवैरत्रापि... पुरा	कठ० १.१.२१
देहादीनामसत्त्वात्तु	ना० बि० २३
देहो देवालयः	स्क० १०
द्यौरेवर्गादित्यः	छान्दो० १.६.३
द्यौरेवोदन्तरिक्षं	छान्दो० १.३.७
द्वया ह प्राजापत्या	बृह० १.३.१
द्वा सुपर्णा सयुजा	श्वेता० ४.६
द्वा सुपर्णा सयुजा	मुण्ड० ३.१.१
द्वितीयायां समुत्क्रान्तो	ना०बि० १३
द्विधा वा एष आत्मानम्	मैत्रा० ५.१
द्विसप्ततिसहस्राणि	प्रण० ११
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे	श्वेता० ५.१
द्वे वाव ब्रह्मणे रूपे	मैत्रा० ५.३
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे	बृह० २.३.१
द्वौ खण्डावुच्येते योऽयमुक्तः	मुद्ग० २.२
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं	मुण्ड० २.२.३
धाता विधाता पवनः	एका० ६
धियो योनः	गाय० ६.१
ध्यानक्रियाभ्याम्	मन्त्रि० ७
ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो	छान्दो० ७.६.१
ध्यानं-जीवत्वं सर्वभूतानां	शु०र० २६
ध्यानं- जीवो ब्रह्मेति	शु०र० २८
ध्यानं- ज्ञानं ज्ञेयं	शु०र० २४
ध्यानं- नित्यानन्दं	शु०र० २१
ध्यायतेध्यासिता	मन्त्रि० ४
न कंचन वसतौ	तैत्ति० ३.१०.१
नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः	छान्दो० १.६.४
न चक्षुषा गृह्यते	मुण्ड० ३.१.८
न जायते म्रियते	कठ० १.२.१८
न तत्र चक्षुर्गच्छति	केन० १.३
न तत्र रथा न रथयोगा	बृह० ४.३.१०
न तत्र सूर्यो	कठ० २.२.१५
न तत्र सूर्यो भाति	मुण्ड० २.२.१०
न तत्र सूर्यो भाति	श्वेता० ६.१४
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति	श्वेता० ६.९
न तस्य कार्यं करणम्	श्वेता० ६.८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
न नरेणावरेण	कठ० १.२.८
न निजं निजवत्	स्क० २
न प्राणेन	कठ0 २.२.५
न भिद्यते कर्मचारैः	ना० बि० ६
नमः शिवाय गुरवे	निरा० १
नमः शान्तात्मने	मैत्रा० ४.४ (ण)
न मान नावमानं	ना०बि० ५४
नरक इति .....एव नरकः	निरा० १७
नवद्वारे पुरे देही	श्वेता० ३.१८
न वधेनास्य... मघ.	छान्दो० ८.१०.४
न वधेनास्य हन्यते	छान्दो० ८.१०.२
नवमी महती	ना०बि० ११
नवम्यां तु महर्लोकम्	ना०बि० १६
न वित्तेन तर्पणीयो	कठ० १.१.२७
न वै तत्र न निम्लोच	छान्दो० ३.११.२
न वै नूनं भगवन्तस्त	छान्दो० ६.१.७
न वै वाचो न चक्षू	छान्दो० ५.१.१५
न संदृशे	कठ० २.३.९
न संदृशे तिष्ठति	श्वेता० ४.२०
न सांपरायः प्रतिभाति	कठ० १.२.६
न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा	छान्दो० १.१०.४
न हवा अस्मा	छान्दो० ३.११.३
न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्	छान्दो० २.४.२
नाचिकेतमुपाख्यानं	कठ० १.३.१६
नान्तः प्रज्ञं न	माण्डू० ७
नान्यस्मै कस्मैचन	छान्दो० ३.११.६
नाम वा ऋग्वेदो	छान्दो० ७.१.४
नायमात्मा प्रवचनेन	मुण्ड० ३.२.३
नायमात्मा प्रवचनेन	कठ० १.२.२३
नायमात्मा बलहीनेन	मुण्ड० ३.२.४
नाविरतो दुश्चरितवान्	कठ० १.२.२४
नासिकापुटमङ्गुल्या	अमृ० २०
नाहं कर्ता नैव भोक्ता	सर्व० १८
नाहं देहो जन्ममृत्यू	सर्व० २१
नाहं भवाम्यहं	सर्व० १६
नाहं मन्ये सुवेदेति	केन० २.२
नित्योऽनित्यानां	कठ० २.२.१३
नित्यो नित्यानाम्	श्वेता० ६.१३
निधनमिति त्र्यक्षरम्	छान्दो० २.१०.४
नियामनसमर्थोऽयम्	ना०बि ४५
निरञ्जने विलीयेते	ना०बि० ५०
निर्णिज्य कः सं चमसं	छान्दो० ५.२.८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
निःशब्दं तत्परम्	नाबि० ४८
निष्कलं निष्क्रिय	श्वेता० ६.१९
नीलः पतङ्गो हरितो	श्वेता० ४.४
नीहार धूमार्कानिलानलानाम्	श्वेता० २.११
नैनमूर्ध्वम्	श्वेता० ४.१९
नैव वाचा न	कठ० २.३.१२
नैव स्त्री न पुमानेष	श्वेता० ५.१०
नैवेह किंचनाग्र आसीत्	बृह० १.२.१
नैवैतेन सुरभि	छान्दो० १.२.९
नैषा तर्केण	कठ० १.२.९
नो इतराणि ये के	तैत्ति० १.११.३
नोच्छवसेन्न	अमृ० १४
न्यग्रोधफलमत आहरेतीदम्	छान्दो० ६.१२.१
पञ्च पादं पितरं	प्रश्न० १.११
पञ्च मा राजन्य बन्धुः	छान्दो० ५.३.५
पञ्चमी नामधेया	ना०बि० १०
पञ्चम्यामथ मात्रायां	ना०बि० १४
पञ्चस्रोतोऽम्बुम्	श्वेता० १.५
पद्मकं स्वस्तिकम्	अमृ० १९
पद्मसूत्रनिभा	प्रण० १०
परब्रह्मपयोराशौ	शु०र० ५०
परमं पदमिति... पदम्	निरा० ३६
परमात्मेति च ...स सूर्यः	निरा० ७
परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते	प्रश्न० ४.१०
पराचः कामाननुयन्ति	कठ० २.१.२
पराञ्चि खानि	कठ० २.१.१
परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे	शु०र० ३३
परीक्ष्य लोकान्	मुण्ड० १.२.१२
परोवरीयो हास्य भवति	छान्दो० २.७.२
पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम	बृह० ६.२.१०
पर्जन्यो वाव गौतमाग्नि०	छान्दो० ५.५.१
पशुषु पञ्चविधः	छान्दो० २.६.१
पश्चाद्ध्यायीत	अमृ० २२
पश्यन्त्यस्यां	मन्त्रि० ८
पादादिकं गुणास्तस्य	ना०बि० २
पायूपस्थेऽपानं चक्षुः	प्रश्न० ३.५
पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु	अमृ० ३१
पिता माता प्रजैत	बृह० १.५.७
पितृमातृसहोदर...बन्ध	निरा० १९
पिबन्त्येनाम	मन्त्रि० ६
पीतोदका जग्धतृणा	कठ० १.१.३
पुरमेकादशद्वारम्	कठ० २.२.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
पुरस्ताद् ब्रह्मणस्तस्य	प्रण० १
पुरा तृतीय सवनस्य	छान्दो० २.२४.११
पुरा प्रातरनुवाकस्योपा.	छान्दो० २.२४.३
पुरा माध्यन्दिनस्य	छान्दो० २.२४.७
पुरुष एवेदं विश्वं	मुण्ड० २.१.१०
पुरुष एवेदः सर्वम्	श्वेता० ३.१५
पुरुषसूक्तार्थनिर्णयम्	मुद्ग० १.१
पुरुषः सोम्योत	छान्दो० ६.१६.१
पुरुषःसोम्योतोपतापिनम्	छान्दो० ६.१५.१
पुरुषे ह वा अयमादितो	ऐत० २.१.१
पुरुषो नारायणो भूतम्	मुद्ग० २.३
पुरुषो वा अग्निर्गौतम-	बृह० ६.२.१२
पुरुषो वाव गौतमाग्निः	छान्दो० ५.७.१
पुरुषो वाव यज्ञः	छान्दो० ३.१६.१
पूर्णमदः पूर्णमिदम्	बृह० ५.१.१
पूषन्नेकर्षे यम	ईश० १६
पृथिवी च पृथिवीमात्रा	प्रश्न० ४.८
पृथिवी वाव गौतमाग्निः	छान्दो० ५.६.१
पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षम्	छान्दो० २.१७.१
पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः	तैत्ति० १.७.१
पृथिव्यर्चं समदधात्	गाय० ४.३
पृथिव्येव यस्यायतन	बृह० ३.९.१०
पृथिव्यै चैनमग्नेश्च	बृह० १.५.१८
पृथ्व्याप्यतेजोऽ निलखे	श्वेता० २.१२
प्रकृतिरिति च.....प्रकृतिः	निरा० ६
प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्	छान्दो० २.२३.२
प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषाम्	छान्दो० ४.१७.१
प्रजापतिर्वा एषोऽग्रे	मैत्रा० २.६
प्रजापतिर्विराट्	मन्त्रि० १३
प्रजापतिश्चरसि	प्रश्न० २.७
प्रणवो धनुः शरो	मुण्ड० २.२.४
प्रतिबोधविदितं	केन० २.४
प्रते ब्रवीमि	कठ० १.१.१४
प्रत्याहारस्तथा ध्यानम्	अमृ० ६
प्रथमायां तु मात्रायाम्	ना०बि० १२
प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो	छान्दो० ५.१३.२
प्रस्तोतर्या देवता	छान्दो० १.१०.९
प्लवा ह्येते अदृढा	मुण्ड० १.२.७
प्राचीनशाल औपमन्यवः	छान्दो० ५.११.१
प्राण आद्यो हृदि	अमृ० ३५
प्राण इति होवाच	छान्दो० १.११.५
प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः	छान्दो० ३.१८.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
प्राण एव सविता	गाय० ३.१०
प्राणं देवा अनु	तैत्ति० २.३.१
प्राणः प्रसूतिर्भुवनस्य	एका० ३
प्राणस्य प्राणमुत चक्षुष	बृह० ४.४.१८
प्राणस्येदं वशे सर्वं	प्रश्न० २.१३
प्राणाग्रय एव	प्रश्न० ४.३
प्राणान् प्रपीड्येह	श्वेता० २.९
प्राणायामैर्दहेद्दोष	अमृ० ८
प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति	छान्दो० ५.१९.२
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्	बृह० ४.३.१२
प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः	छान्दो० २.७.१
प्राणोऽपानो व्यान	बृह० ५.१४.३
प्राणो ब्रह्म कं	छान्दो० ४.१०.५
प्राणो ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.३.१
प्राणो वा आशाया	छान्दो० ७.१५.१
प्राणो वै ग्रहः	बृह० ३.२.२
प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि	छान्दो० ७.१५.४
प्राणो ह्येष यः	मुण्ड० ३.१.४
प्राप हायार्चकुलं	छान्दो० ४.९.१
प्रियात्म जननवर्धन०	मुद्ग० ४.६
बद्धः सुनादगन्धेन	ना०बि०४३
बन्ध इति च.....बन्धः	निरा० १८
बलं वाव विज्ञानाद्भूयोपि	छान्दो० ७.८.१
बहूनामेमि प्रथमो	कठ० १.१.५
बृहच्च तद्	मुण्ड० ३.१.७
बृहद्रथो ह वै नाम	मैत्रा० १.१
ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति	छान्दो० ४.५.२
ब्रह्मणः सोम्य ते पादम्	छान्दो० ४.६.३
ब्राह्मणः सोम्य...चाग्निः	छान्दो० ४.७.३
ब्राह्मणः सोम्य...प्राणः	छान्दो० ४.८.३
ब्रह्मणाऽकाशमभिपन्नम्	गाय० ७.२
ब्रह्म तं परादाद्यो0	बृह० ४.५.७
ब्रह्म तं ....भूतानि	बृह० २.४.६
ब्रह्म प्रणव संधानं नादो	ना०बि० ३०
ब्रह्म ब्रह्मेत्यथायन्ति	मन्त्रि० २०
ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्	बृह० १.४.१०
ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव	बृह० १.४.११
ब्रह्मवादिनो वदन्ति	छान्दो० २.२४.१
ब्रह्मवादिनो वदन्ति	श्वेता० १.१
ब्रह्मविदाप्नोति	तैत्ति० २.१.१
ब्रह्मविदिव वै सोम्य	छान्दो० ४.९.२
ब्रह्म ह देवेभ्यो	केन० ३.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ब्रह्म हेदं श्रियम्	गाय० ४.१
ब्रह्मादिपिपीलिका पर्यन्तं	सर्व० १०
ब्रह्मा देवानां	मुण्ड० १.१.१
ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं	मन्त्रि० १६
ब्रह्मामृतम्	स्क० १२
ब्रह्मैव स्वशक्तिं ...बहुजीवः	निरा० ५
ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्त	सर्व० २०
ब्रह्मैवेदममृतं	मुण्ड० २.२.११
ब्रह्मोपदेश कालोऽयमिदानीं	शु०र० ५
भगव इति ह प्रतिशश्राव	छान्दो० ४.१४.२
भगवन्नस्थिचर्मस्नायु०	मैत्रा० १.२
भगवाꣳस्त्वेव मे	छान्दो० १.११.३
भयं क्रोधमथालस्य०	अमृत० २८
भयादस्याग्निस्तपति	कठ० २.३.३
भर्गो देवस्य धीमहीति	गाय० ५.१
भवन्ति हास्य पशवः	छान्दो० २.६.२
भवत्याविच्छिनो... तृतीयं	गा० ६.२
भवत्याविच्छिनो.... द्वितीय	गा० ५.२
भवत्याविच्छिन्नोऽस्य	गा० ४.४
भानुमण्डलसंकाशा	ना० बि० ७
भावग्राह्यमनी०	श्वेता० ५.१४
भिद्यते हृदयग्रन्थि.....	मुण्ड० २.२.८
भीषाऽस्माद्वातः	तैत्ति० २.८.१
भूतसंमोहने काले	मन्त्रि० २
भूमिरन्तरिक्षम्	बृह० ५.१४.१
भूमौ दर्भासने रम्ये	अमृ० १८
भूर्भुवः सुवरिति वा	तैत्ति० १.५.१
भूर्लोकः पादयोस्तस्य	ना०बि० ३
भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं	तैत्ति० ३.१.१
भृगुस्तस्मै यतो	तैत्ति० ३.११.१
मकरन्दं पिबन्भृङ्गो	ना०बि० ४२
मकारश्चाग्निसंकाशो	प्रण० ८
मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ	छान्दो० ८.१२.१
मटचीहतेषु करुष्वाटिक्या	छान्दो० १.१०.१
मद्गुष्टे पादं वक्तेति	छान्दो० ४.८.१
मन आदि चतुर्दश करणैः	सर्व० ४
मन आदिश्च	सर्व० ७
मन एव मनुष्याणां	मैत्रा० ४.४ (ट)
मन एव सविता	गाय० ३.१
मनः सङ्कल्पकं	अमृ० १६
मनसैवानुद्रष्टव्यम्	बृह० ४.४.१९
मनसैवेदमाप्तव्यं	कठ० २.१.११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
मनस्तत्र लयं	ना०बि० ४७
मनो ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.४.१
मनो ब्रह्मेत्युपासीत	छान्दो० ३.१८.१
मनोमयः प्राणशरीरो	छान्दो० ३.१४.२
मनोमयोऽयं पुरुषो	बृह० ५.६.१
मनोवाव वाचो भूयो	छान्दो० ७.३.१
मनो वै ग्रहः	बृह० ३.२.७
मनो हिङ्कारो वाक्	छान्दो० २.११.१
मनो हि द्विविधं	मैत्रा० ४.४ (च)
मनो होच्चक्राम	बृह० ६.१.११
मनो होच्चक्राम	छान्दो० ५.१.११
मन्त्रोपनिषदं ब्रह्म	मन्त्रि० १०
मह इति ब्रह्म	तैत्ति० १.५.३
मह इत्यादित्यः। आदित्येन	तैत्ति० १.५.२
महतः परमव्यक्तम्	कठ० १.३.११
महति श्रूयमाणे	ना०बि० ३६
महान्प्रभुर्वै पुरुषः	श्वेता० ३.१२
महापुरुष आत्मानम्	मुद्ग० २.४
महावाक्यान्य०	शु०र० ४५
मात्रालिङ्गपदम्	अमृ० ४
मानवो ब्रह्मैवैक	छान्दो० ४.१७.१०
मा नस्तोके तनये	श्वेता० ४.२२
मायां तु प्रकृतिम्	श्वेता० ४.१०
माया नाम अनादिरन्तवती	सर्व० १५
मासेभ्यः पितृलोकम्	छान्दो० ५.१०.४
मासेभ्यः संवत्सर	छान्दो० ५.१०.२
मासो वै प्रजापतिः	प्रश्न० १.१२
मित्रः सुपर्णश्चन्द्र	एका० १२
मूढ इति च .....मूढः	निरा० ३३
मृतवत्तिष्ठते योगी	ना०बि० ५२
मृत्युप्रोक्तां	कठ० २.३.१८
मैत्रेयीति होवाच....उद्या०	बृह० २.४.१
मैत्रेयीति होवाच....प्रव्रजिष्यन्वा	बृह० ४.५.२
मोक्ष इति च.....मोक्षः	निरा० २९
यं यं लोकं	मुण्ड० ३.१.१०
यं यमन्तमभिकामो	छान्दो० ८.२.१०
य आकाशे तिष्ठन्	बृह० ३.७.१२
य आत्माऽ पहतमाप्मा	छान्दो० ८.७.१
य आदित्ये तिष्ठन्	बृह० ३.७.९
य इमं परमं	कठ० १.३.१७
य इमं मध्वदं	कठ० २.१.५
य इमं सृष्टियज्ञम्	मुद्ग० २.७
य एको जालवानीशत	श्वेता० ३.१
य एकोऽवर्णो बहुधा	श्वेता० ४.१
य एतदुपनिषदम्	मुद्ग० ४.१०
य एते ब्रह्मलोके	छान्दो० ८.१२.६
य एवं विद्वान्	प्रश्न० ३.११
य एवं वेद क्षेम	तैत्ति० ३.१०.२
य एष एतस्मिन्मण्डले	बृह० ५.५.३
य एष सुप्तेषु	कठ० २.२.८
य एष स्वप्ने	छान्दो० ८.१०.१
य एषोऽक्षिणि पुरुषो	छान्दो० ४.१५.१
यच्चक्षुषा न पश्यति	केन० १.६
यच्चन्द्रमसो रोहित	छान्दो० ६.४.३
यच्च स्वभावं पचति	श्वेता० ५.५
यच्चित्तस्तेनैष	प्रश्न० ३.१०
यच्छेद्वाङ्मनसी	कठ० १.३.१३
यच्छ्रोत्रेण	केन० १.७
यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे	बृह० ५.१३.२
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षम्	प्रण० ५
यज्जाग्रतो दूरमुदैति	शिव० १
यज्ञ एव सविता	गाय० ३.१२
यज्ञेनेत्युपसंहारः	मुद्ग० १.९
यतश्चोदेति	कठ० २.१.९
यतो वाचो...कदाचनेति	तैत्ति० २.४.१
यतो वाचो...कुतश्चनेति	तैत्ति० २.९.१
यत्किञ्च विजिज्ञास्यम्	बृह० १.५.९
यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य	बृह० १.५.१०
यत्तदद्रेश्यमग्राहम..	मुण्ड० १.१.६
यत्तु जन्मान्तराभावात्	ना०बि० २४
यत्ते कश्चिदब्रवीत्	बृह० ४.१.२
यत्पुरुषेणेत्यनया	मुद्ग० १.६
यत्प्रज्ञानमुत चेतो	शिव० ३
यत्प्राणेन	केन० १.८
यत्र कुत्रापि वा	ना०बि० ३८
यत्र नान्यत्पश्यति	छान्दो० ७.२४.१
यत्र वान्यदिव	बृह० ४.३.३१
यत्र सुप्तो न कंचन	माण्डू० ५
यत्र हि द्वैतमिव..जिघ्रति	बृह० २.४.१४
यत्र हि द्वैतमिव..पश्यति	बृह० ४.५.१५
यत्रैतदस्मिञ्छरीरे	छान्दो० ३.१३.८
यत्सप्तान्नानि..पितेति	बृह० १.५.२
यत्सप्तान्नानि मेधया	बृह० १.५.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यथा कृतायविजिता०	छान्दो० ४.१.४
यथा कृताय.... सयन्ति	छान्दो० ४.१.६
यथादर्शे तथात्मनि	कठ० २.३.५
यथा नद्यः स्यन्दमानाः	मुण्ड० ३.२.८
यथान्तरं न भेदाः	स्क० १०
यथा पर्वतधातूनाम्	अमृ० ७
यथा पुरस्ताद्भविता	कठ० १.१.११
यथा विलीनमेवाङ्गास्या	छान्दो० ६.१३.२
यथा शिवमयो	स्क० ९
यथा सम्राडेवाधि...	प्रश्न० ३.४
यथा सोम्य पुरुषं गन्धा	छान्दो० ६.१४.१
यथा सोम्य मधु	छान्दो० ६.९.१
यथासोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन	छान्दो० ६.१.६
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन	छान्दो० ६.१.४
यथा सोम्यैकेन लोहमणिना	छान्दो० ६.१.५
यथेह क्षुधिता	छान्दो० ५.२४.५
यथैव बिम्बं सृदयो०	श्वेता० २.१४
यथोदकं दुर्गे	कठ० २.१.१४
यथोदकं शुद्धे	कठ० २.१.१५
यथोर्णनाभिः सृजते	मुण्ड० १.१.७
यदग्रे रोहितꣳ	छान्दो० ६.४.१
यदर्चिमद्यणुभ्योऽणु	मुण्ड० २.२.२
यदा चर्मवदाकाशम्	श्वेता० ६.२०
यदाऽतमस्तन्न दिवा	श्वेता० ४.१८
यदात्मतत्त्वेन	श्वेता० २.१५
यदा त्वमभिवर्षस्यथेमा	प्रश्न० २.१०
यदादित्यस्य रोहितꣳ	छान्दो० ६.४.२
यदाप उच्छुष्यन्ति	छान्दो० ४.३.२
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते	कठ० २.३.१०
यदा पश्यः पश्यन्ते	मुण्ड० ३.१.३
यदा लेलायते	मुण्ड० १.२.२
यदा वा ऋचमाप्नोत्	छान्दो० १.४.४
यदा वै करोत्यथ	छान्दो० ७.२१.१
यदा वै निस्तिष्ठत्यथ	छान्दो० ७.२०.१
यदा वै पुरुषो०	बृह० ५.१०.१
यदा वै मनुतेऽथ	छान्दो० ७.१८.१
यदा वै विजानात्यथ	छान्दो० ७.१७.१
यदा वै श्रद्दधात्यथ	छान्दो० ७.१९.१
यदा वै सुखम्	छान्दो० ७.२२.१
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते	कठ० २.३.१५
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते	कठ० २.३.१४
यदिदं किञ्च	कठ० २.३.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यदि मन्यसे	केन० २.१
यदुच्छ्वा सनिः	प्रश्न० ४.४
यदुदिति स उद्गीथो	छान्दो० २.८.२
यदु रोहितमिवाभूदिति	छान्दो० ६.४.६
यदेतद्धृदयं	ऐत०३.१.२
यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण	बृह० ४.१.३
यदेव ते.....गर्दभीविपीतो	बृह० ४.१.५
यदेव ते..... बर्कुर्वार्ष्ण०	बृह० ४.१.४
यदेव ते..... विदग्धः	बृह० ४.१.७
यदेव ते.....सत्यकामो	बृह० ४.१.६
यदेवेह तदमुत्र	कठ० २.१.१०
यदैतमनुपश्यत्यात्मानम्	बृह० ४.४.१५
यद्वाचानभ्युदितं	केन० १.४
यद्विज्ञातमिवाभूदित्०	छान्दो० ६.४.७
यद्विद्युतो रोहित	छान्दो० ६.४.४
यद्वै तत्पुरुषे	छान्दो० ३.१२.४
यद्वै तद्ब्रह्मेतीदम्	छान्दो० ३.१२.७
यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै	बृह० ४.३.२४
यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै	बृह० ४.३.२३
यद्वै तन्न मनुते	बृह० ४.३.२८
यद्वै तन्न रसयते	बृह० ४.३.२५
यद्वै तन्न वदति	बृह० ४.३.२६
यद्वै तन्न विजानाति	बृह० ४.३.३०
यद्वै तन्न शृणोति	बृह० ४.३.२७
यद्वै तन्न स्पृशति	बृह० ४.३.२९
यन्नु खलु सौम्यास्माभिः	गाय० १.५
यन्मनसा न मनुते	केन० १.५
यः पुनरेतं त्रिमात्रे	प्रश्न० ५.५
यः पूर्वं तपसो	कठ० २.१.६
यः पृथिव्यां तिष्ठन्	बृह० ३.७.३
यः प्राणे तिष्ठन्	बृह० ३.७.१६
यमाद्याष्टाङ्गयोग...बन्धः	निरा० २३
यश इति पशुषु	तैत्ति० ३.१०.३
यशो जनेऽसानि	तैत्ति० १.४.३
यश्चक्षुषि तिष्ठꣳ	बृह० ३.७.१८
यश्चन्द्रतारके	बृह० ३.७.११
यश्छन्दसामृषभो	तैत्ति० १.४.१
यः श्रोत्रे तिष्ठ०	बृह० ३.७.१९
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य	मुण्ड० १.१.९
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष	मुण्ड० २.२.७
यः सर्वेषु भूतेषु	बृह० ३.७.१५
यः सेतुरीजानानामक्षरं	कठ० १.३.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यस्तद्वेद स वेद	छान्दो० २.२१.४
यस्तमसि तिष्ठः	बृह० ३.७.१३
यस्तु विज्ञानयुक्तेन	कठ० १.३.६
यस्तु विज्ञानवान् भवति	कठ० १.३.८
यस्तु सर्वाणि	ईश० ६
यस्तूर्णनाभ इव	श्वेता० ६.१०
यस्तेजसि तिष्ठः	बृह० ३.७.१४
यस्त्वचि तिष्ठः	बृह० ३.७.२१
यस्त्वविज्ञान...म	कठ० १.३.७
यस्त्वविज्ञान...युक्तेन	कठ० १.३.५
यस्मात्परम्	श्वेता० ३.९
यस्मादर्वाक्संवत्सरो	बृह० ४.४.१६
यस्मिंस्त्वयि किं	केन० ३.५
यस्मिन्द्यौः पृथिवी	मुण्ड० २.२.५
यस्मिन्निदं	कठ० १.१.२९
यस्मिन्नृच : साम	शिव० ५
यस्मिन्पञ्च पञ्चजना	बृह० ४.४.१७
यस्मिन्भावाः	मन्त्रि० १८
यस्मिन्सर्वमिदम्	मन्त्रि० १७
यस्मिन्सर्वाणि	ईश० ७
यस्मिन् स लीयते	प्रण० १३
यस्य देवे परा	श्वेता० ६.२३
यस्य ब्रह्म	कठ० १.२.२५
यस्याग्निहोत्रम.....	मुण्ड० १.२.३
यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध	बृह० ४.४.१३
यस्यामतं	केन० २.३
यस्यामृचि तामृचं	छान्दो० १.३.९
यस्येदं मण्डलम्	अमृ० ३९
यागव्रत तपोदान.....बन्धः	निरा० २६
याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयम्	बृह० ४.३.२
याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य	बृह० ६.५.३
याज्ञवल्क्येति....कत्ययमद्याध्वर्युः	बृह० ३.१.८
याज्ञवल्क्येति....द्यर्भिः	बृह० ३.१.७
याज्ञवल्क्येति.....द्योद्गाता०	बृह० ३.१.१०
याज्ञवल्क्येति... पूर्वपक्षा०	बृह० ३.१.५
याज्ञवल्क्येति ....मृत्युना	बृह० ३.१.३
याज्ञवल्क्येति...मृत्योरन्नम्	बृह० ३.२.१०
याज्ञवल्क्येति..म्रियते	बृह० ३.२.१२
याज्ञवल्क्येति...यत्रायं पुरुषो	बृह० ३.२.११
याज्ञवल्क्येति... यत्रास्य	बृह० ३.२.१३
याज्ञवल्क्येति... यदिदम्	बृह० ३.१.६
याज्ञवल्क्येति...सर्वमहोरात्राभ्यां	बृह० ३.१.४
याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिः	बृह० ३.१.९
याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो	बृह० ३.९.१९
या तदभिमानम्	सर्व० ३
या ते तनूर्वाचि	प्रश्न० २.१२
या ते रुद्र शिवा तनूर०	श्वेता० ३.५
यां दिशमभिष्टोष्य..	छान्दो० १.३.११
या प्राणेन	कठ० २.१.७
यामिषुं गिरिशंत	श्वेता० ३.६
या वाक्सर्क्तस्माद....	छान्दो० १.३.४
यावान्वा अयमाकाशस्ता	छान्दो० ८.१.३
या वै सा गायत्रीयम्	छान्दो० ३.१२.२
या वै सा पृथिवीयम्	छान्दो० ३.१२.३
युक्तेन मनसा वयम्	श्वेता० २.२
युक्त्वाय मनसा	श्वेता० २.३
युञ्जानः प्रथमम्	श्वेता० २.१
युञ्जते मन उत	श्वेता० २.४
युजे वां ब्रह्मपूर्ण्यम्	श्वेता० २.५
ये तत्र ब्राह्मणाः	तैत्ति० १.११.४
येन कर्माण्यपसो	शिव० २
येन च्छन्दसा	छान्दो० १.३.१०
येन रूपं रसं	कठ० २.१.३
येनावृतं नित्यमिदम्	श्वेता० ६.२
येनाश्रुतः श्रुतं	छान्दो० ६.१.३
येनासौ गच्छते	अमृ० २६
येनेक्षते शृणोतीदम्	शु०र० ३१
येनेदं भूतं भुवनं	शिव० ४
येयं प्रेते	कठ० १.१.२०
ये ये कामा	कठ० १.१.२५
योऽग्नौ तिष्ठन्	बृह० ३.७.५
यो दिक्षु तिष्ठन्	बृह० ३.७.१०
यो दिवि तिष्ठन्	बृह० ३.७.८
यो देवानां...जनयामास	श्वेता० ३.४
यो देवानां...पश्यत	श्वेता० ४.१२
यो देवानामधिपो	श्वेता० ४.१३
यो देवोऽग्नौ योऽप्सु	श्वेता० २.१७
योनिमन्ये	कठ० २.२.७
योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्	बृह० ३.७.६
योऽप्सु तिष्ठन्	बृह० ३.७.४
यो ब्राह्मणं विदधाति	श्वेता० ६.१८
यो मनसि तिष्ठन्	बृह० ३.७.२०
योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष०	बृह० ५.५.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यो योनिं योनिमधिति०	श्वेता०४.११
यो योनिं...विश्वानि	श्वेता० ५.२
यो रहस्योपनिषद्०	शु० र० ५३
यो रेतसि तिष्ठन्	बृह० ३.७.२३
यो वा एतदक्षरं	बृह० ३.८.१०
यो वा एतामेवं	केन० ४.९
यो वाचि तिष्ठन्	बृह० ३.७.१७
यो वायौ तिष्ठन्	बृह० ३.७.७
यो विज्ञाने तिष्ठन्	बृह० ३.७.२२
यो वेदादौ स्वरः	शु०र० ४८
यो वै भूमा तत्सुखम्	छान्दो० ७.२३.१
यो वै स संवत्सरः	बृह० १.५.१५
योषा वा अग्निर्गौतम	बृह० ६.२.१३
योषा वाव गौतमाग्नि०	छान्दो० ५.८.१
यो ह खलु वाचोपरिस्थः	मैत्रा० २.४
यो ह वा आयतनम्	छान्दो० ५.१.५
यो ह वा आयतनं वेदा०	बृह० ६.१.५
यो ह वै ज्येष्ठम्	छान्दो० ५.१.१
यो ह वै ज्येष्ठं च	बृह० ६.१.१
यो ह वै प्रजापतिं वेद	बृह० ६.१.६
यो ह वै प्रतिष्ठाम्	छान्दो० ५.१.३
यो ह वै प्रतिष्ठां वेद	बृह० ६.१.३
यो ह वै वसिष्ठम्	छान्दो० ५.१.२
यो ह वै वसिष्ठां वेद	बृह० ६.१.२
यो ह वै शिशुः साधनः	बृह० २.२.१
यो ह वै संपदम्	छान्दो० ५.१.४
यो ह वै संपदं वेद	बृह० ६.१.४
रक्तवर्णो मणिप्रख्यः	अमृ० ३६
रहस्योपनिषद् ब्रह्म ध्यातम्	शु०र० १८
रहस्योपनिषन्नाम्ना	शु०र० १५
रुचिरं रेचकं चैव	अमृ० १०
रूपाण्येव.....एवासावादित्ये	बृह० ३.९.१२
रूपाण्येव यस्यायतनं	बृह०. ३.९.१५
रेत एव यस्यायतनः	बृह० ३.९.१७
रेतो होच्चक्राम	बृह० ६.१.१२
रैक्वेमानि षट्	छान्दो० ४.२.२
लय विक्षेप रहितं	मैत्रा० ४.४ (छ)
लघुत्वमारोग्यमलो	श्वेता० २.१३
लवणमेतदुदकेवधायाथ	छान्दो० ६.१३.१
लो३कद्वारमपावा..वय	छान्दो० २.२४.४
लो३कद्वारमपावा..वैरा	छान्दो० २.२४.८
लो३कद्वारमपावा.. स्वारा	छान्दो० २.२४.१२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
लोकादिमग्निं	कठ० १.१.१५
लोकेषु पञ्चविधः	छान्दो० २.२.१
लोम हिंकारस्त्वक्	छान्दो० २.१९.१
वक्त्रेणोत्पलनालेन	अमृ० १३
वर्णाश्रम..बन्धः	निरा० २४
वसन्तो हिंकारो	छान्दो० २.१६.१
वसिष्ठाय स्वाहेत.	छान्दो० ५.२.५
वह्नेर्यथा योनिगतस्य	श्वेता० १.१३
वाक्यार्थस्य विचारेण	शु० र० १९
वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	छान्दो० ३.१८.३
वागेवर्क् प्राणः	छान्दो० १.१.५
वाग्घोच्चक्राम	बृह० ६.१.८
वाग्वाव नाम्नो भूयसि	छान्दो० ७.२.१
वाग्वै ग्रहः	बृह० ३.२.३
वाचं धेनुमुपासीत	बृह० ५.८.१
वाच्यं लक्ष्यमिति	शु०र० ४०
वायुरनिलममृतमथेदं	ईश० १७
वायुरेव सविता	गाय० ३.३
वायुर्यथैको	कठ० २.२.१०
वायुर्वाव संवर्गो	छान्दो० ४.३.१
वायुः संधानम्	तैत्ति० १.३.२
वालाग्रशतभागस्य	श्वेता० ५.९
विज्ञातं विजिज्ञास्यमवि०	बृह० १.५.८
विज्ञानं ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.५.१
विज्ञानं यज्ञं तनुते	तैत्ति० २.५.१
विज्ञानं वावध्यानाद्भूयो	छान्दो० ७.७.१
विज्ञान सारथिर्यस्तु	कठ० १.३.९
विज्ञानात्मा सह	प्रश्न० ४.११
वितत्य बाणम्	एका० ४
विद्यां चाविद्याम्	ईश० ११
विद्युदेव सविता	गाय० ३.९
विद्युद्ब्रह्मेत्याहु०	बृह० ५.७.१
विद्वानिति च...विद्वान्	निरा० ३२
विनर्दि साम्नो वृणे	छान्दो० २.२२.१
विश्वतश्चक्षुरुत	श्वेता० ३.३
विश्वरूपं हरिणम्	प्रश्न० १.८
विश्वे निमग्न पदवीः	एका० २
विश्वेश्वर नमः	मैत्रा० ४.४ (ढ)
विष्णोर्मोक्ष प्रदत्वम्	मुद्ग० १.३
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः	ना०बि० ४४
विस्मृत्य सकलम्	ना०बि० ३९
वृष्टौ पञ्चविध	छान्दो० २.३.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
वेत्थ यथासौ	छान्दो० ५.३.३
वेत्थ यथेमाः प्रजाः	बृह० ६.२.२
वेत्थ यदितोऽधि	छान्दो० ५.३.२
वेदमनूच्याचार्यो	तैत्ति० १.११.१
वेदा एव सविता	गाय० ३.११
वेदान्तविज्ञान	मुण्ड० ३.२.६
वेदान्ते परमं गुह्यम्	श्वेता० ६.२२
वेदाहमेतमजरम्	श्वेता० ३.२१
वेदाहमेतं पुरुषम्	श्वेता० ३.८
वैश्वानरः प्रविशति	कठ० १.१.७
व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु	अमृ० ३६
व्याने तृप्यति श्रोत्रम्	छान्दो० ५.२०.२
व्रात्यस्त्वं	प्रश्न० २.११
शं नो मित्रः....ब्रह्म	तैत्ति० १.१२.१
शं नो मित्रः...ब्रह्मा	तैत्ति० १.१.१
शंसन्तमनुशंसन्ति	मन्त्रि० ९
शतं चैका च	कठ० २.३.१६
शतायुषः पुत्र	कठ० १.१.२३
शब्दादिविषयान् पञ्च	अमृ० ५
शाकल्येति होवाच	बृह० ३.९.१८
शान्तसंकल्पः	कठ० १.१.१०
शास्त्राण्यधीत्य मेधावी	अमृ० १
शिक्षां व्याख्यास्यामः	तैत्ति० १.२.१
शिखा च दीपसंकाशा	प्रण० ९
शिवाय विष्णुरूपाय	स्क० ८
शिष्य इति च...शिष्यः	निरा० ३१
शौनको ह वै	मुण्ड० १.१.३
श्यामाच्छबलम्	छान्दो० ८.१३.१
श्रवणं तु गुरोः पूर्वम्	शु०र० ४३
श्रवणायापि	कठ० १.२.७
श्रीपरम धाम्ने स्वस्ति	स्क० १३
श्रीवेदव्यास उवाच-देवदेव	शु०र० ४
श्रीवेदव्यास उवाच-यथा	शु०र० ७
श्रीशुक उवाच-देवादिदिव	शु०र० ११
श्री सदाशिव उवाच-साधु	शु०र० १४
श्रुतꣳ ह्येव मे	छान्दो० ४.९.३
श्रूयते प्रथमाभ्यासे	ना०बि ३३
श्रेयश्च प्रेयश्च	कठ० १.२.२
श्रोतुमिच्छामि	शु०र० १३
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतम्	शु०र० ३६
श्रोत्रं वै ग्रहः	बृह० ३.२.६
श्रोत्रमेवड्र्मनः	छान्दो० १.७.३
श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	छान्दो० ३.१८.६
श्रोत्रस्य श्रोत्रं	केन० १.२
श्रोत्रꣳहोच्चक्राम	छान्दो० ५.१.१०
श्रोत्र ꣳ होच्चक्राम	बृह० ६.१.१०
श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः	बृह० ६.२.१
श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस	छान्दो० ६.२.१
श्वेतकेतुर्हारुणेयःपञ्चालाना	छान्दो० ५.३.१
श्वोभावा मर्त्यस्य	कठ० १.१.२६
षष्ठ्ययामिन्द्रस्य	ना०बि० १५
षोडशकलः सोम्य	छान्दो० ६.७.१
संकल्पनस्पर्श०	श्वेता० ५.११
संकल्पमात्र....बन्धः	निरा० २८
संकल्पो वाव मनसो	छान्दो० ७.४.१
संन्यासीति च.... इति	निरा० ३९
संप्राप्यैनमृषयो	मुण्ड० ३.२.५
संभूतिं च विनाशं	ईश० १४
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरम्	श्वेता० १.८
संवत्सरो वै	प्रश्न० १.९
संविन्मात्रस्थितश्च	स्क० ३
स इमांल्लोकानसृजत	ऐत० १.१.२
स ईक्षत कथं	ऐत० १.३.११
स ईक्षतेमे नु लोका	ऐत० १.१.३
स ईक्षतेमे नु लोकाश्च	ऐत० १.३.१
स ईक्षांचक्रे कस्मिन्न	प्रश्न० ६.३
स एतमेव सीमानं	ऐत० १.३.१२
स एतां त्रयीं विद्याम्	छान्दो० ४.१७.३
स एतास्तिस्रो देवता	छान्दो० ४.१७.२
स एतेन प्रज्ञे	ऐत० ३.१.४
स एनान्ब्रह्म	छान्दो० ४.१५.६
स एव काले भुवनस्य	श्वेता० ४.१५
स एव ज्योतिषाम्	स्क० ५
स एवं विद्वान्	ऐत० २.१.६
स एवाधस्तात्स	छान्दो० ७.२५.१
स एष देवोऽम्बरगश्च	एका० ८
स एष परोवरीयानुद्गीथः	छान्दो० १.९.२
स एष ये चैतस्माद्	छान्दो० १.७.६
स एष रसाना ꣳ	छान्दो० १.१.३
स एष वैश्वानरो	प्रश्न० १.७
स एष संवत्सरः प्रजा०	बृह० १.५.१४
स ऐक्षत यदि वा	बृह० १.२.५
स च पादनारायणो	मुद्ग० २.५
स जातो भूतान्	ऐत० १.३.१३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स जातो यावदायुषं जीवति	छान्दो० ५.९.२
स तत्राजगाम	गाय० २.२
स तन्मयो ह्यमृत	श्वेता० ६.१७
स तस्मिन्नेवाकाशे	केन० ३.१२
सत्यकामो ह जाबालो	छान्दो० ४.४.१
सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्द	सर्व० १२
सत्यमेव जयति	मुण्ड० ३.१.६
सत्येन लभ्यस्तपसा	मुण्ड० ३.१.५
स त्रेधात्मानं व्यकु०	बृह० १.२.३
स त्वमग्निꣳ	कठ० १.१.१३
स त्वं प्रियान्प्रियरूपा	कठ० १.२.३
सदेव सोम्येदमग्र	छान्दो० ६.२१
स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयो	बृह० १.४.१४
स नैव व्यभवत्स विश.	बृह० १.४.१२
स नैव व्यभवत्स शौद्रम्	बृह० १.४.१३
स पर्यगाच्छुक्रम्	ईश० ८
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति	मुण्ड० २.१.८
स प्राणमसृजत	प्रश्न० ६.४
स ब्रह्मचारिवृत्तिश्च	मंत्रि० ११
स ब्रह्मा स विष्णुः	निरा० ८
स ब्रूयात्रास्य	छान्दो० ८.१.५
समस्तस्य खलु	छान्दो० २.१.१
समाधिनिर्धूतमूलस्य	मैत्रा० ४.४ (झ)
समान उ एवायं	छान्दो० १.३.२
समानमा सांजीवीपुत्रात्	बृह० ६.५.४
समानस्तु द्वयोर्मध्ये	अमृ० ३८
समाने तृप्यति मनस्	छान्दो० ५.२२.२
समाने वृक्षे	मुण्ड० ३.२.२
समाने वृक्षे पुरुषो	श्वेता० ४.७
समासक्तं यदा चित्तं	मैत्रा० ४.४ (ङ)
समे शुचौ शर्करावह्नि०	श्वेता० २.१०
स य आकाशं	छान्दो० ७.१२.२
स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त	छन्दो० ७.१४.२
स य इच्छेत्पुत्रो मे	बृह० ६.४.१४
स य इदमविद्वान्	छान्दो० ५.२४.१
स य इमाꣳ स्त्रींल्लोकान्	बृह० ५.१४.६
स य एतदेवं	छान्दो० २.१.४
स य एतदेवममृतं..मरुता.	छान्दो० ३.९.३
स य एतदेवममृतं...रुद्रा.	छान्दो० ३.७.३
स य एतदेवममृतं..वसूना.	छान्दो० ३.६.३
स य एतदेवं विद्वान्	छान्दो० १.४.५
स य एतदेवममृतं वेदादि.	छान्दो० ३.८.३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स य एतदेवममृतं...साध्या	छान्दो० ३.१०.३
स य एतमेवं....आयतन०	छान्दो० ४.८.४
स य एतमेवं...ज्योति०	छान्दो० ४.७.४
स य एतमेवं विद्वाꣳ	छान्दो० ४.५.३
स य एतमेवं विद्वान	छान्दो० ३.१९.४
स य एतमेवं विद्वानु०	छान्दो० ४.१२.२
स य एतमेवं विद्वानु०	छान्दो० ४.११.२
स य एतमेवं...विद्वानु०	छान्दो० ४.१३.२
स य एतमेवं...श्रतु०	छान्दो० ४.६.४
स य एवमेतत्	छान्दो० २.२१.२
स य एवमेतद्गायत्रं	छान्दो० २.११.२
स य एवमेतद्बृहदादित्ये	छान्दो० २.१४.२
स य एवमेतद्यज्ञाय	छान्दो० २.१९.२
स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ	छान्दो० २.१२.२
स य एवमेतद्राजनम्	छान्दो० २.२०.२
स य एवमेतद्वामदेव्यम्	छान्दो० २.१३.२
स य एवमेतद्वैराजमृतुषु	छान्दो० २.१६.२
स य एवमेतद्वैरूपम्	छान्दो० २.१५.२
स य एवमेताः	छान्दो० २.१७.२
स य एवमेता रेवत्यः	छान्दो० २.१८.२
स य एवंवित्	तैत्ति० ३.१०.५
स य एषोऽणिमैतदा०	छान्दो० ६.८.७, ९,४,१०.३, १२.३, १३.३, १४.३, १५.३
स य एषोऽन्तर्हृदय	तैत्ति० १.६.१
स यः कामयेत	बृह० ६.३.१
स यत्रायमणिमानं न्येति	बृह०४.३.३६
स यत्रायमात्माऽबल्यं	बृह० ४.४.१
स यत्रैतत्स्वप्न्यया	बृह० २.१.१८
स यथा तत्र नादाह्येत्	छान्दो० ६.१६.३
स यथा दुन्दुभेर्हन्यमा०	बृह० २.४.७
स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य	बृह० ४.५.८
स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य	बृह० ४.५.११
स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्	बृह० २.४.१०
स यथावीणायै वाद्य०	बृह० ४.५.१०
स यथा वीणायै वाद्यमानायै	बृह० २.४.९
स यथा शकुनिः	छान्दो० ६.८.२
स यथा शङ्खस्य	बृह० ४.५.९
स यथा शङ्खस्यध्माय०	बृह० २.४.८
स यथा सर्वासामपा ꣳ	बृह० २.४.११
स यथा सर्वासामपा	बृह० ४.५.१२
स यथा सैन्धवखिल्य	बृह० २.४.१२
स यथा सैन्धवघनो०	बृह० ४.५.१३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स यथा सोम्य	प्रश्न० ४.७
स यथेमा नद्यः	प्रश्न० ६.५
स यथोभयपाद०	छान्दो० ४.१६.५
स यथोर्णनाभि०	बृह० २.१.२०
स यदवोचं प्राणम्	छान्दो० ३.१५.४
स यदशिशिषति	छान्दो० ३.१७.१
स यदा तेजसाभिभूतो	प्रश्न० ४.६
स यदि पितरं	छान्दो० ७.१५.२
स यदि पितृलोककामो	छान्दो० ८.२.१
स यद्येकमात्रमभिध्यायीत	प्रश्न० ५.३
स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.४.३
स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.११.२
स यः स्मरः ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.१३.२
स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.५.३
स यावदादित्यः	छान्दो० ३.६.४
स यामिच्छेत्कामयेत	बृह० ६.४.९
स यावदादित्य उत्तरत	छान्दो० ३.१०.४
स यावदादित्य..द्विस्ता	छान्दो० ३.७.४
स यावदादित्यः पश्चादु०	छान्दो० ३.९.४
स यावदादित्यो दक्षिणत	छान्दो० ३.८.४
स योध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.६.२
स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.१.५
स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.९.२
स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त	छान्दो० ७.१०.२
स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.८.२
स यो मनुष्याणाः	बृह० ४.३.३३
स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.३.२
स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.२.२
स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.७.२
स यो ह वै तत्परमं	मुण्ड० ३.२.९
सर्वकर्मा सर्वकामः	छान्दो० ३.१४.४
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य	ना०बि० ४१
सर्वज्ञो भवतु क्षिप्रम्	शु०र० ८
सर्वतः पाणिपादम्	श्वेता० ३.१६
सर्वं ह्येतद्ब्रह्मा	माण्डू० २
सर्वं खल्विदं..किंचन	निरा० ९
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	छान्दो० ३.१४.१
सर्वं चेदं क्षयिष्णु	मैत्रा० १.४
सर्वव्यापिनमात्मानं	श्वेता० १.१६
सर्वा जीवे सर्व संस्थे	श्वेता० १.६
सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च	श्वेता० ५.४
सर्वाननशिरोग्रीवः	श्वेता० ३.११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सर्वास्वप्सु पञ्चविध	छान्दो० २.४.१
सर्वे तत्र लयम्	ना०बि० ५१
सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	श्वेता० ३.१७
सर्वे वेदा यत्पदं	कठ० १.२.१५
सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः	छान्दो० २.२२.३
सर्वे स्वरा घोषवन्तो	छान्दो० २.२२.५
सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो	बृह० ४.३.३२
स वा अयं पुरुषो जायमानः	बृह० ४.३.८
स वा अयमात्मा ब्रह्म	बृह० ४.४.५
स वा अयमात्मा सर्वेषाम्	बृह० २.५.१५
स वा ..आत्माऽन्नादो	बृह० ४.४.२४
स वा ..आत्मा योऽयं	बृह० ४.४.२२
स वा एष आत्मा	छान्दो० ८.३.३
स वा एष आत्मेत्यदो	मैत्रा० २.१०
स वा एष एतस्मिन्बुद्ध	बृह० ४.३.१७
स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते	बृह० ४.३.३४
स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने	बृह० ४.३.१६
स वा एष महानज	बृह० ४.४.२५
स वा एष शुद्धः	मैत्रा० २.११
स वा एष.. संप्रसादे	बृह० ४.३.१५
स वा एषं सूक्ष्मो	मैत्रा० २.५
सवित्रा प्रसवेन जुवेत	श्वेता० २.७
स विश्वकृद्विश्वविदात्म.	श्वेता० ६.१६
स वृक्षकालाकृतिभिः	श्वेता० ६.६
स वेदैतत्परमं	मुण्ड० ३.२.१
स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी	बृह० १.४.३
स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा	बृह० १.३.१२
सव्याहृतिं सप्रणवाम्	अमृ० ११
सशब्दश्चाक्षरे	ना०बि० ४९
स समित्पाणि..तद्य	छान्दो० ८.१०.३
स समित्पाणिः ....पुनरेयाय	छान्दो० ८.९.२
स समित्पाणिः.. नाह	छान्दो० ८.११.२
स सर्ववेत्ता भुवनस्य	एका० ९
स सविता सावित्र्या	गाय० ४.२
स ह क्षत्ताऽन्विष्य	छान्दो० ४.१.७
स ह खादित्वा	छान्दो० १.१०.५
स ह गौतमो राज्ञो०	छान्दो० ५.३.६
स ह द्वादशवर्ष	छान्दो० ६.१.२
सह नौ यशः	तैत्ति० १.३.१
स ह पञ्चदशाहानि	छान्दो० ६.७.२
स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे	बृह० ६.४.२
स ह प्रातः संजिहान	छान्दो० १.१०.६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स ह मैत्रेयः प्रातः	गाय० २.४
स ह मैत्रेयः स्वानन्तेवासीन	गाय० २.३
स ह मौद्गल्यः	गाय० २.१
स ह व्याधिना	छान्दो० ४.१०.३
स ह शिलकः	छान्दो० १.८.३
स ह संपादयां चकार	छान्दो० ५.११.३
सहस्रशीर्षा पुरुषः	श्वेता० ३.१४
सहस्रार्णमती	ना०बि० ५
सह हारिद्रुमतम्	छान्दो० ४.४.३
स हाशाथ हैनमुपससाद	छान्दो० ६.७.४
स हेभ्यं कुल्माषान्	छान्दो० १.१०.२
स होवाच ... आकाश एव	बृह० ३.८.७
स होवाच...आकाशे तदोतं	बृह० ३.८.४
स होवाच ... ईश्वर इति च	निरा० ४
स होवाच ... एवायमग्नौ	बृह० २.१.७
स होवाच...एवायं छायामयः	बृह० २.१.१२
स होवाच ... एवायमप्सु	बृह० २.१.८
स होवाच ...एवायमाकाशे	बृह० २.१.५
स होवाच...एवायमात्मनि	बृह० २.१.१३
स होवाच... एवायमादर्शे	बृह० २.१.९
स होवाच...एवासावादित्ये	बृह० २.१.२
स होवाच किं मेऽन्नम्	छान्दो० ५.२.१
स होवाच किं मे वासो	छान्दो० ५.२.२
स होवाच ... चन्द्रे	बृह० २.१.३
स होवाच... तात जानीथा	बृह० ६.२.४
स होवाच ...दिक्षु	बृह० २.१.११
स होवाच दैवेषु वै	बृह० ६.२.६
स होवाच न वा अरे पत्युः	बृह० २.४.५
स होवाच ... पत्युः	बृह० ४.५.६
स होवाच पितरं	कठ० १.१.४
स होवाच प्रतिज्ञातो	बृह० ६.२.५
स होवाच भगवन्तं	छान्दो० १.११.२
स होवाच महात्मन	छान्दो० ४.३.६
स होवाच महिमान	बृह० ३.९.२
स होवाच यथा नस्त्वं	बृह० ६.२.८
स होवाच ... यन्तम्	बृह० २.१.१०
स होवाच याज्ञवल्क्यः	बृह० २.४.४
स होवाचर्ग्वेदं	छान्दो० ७.१.२
स होवाच वायुर्वै गौतम	बृह० ३.७.२
स होवाच ... वायौ	बृह० २.१.६
स होवाच विज्ञायते	बृह० ६.२.७
स होवाच ... विद्युति	बृह० २.१.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स होवाच ... वै खलु	बृह० ४.५.५
स होवाचात्र वा	गाय० २.५
स होवाचा... पुरुष	बृह० २.१.१६
स होवाचा...पुरुषस्तदेषां	बृह० २.१.१७
स होवाचाजातशत्रुः प्रति	बृह० २.१.१५
स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू	बृह० २.१.१४
स होवाचैतदेवात्रात्विषम्	गाय० २.६
स होवाचैतद्वै तदक्षरम्	बृह० ३.८.८
स होवाचोवाच वै सो	बृह० ३.३.२
स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो	बृह० ३.४.२
सा चेदस्मै दद्यात्	बृह० ६.४.८
सा चेदस्मै न	बृह० ६.४.७
सा ब्रह्मेति	केन० ४.१
सा भावयित्री	ऐत० २.१.३
साम प्राणो वै साम	बृह० ५.१३.३
सामवेदस्तथा	प्रण० ६
सामैश्चिदन्तो	एका० १०
सा वा एषा देवता	बृह० १.३.९
सा वा ... पाप्मानं मृत्युमपहत्य	बृह० १.३.१०
सा वा...मृत्युमपहत्या-	बृह० १.३.११
सा ह वागुच्चक्राम	छान्दो० ५.१.८
सा ह वागुवाच	बृह० ६.१.१४
सा हैनमुवाच नाहम्	छान्दो० ४.४.२
सा होवाच नमस्तेऽस्तु	बृह० ३.८.५
सा होवाच....नामृता	बृह० ४.५.४
सा होवाच ब्राह्मणा	बृह० ३.८.१२
सा होवाच मैत्रेयी यन्नु	बृह० २.४.२
सा होवाच मैत्रेयी येनाहम्	बृह० २.४.३
सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव	बृह० २.४.१३
सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा	बृह० ४.५.१४
सा होवाच यदूर्ध्वं	बृह० ३.८.३
सा होवाच...याज्ञवल्क्य	बृह० ३.८.६
सा होवाच...वित्तेन पूर्णाः	बृह० ४.५.३
सा होवाचाहं वै त्वा	बृह० ३.८.२
सिद्धासने स्थितो	ना०बि० ३१
सुकेशा च भारद्वाजः	प्रश्न० १.१
सुखदुःखबुद्ध्या	सर्व० ६
सुखमिति ... सुखम्	निरा० १५
सुवरित्यादित्ये मह	तैत्ति० १.६.२
सुषारथिरश्वानिव	शि०सं० ६
सुषुप्तस्थानः	माण्डू० ११
सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्	श्वेता० ४.१४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सूर्यमण्डलमाभाति	प्रण० ७
सूर्यो यथा	कठ० २.२.११
सेयं देवतैक्षत	छान्दो० ६.३.२
सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरी	बृह० ५.१४.४
सैषा चतुष्पदा	छान्दो० ३.१२.५
सोऽकामयत द्वितीयो	बृह० १.२.४
सोऽकामयत भूयसा	बृह० १.२.६
सोऽकामयत मेध्यम्	बृह० १.२.७
सोऽधस्ताच्छकटस्य	छान्दो० ४.१.८
सोऽपोऽभ्यतपत्	ऐत० १.३.२
सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी	बृह० १.४.२
सोऽब्रवीत्-पुरा	शु०र० ३
सोऽभिमानादूर्ध्वं	प्रश्न० २.४
सोऽयमात्माऽध्यक्षरं	माण्डू० ८
सोऽयास्य आङ्गिरसो	बृह० १.३.१९
सोऽवेदहं वाव सृष्टिः	बृह० १.४.५
सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति	बृह० ६.४.२३
सोऽस्यायमात्मा	ऐत० २.१.४
सोऽहं भगवो मन्त्रः	छान्दो० ७.१.३
सोहेयमीक्षांचक्रे	बृह० १.४.४
स्तेनो हिरण्यस्य	छान्दो० ५.१०.९
स्थाणुर्नित्यः सदानन्दः	सर्व० १९
स्थूलानि सूक्ष्माणि	श्वेता० ५.१२
स्मरो वावाकाशाद्भूयः	छान्दो० ७.१३.१
स्वतः पूर्णः परात्मात्र०	शु०र० ३४
स्वदेहमरणिम्	श्वेता० १.१४
स्वप्रस्थानस्तैजस०	माण्डू १०
स्वप्रस्थानोऽन्तः	माण्डू० ४
स्वप्नान्तं	कठ० २.१.४
स्वप्नान्त उच्चावचमीय०	बृह० ४.३.१३
स्वप्रकाशापरोक्ष	शु०र० ३७
स्वभावमेके कवयो	श्वेता० ६.१
स्वयोनावुपशान्तस्य	मैत्रा० ४.४ (ख)
स्वर्ग इति च सत्संसर्गः	निरा० १७
स्वर्गे लोके	कठ० १.१.१२
हन्त त इदं	कठ० २.२.६
हन्ता चेन्मन्यते	कठ० १.२.१९
हन्ताहमेतद्भगवतो	छान्दो० १.८.७
हꣳ स शुचिष-	कठ० २.२.२
हꣳ सस्ते पादं वक्तेति	छान्दो० ४.७.१
हस्तौ वै ग्रहः	बृह० ३.२.८
हिरण्मयी अरणी	बृह० ६.४.२२
हिरण्मयेन पात्रेण	ईश० १५
हिरण्मयेन पात्रेण	बृह० ५.१५.१
हिरण्मये परे	मुण्ड० २.२.९
हृदि ह्येष आत्मा	प्रश्न० ३.६
हृद्द्वारं वायुद्वारम्	अमृ० २७

****

॥ इति मन्त्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥